भारतेंदु-नाटकावली

—:*:—

प्रथम भाग

—:*:—

संपादक

व्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी०

प्रकाशक

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

[द्वितीय संस्करण] सं० २००८ [मूल्य ३)

मुद्रक—मुन्शी रमजान अली शाह
नेशनल प्रेस, इलाहाबाद
१ म० १९५१

समर्पण

पूज्य मातामहगोलोकवासी

भारतेंदुजी

के

अनुज

पूज्य मातामह स्वर्गीय

बाबू

गोकुलचंद जी को

(स्मृत्यर्थ)

सादर समर्पित

स्नेहपात्र

रेवतीरमणदास

(व्रजरत्नदास)

अनुवचन

भारतेंदुजी की रचनाओं में से उनके नाटक विशेष लोकप्रिय हुए हैं और उनके दो संस्करण भी प्राप्त हैं। बा० राधाकृष्ण दास जी ने इनके लिखे नाटकों की संख्या बीस बतलाई है और भारतेंदुजी ने स्वयं स्वरचित 'नाटक' की सन् १८८३ ई० की आवृत्ति में सोलह नाटकों का नाम स्वकृत लिखा है। इसके बाद के संस्करण में दुर्लभबंधु, प्रेमयोगिनी, जैसा काम वैसा परिणाम बढ़ाए गए हैं। प्रथम मौलिक नाटक 'प्रवास' नाम से लिखा जा रहा था पर उसका कुछ ही अंश लिखा गया और वह भी अप्राप्य है। इसके अनंतर—'शकुंतला के सिवा और सब नाटकों में रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढ़ने वालों को आनंद देने वाली है, इस हेतु मैंने पहिले इसी नाटिका का तर्जुमा किया है। यह नाटिका सुप्रसिद्ध कवि श्रीहर्ष कृत है।' पर इस नाटिका के अनुवाद की केवल प्रस्तावना तथा विषकंभक ही प्राप्त हैं। भूमिका से इस अनुवाद के पूर्ण होने की ध्वनि निकलती है पर यह अब इतना ही प्राप्त है। माधुरी इनके मित्र राव कृष्णदेवशरण सिंह की कृति है। नवमल्लिका, जैसा काम वैसा परिणाम तथा मृच्छकटिक अप्राप्त हैं, इससे उनके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। अतः इस संग्रह में भारतेंदुजी की सत्रह कृतियाँ संगृहीत हुई हैं जिनमें ६ अनूदित, ८ मौलिक तथा ३ अपूर्ण हैं।

इस संग्रह के दो भाग किए गए हैं, प्रथम में ऐसे नाटक संगृहीत हैं, जिनमें शृंगारिकता की मात्रा प्रायः नहीं सी है और

ये नाटक विद्यार्थियों के पठन-पाठन के उपयुक्त हैं। श्री चंद्रावली नाटिका का शृंगार विप्रलंभ है अतः उसके कक्षाओं में सहपठन-पाठन में कोई बाधा नहीं पड़ेगी। दूसरे यह कि समग्र नाटक एक ही जिल्द में प्रकाशित कर देने से वह बेडौल पोथा हो जाता। दूसरे भाग में बचे हुए नाटक, नाटक नामक निबंध, शब्दकोष, प्रतीकानुक्रम आदि सम्मिलित कर दिए जाएँगे। संस्कृत, फारसी, अँग्रेजी आदि भाषाओं के उद्धरणों के अर्थ भी दिए गए हैं और कथादि भी संक्षेप में दिए जाएँगे। भूमिका का विशेष प्रथम भाग ही में दिया गया है और दोनों भागों में संगृहीत नाटकों की आलोचना दोनों भाग के आरंभ में अलग अलग दे दी गई है। इस प्रकार यथाशक्ति इस संस्करण को उपादेय बनाने का प्रयत्न किया गया है और आशा है कि पाठकगण इससे लाभ उठाकर मुझे अनुगृहीत करेंगे।

काशी,
चैत्र शुक्ल ६
सं० १९८२

ब्रजरत्नदास

विषय-सूची

—:o:—



भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र

भूमिका

१—संस्कृत नाट्य-शास्त्र तथा नाटकों का संक्षिप्त इतिहास

नाटकों की व्युत्पत्ति के विषय में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में लिखा है कि त्रेता युग के आरंभ में देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर उनकी बहुत स्तुति की और प्रार्थना की कि वे मनोरंजन की कुछ ऐसी वस्तु का सृजन कर दें, जिससे नेत्र तथा कर्ण दोनों को साथ साथ आनंद प्राप्त हो। इस पर ब्रह्मा जी ने प्रसन्न होकर चारों वेदों से कुछ कुछ अंश लेकर नाट्यवेद की रचना की। यह अब प्राप्त नहीं है और यह अतीव प्राचीन काल के गाथाओं का संग्रह मात्र होता, जिसका केवल उल्लेख नाट्यशास्त्र में हुआ है। ऋग्वेद में दो तथा तीन व्यक्तियों के अनेक कथोपकथन आदि हैं तथा शृंगार किए हुए कुमारियों का नृत्य कर प्रेमियों को आकर्षित करने का उल्लेख है। सामवेद से ज्ञात होता है कि गानविद्या भी उस समय तक पूर्णता को प्राप्त हो चुकी थी और अथर्ववेद में वादन के साथ गायन तथा नृत्य का उल्लेख मिलता है। तात्पर्य यह कि वैदिक युग में नाटक ही के समान कुछ दृश्य दिखलाए जाते थे, जो अवश्य ही धार्मिक रूप में रहे होंगे। पौराणिक काल की रचनाओं में 'नट-नर्तका:' आदि शब्द मिलते हैं, तथा हरिवंश पुराण में रामायण के पात्रों को लेकर अभिनय करने का उल्लेख

है। पर नट शब्द का अभिनेता अर्थ न लेकर तथा हरिवंश का समय निश्चित न मानकर विद्वान् गण नाटक का अस्तित्व उस काल से नहीं लेते। साथ ही यूरोपीय विद्वान् पुराणों के कथा बाँचने को नाटक का पूर्व रूप मानते हैं पर इन पुराणों की कथाएँ प्राचीन काल से अब तक होती आ रही हैं, जिसमें व्यास जी श्लोकों को पढ़ते तथा अर्थ बतलाते हैं और सैकड़ों श्रोता ध्यान पूर्वक बैठकर, जिनमें बगुला भगत अधिक होते हैं, उसे सुनते हैं। नट शब्द से अभिनेता का अर्थ लेते हुए भी साधारणतः अब तक लोग नट से उस जाति के लोगों को समझते हैं, जो नगरों में कभी कभी ढोल बजाकर 'हाय पैसा हाय पैसा' गाते हुए रस्सियों पर नाचते हैं। इस प्रकार पौराणिक काल में भी वैदिक काल के नाटकों की विशेष उन्नति नहीं हुई मानी जाती है।

इस काल के अनंतर वैयाकरणी पाणिनि ने शिलालिन् तथा कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख किया है, जिसका समय तीसरी शताब्दि पूर्वेसा काल माना जाता है। इसके अनतर पतंजलि के महाभाष्य में, जिसका समय पाणिनि के डेढ़ सौ वर्ष बाद माना जाता है, कंसवध किया जाता है या बलि बंधन होता है ऐसे वाक्यों से नाटक के अस्तित्व का कुछ पता लगाया गया है। इसी प्रकार इस ग्रंथ का खूब अन्वेषण कर उक्त विद्वानों ने नाटक के सभी अंग प्रत्यंग का अनुसंधान पाकर निश्चय किया है कि उस समय तक नाटक अपने प्रारंभिक रूप में आ चुका था।

यद्यपि बौद्ध तथा जैन धार्मिक ग्रंथों से नाटक तथा अभिनय का पता चला है पर उन ग्रंथों का भी समय निश्चित नहीं है, ऐसा कहकर नाट्य कला को पूर्वोक्त समय से प्राचीनतर नहीं कहना निश्चित हो गया है। अस्तु, इस काल-निर्णय से एक बात निश्चित रूप से कही जाने लगी कि ग्रीक नाट्यकला का प्रभाव भारत की नाट्यकला पर अवश्य पड़ा है। यह प्रभाव कहाँ तक पड़ा है इस पर यूरोपीय विद्वानों में विशेष तर्क वितर्क हुआ है और अंत में निश्चय हुआ कि दोनों में साम्य अधिक है तथा

भारतीयों में यह गुण भी है कि दूसरों की वस्तु वे इस प्रकार ले लेते हैं कि पता नहीं चलता। अस्तु, भरतमुनि का नाट्यशास्त्र प्रथम ग्रंथ है, जिसमें नाट्यकला के विषय का पूरा ज्ञान भरा हुआ है। रंगस्थल के निर्माण, दृश्य-पर्दा तथा अभिनेताओं के वेश-भूषा, मंगल-पूजन तथा गान, गायन-वादन तथा भावप्रदर्शन आदि सबका पूर्ण रूप से विवेचन किया गया है। रूपकों के भेद आदि इतने विस्तार से लिखे गए हैं कि यह ज्ञात होता है कि लेखकों के सामने अच्छा नाटकीय-साहित्य मौजूद था, जो अब लुप्त हो गया है। इस ग्रंथ का निर्माण-काल भी संदिग्ध है पर यह ग्रंथ अवश्य ही कालिदास के पूर्व भास के समय में तैयार हुआ होगा। अग्निपुराण में भी नाट्यकला पर कई स्कंध लिखा मिलता है पर उसका भी समय निश्चित नहीं है।

नाट्य-शास्त्र के अनंतर धनंजय कृत दशरूप और धनिक कृत उसी ग्रंथ की व्याख्या अवलोक का समय आता है, जो दशवीं शताब्दी की कृतियाँ हैं। इसमें रूपक के दश भेदों का वर्णन है इसलिए इसका इस प्रकार नामकरण हुआ है। यह नाट्य-शास्त्र के आधार ही पर लिखा गया है पर बहुत कुछ संक्षेप कर बोधगम्य कर दिया गया है। इसके अनंतर चौदहवीं शताब्दि विक्रमाब्द के मध्य में विद्यानाथ ने प्रतापरुद्रीय तथा विद्याधर ने एकावली लिखा। प्रतापरुद्रीय में नाटक तथा काव्य दोनों पर संक्षेप में लिखा गया है और वह विशेष महत्व का नहीं है। एकावली इससे अधिक महत्व की तथा उपयोगी बनी। इसी शताब्दी में शिंग भूपाल ने रसार्णवसुधाकर की रचना की थी। इस शताब्दि के प्राय: अंत में विश्वनाथ कविराज हुए, जिन्होंने साहित्य दर्पण की रचना की है। यह ग्रंथ समग्र काव्य शास्त्र पर है और इसके कई परिच्छेदों में नाट्य-शास्त्र के नियम आदि भी दिए गए हैं। यह ग्रंथ बहुत उपयोगी हुआ है और इसी से इसका प्रचार भी काफी है। इसके बाद रूप गोस्वामी की नाटक चंद्रिका, सुन्दर मिश्र का काव्य प्रदीप आदि कई ग्रंथ लिखे गए, पर वे विशेष महत्व के नहीं हुए।

यहाँ तक नाट्य-शास्त्र पर विचार किया गया, अब नाटकों पर दृष्टि देना चाहिए क्योंकि इतने छोटे निबंध में विशेष विवरण नहीं दिया जा सकता।* अभी कुछ ही दिन हुए कि कालिदास के पहिले के नाटककारों का पता नहीं था पर अब अश्वघोष, भास आदि का पता चला है। सुवर्णाक्षी के पुत्र अश्वघोष के एक नाटक शारद्वती-पुत्र प्रकरण का कुछ अंश दो अन्य नाटकों के अंशों के साथ तालपत्रों पर लिखे प्राप्त हुए हैं, जो सभी बौद्ध कृतियाँ हैं। बुद्ध-चरित्रकार अश्वघोष सौभाग्य से बौद्ध था, इसलिए उसकी प्राचीनता में विशेष संदेह की गुंजाइश नहीं रह सकी। इसने कई अन्य ग्रंथ भी लिखे हैं और इसके नाटक इतने शास्त्र-सम्मत तथा पूर्ण हैं कि यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि इसके समय के पहिले अवश्य ही बहुत से नाटक रहे होंगे, जिन्हें आदर्श रूप रखकर ही ये तैयार हो सके हैं। शारी-पुत्र प्रकरण के साथ जो दो नाटकों के अंश मिले हैं, उनके रचयिता के नाम नहीं ज्ञात हुए हैं पर अधिकतर संभव है कि वे अश्वघोष की ही रचनाएँ हों।

अश्वघोष के अनंतर भास का नाम आता है, जिसके तेरह नाटक बीसवीं शताब्दि ईसवी के आरंभ में मिले हैं। दूत-घटोत्कच, उरु-भंग, कर्णभार, दूतवाक्य, मध्यम व्यायोग, बाल चरित, पंचरात्रि, प्रतिमा नाटक, अभिषेक, अविमारक, प्रतिज्ञायौगंधरायण, स्वप्नवासवदत्ता और चारुदत्त ये तेरह नाटक हैं। इनमें प्रथम सात का महाभारत, दो का रामायण तथा अन्य का कथा-वस्तु कथा-सरित्सागर से लिया गया है। भास का समय ईसवी तृतीय शताब्दि माना जाता है। भास का चारुदत्त नाटक अपूर्ण है और इसके केवल चार अंक प्राप्त हैं। शूद्रक के मृच्छकटिक के प्रथम चार अंक इससे बहुत मिलते हैं। आगे का अंश मिलता नहीं। शूद्रक ने राजनीति तथा प्रेम के षड्यंत्रों का सफलतापूर्वक सम्मिलन करा दिया है और यही उसकी विशेषता है। इसका समय भास और कालिदास के बीच में है। शूद्रक नाम वास्तविक है या नहीं इसमें संदेह ही है।

---

* इसके संबंध में संपादक कृत 'हिंदी नाट्य साहित्य' पुस्तक देखिए।

महाकवि कालिदास का समय तृतीय गुप्त-सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का समय माना जाता है, जिसने सन् ४१३ ई० तक राज्य किया था। इन्होंने मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञान शाकुंतल तीन नाटक लिखे हैं। इनके तथा इन नाटकों और मुख्यतः शाकुंतल के विषय में इतना ही कहना अलम् है कि संस्कृत साहित्य के इतिहास में ये अद्वितीय हैं। कालिदास के बाद श्रीहर्ष का समय आता है, जिन्होंने तीन नाटक रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानंद लिखे हैं। श्रीहर्ष स्थाण्वीश्वर का राजा था और इसका राज्यकाल सन् ६०६ ई० से ६४८ ई० तक है। इसी के दरबार में सुप्रसिद्ध साहित्यकार बाणभट्ट रहते थे। इन्हीं श्रीहर्ष के समय के आसपास या समकालीन ही चंद्रक तथा महेन्द्र विक्रमवर्मा दो अन्य नाटककार हुए हैं। महेन्द्र विक्रम काँची का राजा था और इसका प्रहसन मत्तविलास प्राप्त है। मुद्राराक्षस के रचयिता विशाख दत्त का समय विशिष्ट रूप से चंद्रगुप्त द्वितीय का ही माना जाना चाहिए पर अभी यूरोपीय विद्वान् नवीं शताब्दि तक उन्हें खींच लाने में नहीं हिचकते। इनके एक अन्य नाटक देवी चंद्रगुप्तम् का भी पता लगा है, जो गुप्त-सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय के चरित्र पर निर्मित है।

संस्कृत साहित्य के अद्वितीय नहीं तो द्वितीय नाटककार भवभूति का समय अब आता है, जिनके तीन नाटक मालती-माधव, उत्तररामचरित तथा महावीरचरित प्राप्त और प्रसिद्ध हैं। भवभूति सातवीं शताब्दि ईसवी के अंत में हुए थे। भट्ट-नारायण का समय सातवीं शताब्दि अनुमान किया जाता है और इन्होंने वेणीसंहार नाटक लिखा है। आठवीं शताब्दि के कुछ नाटककारों के नाम मिलते हैं, जिनकी रचनाओं के कुछ अंश लक्षण ग्रंथों में मिल जाते हैं। कान्यकुब्जेश्वर यशोवर्मा के एक नाटक रामाभ्युदय का पता चलता है पर वह अप्राप्त है और शिव स्वामी के कई नाटकों का पता चलता है पर मिले एक भी नहीं हैं। तापस वत्सराज के लेखक अनंगहर्ष मात्रराज का समय भी निश्चित नहीं है। मायुराज का उदात्तराघव अप्राप्त है। इस काल के अन्य दो नाटक पार्वती-परिणय और मल्लिकामारुत,

बाणभट्ट तथा दंडी कृत माने जाते थे पर वे वास्तव में क्रमशः वामनभट्ट बाण तथा उद्दडिन् कृत हैं। धनिक ने दशरूप की कारिका में रामाभ्युदय के सिवा छलितराम, पाँडवानंद तथा दो तीन प्रकरण आदि का उल्लेख किया है। मुरारि के अनर्घराघव का समय नवीं शताब्दि माना जाता है। यहीं काल राजशेखर का है, जिसने कर्पूरमंजरी बालरामायण, विद्धशालभंजिका और बालभारत चार नाटक लिखे है। राजशेखर ने अपने समकालीन नाटककार भीमट के पाँच नाटकों का उल्लेख किया है। इसी काल में क्षेमीश्वर हुए जिनका चंडकौशिक प्रसिद्ध है। इनका दूसरा नाटक नैषधानंद है। इसके अनंतर ग्यारहवीं शताब्दि से अबतक के जो नाटक मिलते हैं, उनमें कृष्णमिश्र का प्रबोध चंद्रोदय, जयदेव का प्रसन्न राघव, रविवर्मा का प्रद्युम्नाभ्युदय, रूप गोस्वामी का विदग्धमाधव तथा ललित माधव, शेष कृष्ण का कंसवध, रामवर्मा का रुक्मिणी-परिणय आदि उल्लेखनीय हैं। इनके सिवा प्रकरण, व्यायोग आदि छोटे छोटे रूपक बहुत से लिखे गए पर उन सबका नाम भी उल्लेख करने का यहाँ स्थानाभाव है।

प्राचीन-परंपरा-भीरु भारत ने अनेक शताब्दियों से प्रचलित भाषाओं में नाटक न लिखकर संस्कृत ही में लिखने का जो अप्राकृतिक प्रयास किया था उसी कारण नाटक का प्रायः ह्रास सा रहा। मुसल्मानी राज्य होने पर उनसे संस्कृत को सहायता मिली ही नहीं, क्योंकि वह जनसाधारण की भाषा न होकर धर्म की भाषा समझी जाती थी। संस्कृत ग्रंथों के फारसी अनुवाद किए जाने का प्रयास कुछ कुछ हुआ था पर संस्कृत के ग्रंथ-प्रणयन की ओर दृष्टि नहीं देना ही सहज स्वाभाविक था इसलिए संस्कृत नाट्य-रचनाकाल प्रायः सोलहवीं शताब्दि के अंत तक समझना चाहिए और हिंदी में नाटक रचना का आरंभ नाम मात्र के लिए उसी समय हो गया था पर वास्तव में इसका आरंभ भारतेंदुकाल से ही होता है।

२—हिंदी नाटक

संस्कृत नाटकों का जो इतिहास ऊपर लिखा गया है उससे ज्ञात होता है कि यह सिलसिला मुसल्मानी आक्रमणों के आरंभ होने पर प्राय: बंद सा हो गया। यद्यपि मुगल राजत्वकाल के रचित कुछ नाटक मिलते हैं और प्राय: वर्तमानकाल में एकाध अच्छे नाटक लिखे भी गए हैं पर वास्तव में वह शृंखला उसी समय से बंद ही सी है। नाटकों के लिए बोलचाल ही की भाषा अधिक उपयुक्त होती है और यही कारण है कि यह नाटक-शृंखला संस्कृत से व्रजभाषा, अवधी आदि में होती हुई वर्तमान खड़ी बोली तक नहीं चली आई है। बीच के काल में परंपरा की काव्य भाषा ही का जोर अधिक था और अच्छे साहित्य-सेवी खड़ी बोली की ओर झुके नहीं थे, इसी से नाटकों की रचना नहीं हो सकी।

सं० १६८० वि० में संस्कृत हनुमन्नाटक का भाषानुवाद कृष्णदास के पुत्र हृदयराम ने समाप्त किया था। हिंदी में नाटक शब्द-संयुक्त यही पुस्तक सबसे प्राचीन ज्ञात होती है। इसके अनन्तर सुकवि नेवाज कृत शकुन्तला नाटक मिलता है, जो फर्रुखसियर के समय में सं० १७८० वि० के लगभग तैयार हुआ था। इसके अनन्तर कवि देवकृत देवमाया प्रपच नाटक बना। सं० १८१६ में व्रजवासीदास ने प्रबोध चंद्रोदय-नाटक का भाषानुवाद किया। ये सब केवल इसीलिए नाटक कहे जाते हैं कि इनके नाम के साथ नाटक शब्द जुड़ा हुआ है। वास्तव में ये काव्य ही है। वेदांत विषयक भाषा ग्रंथ समयसार नामक एक इसी कोटि के नाटक का भारतेन्दु जी ने उल्लेख किया है। रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथसिंह कृत आनन्द रघुनन्दन नाटक, काशिराज की आज्ञा से निर्मित प्रभावती नाटक तथा उसी राजवंश के आश्रित गणेश कवि कृत प्रद्युम्न-विजय नाटक यद्यपि नाटक रीति से बने हैं, पर ये भी छंदमय ग्रंथ हैं। भारतेन्दु जी के

पिता महाकवि गिरधरदास जी कृत नहुष नाटक का जो प्रथमांक प्राप्त है; उसको देखने से ज्ञात होता है कि यह नाटक की सम्यक् रीति से बना है तथा गद्य-पद्य मिश्रित है। संस्कृत नाटकों की प्रथा पर इनमें भी कविता की प्रचुरता है और यह व्रजभाषा ही में लिखा हुआ है। इस कारण यह खड़ी बोली हिंदी का प्रथम नाटक नहीं कहला सकता। इसके आगे व्रजभाषा में नाठक नहीं लिखे गए और खड़ी बोली ही को इसके लिए उपयुक्त समझा गया। हाँ, नाटकों में जो कविता दी जाती थी, उसके लिए व्रजभाषा का प्रयोग कुछ दिनों तक होता रहा था।

राजा लक्ष्मणसिंह का शकुंतला का गद्यानुवाद सन् १८६३ ई० में पहिली बार छपा, जिसके प्राय: पच्चीस वर्ष बाद उसका गद्य-पद्य-मय संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ था। यह अनुवाद बहुत ही सुंदर बन पड़ा है। इसके अनन्तर भारतेन्दु जी के नाटकों ही से खड़ी बोली हिंदी में नाटक-रचना का आरभ होता है। इन्होंने मौलिक नाटकों के सिवा कई नाटकों का अनुवाद भी किया था और कुछ दूसरे नाटकों के आधार पर लिखे थे। चंद्रावली, अंधेरनगरी, प्रेमयोगिनी (अधूरा), विषस्य विषमौषधम्, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, भारतदुर्दशा, नीलदेवी और सती प्रताप (अपूर्ण) इनके मौलिक नाटक हैं। विद्यासुन्दर तथा सत्यहरिश्चन्द्र अनुवाद नहीं हैं पर वे अन्य नाटकों के आधार पर लिखे गए हैं। मुद्राराक्षस, कर्पूरमंजरी, धनंजय विजय तथा पाखंड विडंबन संस्कृत से अनूदित हुए हैं और दुर्लभबंधु अंग्रेजी से। ये सभी नाटक भाषा, भाव, नाट्यकला आदि सभी दृष्टि से अच्छे बन पड़े हैं। इनमें कई सफलतापूर्वक खेले भी जा चुके हैं। भारत-जननी इनका एक अनूदित नाटक है। इनके नाटकों के विषय में अलग विस्तार से लिखा गया है।

भारतेन्दुजी की इस नाटक-रचना में उनके कई मित्रों तथा समकालीन सज्जनों ने सहयोग किया है। लाला श्रीनिवासदास ने प्रह्लाद, रणधीर-प्रेममोहिनी, संयोगता स्वयंबर तथा तप्ता संवरण, पं० बद्री नारायण चौधरी

'प्रेमघन' ने भारत सौभाग्य, वारांगना रहस्य, प्रयाग रामागमन तथा वृद्ध विलाप ; पं० मथुराप्रसाद चौधरी ने साहसेंद्र-साहस (मैकबेथ का अनुवाद); पं० प्रतापनारायण मिश्र ने कलिकौतुक रूपक, कलिप्रभाव, हठी हमीर तथा जुआरी खुआरी ; राव कृष्णदेव शरणसिंह 'गोप' ने माधुरी ; बा० तोताराम ने केटोकृतांत ; पं० केशवराम भट्ट ने उर्दू मिश्रित शमशाद सौसन तथा सज्जाद सुंबुल ; पं० अम्बिकादत्त व्यास ने ललिता नाटिका, गोसंकट, देवपुरुष दृश्य, मरहट्टा तथा भारत सौभाग्य ; श्रमानसिंह गोटिया ने मदनमंजरी और बा० राधाकृष्णदास ने दुःखिनी बाला, पद्मावती तथा प्रताप नाटक लिखे। पं० बालकृष्ण भट्ट ने पद्मावती, शर्मिष्ठा तथा चंद्रसेन लिखा। पं० देवकी नन्दन त्रिपाठी ने जयनारसिंह की, होली, खगेश, चक्षुदान, कलियुगी विवाह, जनेऊ आदि प्रहसन लिखे। शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने जानकी मंगल तथा बा० बालेश्वर प्रसाद ने वेनिस का सौदागर लिखा।

भारतेन्दुजी की मृत्यु पर यह नाटक-रचना की परंपरा कुछ रुक रुक कर चलती रही। बंगला से अनुवाद करने की प्रथा निकली। बा० राम कृष्ण वर्मा ने कृष्ण कुमारी, पद्मावती तथा वीर नारी नाटकों का; बा० उदितनारायण लाल वकील ने सती नाटक तथा अश्रुमती का और पं० ब्रजनाथ ने 'एई की सभ्यता' का अनुवाद प्रकाशित कराया। पं० रविदत्त शुक्ल ने देवाक्षर चरित, पं० कमलाचरण मिश्र ने अद्भुत नाटक, कामभस्म नाटक आदि, देवीप्रसाद शर्मा ने बालविवाह, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने रुक्मिणी-परिणय नाटक, बा० ठाकुर-दयाल सिंह ने मृच्छ-कटिक तथा मर्चेंट आव वेनिस के अनुवाद किए। मझौली नरेश खड्गबहादुर मल्ल ने रसकुसुमायुध, कल्पवृक्ष, महारास, भारत आरत, भारत ललना तथा हरि-तालिक नाटक लिखा था। पं० गदाधर भट्ट मालवीय ने मृच्छकटिक तथा वेणी संहार का अनुवाद किया। इन्होंने मुद्राराक्षस का भी अनुवाद किया था पर भारतेन्दु जी के अनुवाद को सुनकर उसे यह कह कर प्रकाशित नहीं कराया कि अब इसकी आवश्यकता नहीं है। पं० राधाचरण गोस्वामी

ने सती चंद्रावली तथा श्रीदामा छोटे छोटे नाटक लिखे। पं० दामोदर शास्त्री ने रामलीला सातोकांड, बालखेल या ध्रुवचरित, राधामाधव तथा वेणी संहार लिखे। बा० कार्तिक प्रसाद ने ऊषाहरण नाटक लिखा था। बा० गोपालराम गहमरी ने बभ्रुवाहन, देश दशा, विद्याविनोद और चित्रांगदा का अनुवाद प्रकाशित किया। पं० किशोरी लाल गोस्वामी ने चौपट चपेट, नाट्यसम्भव, वर्षा की बहार तथा मयंकमंजरी महानाटक लिख डाला। पुरोहित गोपीनाथ ने शेक्सपिअर के तीन नाटकों का अनुवाद प्रेमलीला, वेनिस का व्यापारी और मनभावन नाम से छपवाया। किसी 'आर्या' नाम्नी लेखिका ने भी मर्चेंट आव वेनिस का अनुवाद किया था। सन् १६०० ई० के पहिले ही से लाला सीताराम बी० ए० 'भूप' ने संस्कृत के नाटकों तथा काव्यों के अनुवाद में हाथ लगा दिया था और अब तक नागानन्द, मृच्छकटिक, महावीर चरित, उत्तर रामचरित, मालती माधव, मालविकाग्नि मित्र आदि का अनुवाद कर चुके हैं। रायदेवीप्रसाद पूर्ण का चंद्रकला-भानुकुमार मौलिक नाटक है पर अभिनय की दृष्टि से बहुत बड़ा है।

बीसवीं शताब्दि के साथ साथ द्विजेन्द्रलालराय के वंगभाषा नाटकों का अनुवाद आरंभ हुआ है, जिससे केवल गद्य-मय नाटक लिखने की प्रथा चल निकली। पद्य के लिए दो चार गाने इतस्ततः दे दिए जाते थे। सामाजिक चित्रण अधिक होने लगा। बा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटक भी अनूदित हुए। बा० गिरीशचद्र घोष, क्षीरोदबाबू, बा० शिशिर कुमार घोष आदि अन्य प्रसिद्ध नाटककारों के भी कुछ नाटकों का अनुवाद हुआ। ऐसे अनुवादकों में पं० रूपनारायण पाण्डेय का नाम उल्लेखनीय है। सं० १६७० वि० में उत्तररामचरित का अनुवाद पं० सत्यनारायण कविरत्न ने प्रकाशित कराया और उसके तीन वर्ष बाद बा० कृष्णचंद्र जी का इसी का अनुवाद प्रकाशित हुआ। कविरत्न जी का मालतीमाधव का अनुवाद भी इसी समय निकला। ये अनुवाद अच्छे हुए हैं। सुप्रसिद्ध संस्कृत नाटककार भास के तेरह नाटक हाल ही में प्राप्त हुए हैं, जिनमें से एकाध के कई अनुवाद

निकल चुके हैं। बा० व्रजजीवनदास इन समग्र नाटकों का गद्य-पद्य मय अनुवाद कर रहे हैं, जिनमें तीन पंचरात्रि, मध्यम व्यायोग तथा प्रतिज्ञा यौगंध-रायण के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।

वर्तमान मौलिक नाटककारों में बा० जयशंकर प्रसाद जी का नाम पहिले लिया जाता है। अजातशत्रु, जन्मेजय का नाग यज्ञ, स्कंदगुप्त आदि ऐतिहासिक नाटक उल्लेखनीय हैं। इनमें तत्कालीन समाज के चित्र देने का अच्छा प्रयास है। इन नाटकों की भाषा कुछ अधिक गंभीर तथा क्लिष्ट हो गई है। पं० गोविंद-वल्लभपंत की वरमाला, पं० बद्रीनाथ भट्ट की दुर्गावती आदि अच्छे नाटक हैं।

३—नाटककार-परिचय

हिन्दी के सुप्रसिद्ध महाकवि बाबू गोपालचंद्र, उपनाम बाबू गिरधरदास जी के पुत्र आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता गोलोकवासी भारतेंदु हरिश्चंद्र जी ने निज 'उत्तरार्ध-भक्तमाल' में अपने वंश का परिचय निम्न-लिखित दोहों में दिया है—

वैश्य अग्र-कुल मैं प्रगट बालकृष्ण कुलपाल।
ता सुत गिरधर-चरन-रत वर गिरिधारी लाल॥
अमरचंद तिनके तनय फतेचंद ता नंद।
हरषचंद जिनके भये निज-कुल-सागर चंद॥
पूर्वजगण तिनके सुत गोपाल ससि, प्रगटित गिरधरदास।
कठिन करम गति मेटि जिन, कीनो भक्ति प्रकास॥
पारवती की कोख सों तिनसों प्रगट अमंद।
गोकुलचंद्राग्रज भयो भक्त-दास हरिचंद॥

पूर्वोक्त उद्धरण से यह ज्ञात हो जाता है कि इनके पूर्वजों में राय बालकृष्ण तक का ही ठीक-ठीक पता चलता है। सेठ बालकृष्ण के पूर्वजों का दिल्ली के मुगल सम्राट-वंश से विशेष सम्बन्ध था; पर उस शाही घराने के इतिहासों में इस वंश का कोई उल्लेख मुझे अभीतक नहीं मिला। जिस समय शाहजहाँ का द्वितीय पुत्र सुल्तान शुजाअ बंगाल का सूबेदार नियुक्त होकर राजमहल आया था उस समय इनका वंश भी उसी के साथ बंगाल चला आया। जब बंगाल के नवाबों की राजधानी राजमहल से उठ के मुर्शिदाबाद को चली गई तब यह वंश भी मुर्शिदाबाद में आ बसा। इन दोनों स्थानों में इनके पूर्वजों के विशाल महलों के खण्डहर अब तक वर्तमान हैं।

सेठ अमीनचंद

मुर्शिदाबाद में इस वंश की कई पीढ़ियों ने बड़े सुख से दिन व्यतीत किए थे। सेठ बालकृष्ण के पौत्र तथा गिरधारी लाल के पुत्र सेठ अमीनचंद के समय में बंगाल में अँग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था और उस प्रांत में उनका राजत्वकाल प्रारम्भ हो चुका था। यह भी अँग्रेजों के एक प्रधान सहायक थे और लगभग चालीस वर्ष से कलकत्ते में व्यापार कर रहे थे। आरम्भ में निज व्यापार को फैलाने में अँग्रेजों ने इनसे बहुत सहायता ली थी पर उसके जम जाने पर उन्होंने इन पर दोष लगा कर इन्हें अलग कर दिया। इसी समय बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला ने कलकत्ते पर चढ़ाई कर उसे लूट लिया और अमीनचंद का भी चार लाख रुपया नकद और सामान लुट गया। इनके घर द्वार जला दिए गए और इनके परिवार की कई स्त्रियाँ और पुरुष जल कर मर गए। अँग्रेजों ने अन्य प्रांतों से सहायता प्राप्त कर पलासी के युद्ध में नवाब को परास्त कर गद्दी से उतार दिया और उनके स्थान पर मीरजाफर को बैठाया। इस षड्यंत्र में अमीनचंद भी सम्मिलित थे पर उसके सफल होने पर पुरस्कार बाँटने के समय इनका नाम तक न लिया

गया, जिससे इन्हें इतना क्षोभ हुआ कि इस घटना के डेढ़ ही वर्ष के उपरान्त उनकी मृत्यु हो गई ।

फतेहचंद

सेठ अमीनचंद के पुत्र फतेहचंद जी इस घटना से अत्यन्त विरक्त होकर सं० १८१६ के लगभग काशी चले आए। काशी नगर के प्रसिद्ध सेठ बा० गोकुलचंद जी की कन्या से आपका विवाह हुआ । उनके कोई अन्य सन्तान न थी इससे यही उनके उत्तराधिकारी हुए । तत्कालीन सरकार में भी आपका बहुत सम्मान था । 'दवामी बंदोबस्त' के समय इन्होंने डंकन साहब की बहुत सहायता की थी, जिसके लिए उन्होंने इन्हे धन्यवाद दिया था। इनके बड़े भाई राय रत्नचंद बहादुर भी इनके आने के बाद काशी चले आए और राजसी ठाट के साथ रामकटोरे वाले बाग में रहने लगे । इनके पुत्र रामचंद तथा पौत्र गोपीचंद की मृत्यु इन्हीं के सामने हो गई थी इससे फतेहचंद के पुत्र बाबू हर्षचंद्र ही इनके भी उत्तराधिकारी हुए। फतेहचंद की मृत्यु सम्वत् १८६७ के लगभग हुई ।

हर्षचंद्र

बाबू हर्षचन्द्र काशी में काले हर्षचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध थे और इनका जनता तथा सरकार में बड़ा मान था। सं० १८९८ में पंसेरी के लिए जब गड़बड़ हुई थी तब बनारस के कमिश्नर गबिन्स साहब ने इन्हें सरपंच और बाबू जानकीदास तथा बाबू हरीदास को पंच माना था। काशी का बुढ़वा मंगल मेला बहुत प्रसिद्ध है। इसका आरम्भ भी इन्होंने ही किया था । पहले लोग वर्ष के अन्तिम मंगल को नाव से दुर्गा जी का दर्शन करने अस्सी तक जाते थे। बाद को इन नावों पर नाच होने लगा। तब काशीराज ने बा० हर्षचन्द्र के परामर्श से बुढ़वा मंगल को वर्तमान रूप दिया। यह काशी-नरेश के महाजन थे और इनका उस दरबार में बहुत सम्मान था । बिरादरी में भी इनका इतना मान था कि अनेक धनाढ्यों तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियों के रहते हुए भी

यह बिरादरी के चौधरी बनाये गए थे। यह गोस्वामी गिरधर जी के शिष्य थे। जिस समय श्री गिरधरजी मुकुंदराय को काशी लाए उस समय बरात आदि का सब प्रबंध इन्हीं ने किया था। इन्होंने अपने घर में भी श्री मदनमोहन जी की सेवा पधराई और इस मनोहर युगल मूर्ति की सेवा इस वंश में बड़े प्रेम से बहुत दिनों तक होती रही। इनके कन्याएँ हुई थीं पर पुत्र एक भी नहीं हुआ। अवस्था भी अधिक हो चली थी। एक दिन यह श्री गिरधर जी के पास उदास मुख बैठे हुए थे। इनकी उदासी का कारण पूछने पर लोगों ने वही कारण बतला दिया। महाराज ने कहा कि—"तुम जी छोटा मत करो। इसी वर्ष पुत्र होगा।" उसी वर्ष पौष कृष्ण १५ सं० १८९० को महाकवि गोपालचन्द्र का जन्म हुआ। श्री गिरधर जी की कृपा से जन्मलेने के कारण इन्होंने कविता में अपना उपनाम गिरधरदास रखा। हर्षचन्द्र जी सं० १९०१ में परलोक सिधारे।

गोपालचंद उपनाम गिरधरदास

पिता की मृत्यु के समय गोपालचंद जी की अवस्था ग्यारह वर्ष की थी। इन्होंने दो वर्ष बाद कुल प्रबंध अपने हाथ में ले लिया। इनका विवाह दिल्ली के शाहजादों के दीवान राय खिरोधर लाल की कन्या पार्वती देवी से संवत् १९०० में हुआ था। इस विवाह से इनके चार संतानें हुईं—मुकुंदी बीबी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, गोकुलचंद और गोविन्दी बीबी। प्रथम स्त्री की मृत्यु हो जाने पर इनका दूसरा विवाह सं० १९१४ में बाबू रामनारायण की कन्या मोहन बीबी से हुआ। यद्यपि इनसे दो संतानें हुईं पर दोनों ही बहुत थोड़ी अवस्था में मर गईं।

यद्यपि इनकी शिक्षा विशेष रूप से नहीं हुई थी परन्तु प्रतिभा पूर्ण होने से ये संस्कृत तथा हिन्दी के ऐसे कवि तथा विद्वान् हुए, कि बड़े बड़े पंडित भी इनका सम्मान करते थे। इनका चरित्र अत्यंत निर्मल था यहाँ तक कि गविन्स साहब इन्हें 'परकटा फरिश्ता' कहते थे। विद्याध्ययन तथा पुस्तक संचयन की इन्हें बड़ी रुचि थी। इनका बृहत सरस्वती भवन अलभ्य तथा

अमूल्य ग्रंथों का भंडार था। कवियों का यह बहुत आदर करते थे। इनके सभासदों में पंडित ईश्वरदास जी ईश्वर कवि, गोस्वामी दीनदयालगिरि, पंडित लक्ष्मीशंकरदास जी श्याम आदि प्रसिद्ध थे। साधु महात्माओं से भी इनको बड़ा प्रेम था; गणिकादास, रामकिंकरदास जी, तुलाराम जी और भगवानदास जी उस समय के प्रसिद्ध महात्मा थे। इनसे वह भगवत् सम्बन्धी चर्चा किया करते थे। इन्हें बचपन से ही भाँग का दुर्व्यसन लग गया था और इतनी गाढ़ी भाँग पीते थे, कि जिसमें सींक खड़ी हो जाती थी। अंत में इसी कारण इन्हें जलोदर रोग हो गया जिससे अनेक प्रकार की चिकित्सा होने पर भी कुछ फल न निकला और अंत में सम्वत् १९१७ की वैशाख सु० ७ को गोलोक सिधारे। पूज्यपाद भारतेन्दु जी के दोहों से इतना पता लगता है कि इन्होंने चालीस ग्रंथ लिखे थे परन्तु उन सब के नाम या अस्तित्व का पता नहीं चलता। दोहा यों है—

जिन श्रीगिरिधरदास कवि रचे ग्रंथ चालीस।
ता सुत श्री हरिचंद को, को न नवावै सीस॥

इनमें से प्राय: बीस रचनाएँ मिल गई हैं, जिनका विवरण देने के लिए एक अलग लेख की आवश्यकता होगी।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र

पुण्यतोया भागीरथी के तट पर स्थित पवित्र पुरी काशी में भाद्रपद शुक्ल ऋषि पंचमी सं० १९०७ (९ सितम्बर १८५० ई०) को सोमवार के दिन भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अवतीर्ण होकर हिन्दी साहित्य के गगनांगण को द्वितीया के चन्द्र के समान शोभायमान किया था। इनकी माता इन्हें पाँच वर्ष की अवस्था का और पिता दस वर्ष की अवस्था का छोड़कर परलोक सिधारे थे। शिक्षा इनकी बाल्यावस्था ही से आरम्भ हो गई थी और पं० ईश्वरी दत्त ही शुरू में इन्हें पढ़ाते थे। मौलवी ताज अली से कुछ उर्दू पढ़ी थी और अँग्रेजी की आरम्भिक शिक्षा तो

इन्हें पं० नंदकिशोर जी से प्राप्त हुई। कुछ दिन इन्होंने ठठेरी बाजार वाले महाजनी स्कूल में तथा कुछ दिन राजा शिवप्रसाद जी से शिक्षा प्राप्त की थी। इसी नाते यह उनको गुरुवर लिखते थे। पिता की मृत्यु पर यह क्वीन्स कालेज में भर्ती किए गए और समय पर वहाँ जाने भी लगे। इन्होंने पढ़ने में कभी भी मन नहीं लगाया पर प्रतिभा विलक्षण थी इसलिए पाठ एक बार सुनकर ही याद कर लेते थे और जिन परीक्षाओं में इन्होंने योग दिया उनमें यह उत्तीर्ण भी हो गए। छात्रावस्था में भी इन्हें कविता का शौक था और उस समय की इनकी प्रायः सभी रचनाएँ शृंगार रस की थीं। सं० १९२० के अगहन महीने में भारतेंदु जी का विवाह शिवाले के रईस लाला गुलाबराय की पुत्री श्रीमती मन्नोदेवी से बड़े समारोह के साथ हुआ था। इनके शिक्षा क्रम के टूटने का प्रधान कारण इनकी जगदीश यात्रा है जो घर की स्त्रियों के विशेष आग्रह से हुई थी। जगन्नाथ जी का दर्शन करते समय वहाँ सिंहासन पर भोग लगाने के समय भैरवमूर्ति का बैठाना देख कर भारतेंदु जी ने इसको अप्रमाणिक सिद्ध किया और अंत में वहाँ से भैरवमूर्ति हटवा ही कर छोड़ा। इसी पर किसी ने 'तहकीकात पुरी' लिखा, तब आपने उसके उत्तर में 'तहकीकात पुरी की तहकीकात' लिख डाला। जगदीश-यात्रा से लौटने पर 'संवत् सुभ उनईस सत बहुरि तेइसा मान' में यह बुलंदशहर गए। इसके बाद यह फिर यात्रा करने निकले और इस बार—

'प्रथम गए चरणाद्रि कान्हपुर को पग धारे।
बहुरि लखनऊ होइ सहारनपूर सिधारे॥
तहँ मनसूरी होइ जाइ हरिद्वार नहाए।
फेर गए लाहौर सुपुनि अम्बरसर आए॥
दिल्ली है ब्रज बसि आगरा देखत पहुँचे आय घर।
तैंतीस दिवस में यातरा यह कीन्ही हरिचंद बर॥

इसके छ वर्ष बाद सं० १९३८ में यह पहिले पुष्कर यात्रा करने गए और वहाँ से लौटने पर उसी वर्ष हिन्दी वर्द्धिनी सभा द्वारा निर्मंत्रित होकर फिर प्रयाग गए।

सं० १९३६ में भारतेन्दु जी ने सरयूपार की यात्रा की। सं० १९३९ वि० में भारतेन्दु जी उदयपुर गए। पत्थर के रोड़े, पहाड़, चुंगी, चौकी तथा ठगी का उस समय के मेवाड़ का आपने पंच-रत्न बताया है। "श्रीमान् यावदार्य कुल कमल दिवाकर" ने विदा में बाबू साहब को ५०० का खिलअत दिया। उक्त बाबू साहब ता० २४ दिसम्बर को उदयपुर से चित्तौड़ को रवाना हुए। सं० १८४१ वि० (नवम्बर सन् १८८४ ई०) में यह निमंत्रित होकर व्याख्यान देने के लिए बलिया गए थे। व्याख्यान के विज्ञापन में यह 'शाअर मारूफ बुलबुले हिन्दुस्तान' लिखे गए थे। बलिया इंस्टीट्यूट में ५ वीं नवम्बर को वहाँ के तत्कालीन कलक्टर के सभापतित्व में यह व्याख्यान बड़े समारोह से हुआ था। 'सत्यहरिश्चन्द्र' तथा 'नीलदेवी' का अभिनय भी हुआ था। इन स्थानों के सिवा आप डुमरॉव, पटना, कलकत्ता, प्रयाग, हरिहरक्षेत्र आदि स्थानों को भी प्राय: जाया करते थे।

आकृति, स्वभाव तथा शील

भारतेन्दु जी कद के लम्बे थे और शरीर से एकहरे थे, न अत्यंत कृश और न अत्यंत मोटे ही। आँख कुछ छोटी और धँसी हुई सी थी तथा नाक बहुत सुडौल थी। कान कुछ बड़े थे, जिन पर घुँघराले बालों की लटें लटकती रहती थीं। ऊँचा ललाट इनके भाग्य का द्योतक था। इनका रंग साँवलापन लिए हुए था। शरीर की कुल बनावट सुडौल थी। इनके इस शारीरिक सौंदर्य पूर्ण मूर्त्ति का इनसे मिलने वालों के हृदय पर उतना ही असर होता था, जितना इनके मानसिक सौंदर्य का। इनके समय के कई वृद्ध जन कहते हैं कि उस समय लोग इनको 'कलियुग का कन्हैया' कहा करते थे। भोजन में इनकी रुचि विशेषतः नमकीन वस्तुओं की ओर अधिक थी। मिष्ठान्न में भी सोंधी चीज ही इन्हें प्रिय थी। फलों

पर भी इनका विशेष प्रेम था। पान खाने का इन्हें व्यसन सा था। यह स्वभाव ही से अत्यंत कोमल हृदय के थे। किसी के कष्ट की कथा सुनकर ही उस पर इनकी सहानुभूति हो जाती थी चाहे वह वस्तुतः झूठी मक्कारी ही क्यों न हो। यह दुख सुख दोनों ही में प्रसन्न रहते थे और कभी क्रोध करते ही न थे। क्रोध आता भी था तो उसे शांति से दबा लेते, चाहे वह उस क्रोध के पात्र से भाषण भी न करें। यह स्वभाव से नम्र थे परन्तु किसी के अभिमान दिखलाने पर उसे सहन नहीं कर सकते थे।

भारतेन्दु जी सत्यप्रिय थे। वे स्वयम् जानते थे कि 'सत्यधर्म पालन हँसी खेल नहीं है' और सत्य पथ पर चलने वाले कितना कष्ट उठाते हैं ? इन्होंने इस व्रत को यथाशक्ति आजन्म निबाहा। यह स्वभावतः विनोदी थे। उर्दू शायरों की जिंदादिली (सजीवता) इनके नस नस में समाई थी। यह गम्भीर मुहर्रमी सूरत वाले नहीं थे और धन तथा घर के लोगों के कारण इन्हें जो कष्ट था वह इनके मुख पर नहीं झलकता था। यह सदा प्रसन्न चित्त और प्रेम मे मग्न रहते थे। गुणग्राहकता के भारतेन्दु जी स्वरूप ही थे। केवल कवियों के ही आश्रयदाता या कविता ही के गुणग्राहक नहीं थे प्रत्युत् प्रत्येक गुण या उत्तम वस्तु के ग्राहक थे। इनके पास कोई भी किसी प्रकार की उत्तम वस्तु लेकर आता तो वह विमुख होकर नहीं लौटता था। हिन्दी मातृमंदिर के साधारण से साधारण पुजारी का भी यह सम्मान करते थे, किसी अन्य विद्या या कौशल के पंडित का पूरा सत्कार करते थे, यहाँ तक कि अपव्ययी या फिजूलखर्ची कहला कर भी अच्छे वस्तु के विक्रेता को कोरा नहीं लौटाते थे। इसलिए लोगों ने कहा है—

सब सज्जन के मान को कारन इक हरिचन्द।

भारतेन्दु जी हिंदू-समाज के अंतर्गत् अग्रवाल वैश्य जाति के थे और इनका धर्म भी वल्लभीय वैष्णव सम्प्रदाय था। पुराने

समाज सुधार, विचारों की जड़ अँग्रेजी साम्राज्य के जम जाने तथा

देश सेवा यूरोपीय सभ्यता के फैलने से वहाँ की विचार धारा के संघर्ष से हिल चली थी। पुराने तथा नवीन विचार वाले दोनों पक्ष अपने-अपने हठ पर अड़े थे। एक पक्ष दूसरे को 'नास्तिक, किरिस्तान, भ्रष्ट' कह रहे थे तो दूसरे उन्हें 'कूपमण्डूक अंध विश्वासी' आदि की पदवी दे रहे थे। दोनों ही पक्ष वाले इनसे अपने-अपने पक्ष के समर्थन होने की आशा कर रहे थे पर ये सत्य के सच्चे भक्त थे और जो कुछ इन्होंने देश तथा समाज के लिए उचित समझा उसे निःसंकोच होकर कह डाला। यह वर्ण व्यवस्था मानते थे और वैष्णव धर्म के पक्के अनुगामी थे। साथ ही समाज के दोषों का निराकरण भी उचित समझते थे।

मातृ-भाषा भक्त भारतेन्दु जी के हृदय में देश-सेवा करने का उत्साह कम नहीं था और इन्होंने प्रायः साथ ही साथ दोनों कार्यों में हाथ लगा दिया था। जगन्नाथपुरी से लौटने पर देशोपकारक बाबू हरिश्चन्द्र ने पाश्चात्य शिक्षा का अभाव तथा उसकी आवश्यकता देखकर अपने गृह पर ही एक अँग्रेजी तथा हिन्दी की पाठशाला खोली। इस पाठशाला का पहिला नाम 'चौखम्भा स्कूल' था और इसका कुल व्यय भारतेन्दु जी स्वयम् चलाते थे। सन् १८८५ ई० में भारतेन्दु जी की मृत्यु के अनन्तर राजा शिव प्रसाद जी के प्रस्ताव तथा सभापति मि० एडम्स कलेक्टर साहब के अनुमोदन पर इसका नाम 'हरिश्चन्द्र स्कूल' रखा गया। अब यह हरिश्चन्द्र इंटरमीडिएट कॉलेज कहलाता है। 'निजभाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' मंत्र-को मानने वाले भारतेन्दु जी स्कूल खोलने के बाद ही से मातृ-भाषा की सेवा की ओर झुक पड़े। हिन्दी समाचार पत्रों की कमी देखकर 'कवि-वचन-सुधा,' 'हरिश्चन्द्र मैगजीन,' 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' तथा 'बाला-बोधिनी' आदि पत्र आपने अपने व्यय से निकाले और दूसरों को सहायता देकर अनेक पत्र प्रकाशित कराए। इन पत्रों से बराबर धन की हानि होती रही। हिन्दी में पुस्तकों का अभाव देखकर समयानुकूल पुस्तकों की रचना आरम्भ की और हिन्दुओं में हिन्दी के प्रति प्रेम कम देखकर उन्हें स्वयम् प्रकाशित कर बिना मूल्य वितरण करना

आरम्भ कर दिया। अन्य लोगों को भी हिन्दी ग्रन्थ-रचना का उत्साह दिलाकर बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित कराईं।

सं १९२७ में भारतेन्दु जी ने 'कविता-वर्द्धिनी-सभा' स्थापित की जो इनके घर पर या रामकटोरा बाग में हुआ करती थी। सरदार, सेवक, दीनदयालगिरि, मन्नालाल 'द्विज', दुर्गादत्त गौड़ 'दत्त', नारायण, हनुमान आदि अनेक प्रतिष्ठित कवि गण उस सभा में आते थे। व्यास गणेशराम को इसी सभा ने प्रशंसा पत्र दिया था। साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास को सुकवि की पदवी तथा प्रशंसापत्र इसी में दिया गया था। कवि-समाज भी होता रहता था और मुशायरा भी। सं० १९३० वि० में 'पेनीरीडिंग' क्लब स्थापित हुआ जिसमें अच्छे-अच्छे लेखकों के लेख पढ़े जाते थे। 'तदीय समाज' सं० १९३० वि० में स्थापित हुआ था जिसका उद्देश्य ही धर्म तथा ईश्वर-प्रेम था। गोवध रोकने के लिये इस समाज के उद्योग से साठ सहस्र हस्ताक्षर सहित एक प्रार्थना-पत्र दिल्ली दरबार के अवसर पर भेजा गया था। गोमहिमा आदि लेख लिख कर भी यह बराबर अन्दोलन मचाते रहे।

सं० १९२७ वि० में भारतेन्दु जी तथा इनके छोटे भाई में बँटवारा हो चुका था और ये अपने गृह के लोगों द्वारा "अपव्ययी" समझ लिये गए थे। भारतेन्दु जी सांसारिक झंझटों से दूर होकर मातृभाषा और देश की सेवा में निरत रहते थे। हिन्दी तथा देश के लिये तो इनका हृदय चिन्ता-दग्ध था ही, उस पर अपने ही लोगों की—जिनके लिए यह अपना तन-मन-धन अर्पण कर रहे थे उनकी उदासीनता भी इनका हृदय जर्जर कर रही थी। इसी आत्मक्षोभ का उद्गार सं० १७३२ वि० में निर्मित "सत्य-हरिश्चन्द्र" तथा "प्रेमयोगिनी" की भूमिका में अधिक प्रगट हुआ है। परन्तु ऐसे प्रसन्न चित्त विनोद प्रिय कवि के हृदय में यह आत्मक्षोभ अधिक

चिंता तथा मृत्यु

नहीं टिका। हाँ, इसका प्रभाव अवश्य बना रहा। धीरे धीरे भारतेन्दु जी का अर्थ-संकोच इतना बढ़ा कि जमा गायब हो गई और ऋण-बोझ ऊपर पड़ गया। एक-एक के दो लिखाने वालों ने जल्दी कर डिगरियाँ प्राप्त कर लीं और इनसे रुपये वसूल करने का उपाय करने लगे। इस प्रकार देश, समाज, तथा मातृभाषा आदि की उन्नति और अपनी कौटुम्बिक तथा ऋण आदि की चिन्ताओं से ग्रस्त होने के कारण इनका शरीर जर्जर हो रहा था। इसी समय मेवाड़पति महाराणा सज्जनसिंह के आग्रह तथा श्रीनाथ जी के दर्शन की लालसा से सन् १८८२ ई० में यह उदयपुर गये। इतनी लम्बी यात्रा के प्रयास को इनका जीर्ण-शीर्ण शरीर न सह सका। यह बीमार पड़ गए और श्वास, खाँसी तथा ज्वर तीनों प्रबल हो उठे। यों ही प्राणभय उपस्थित था, उसपर एकाएक एक दिन हैजा का इनपर कड़ा आक्रमण हुआ। यहाँ तक कि कुल शरीर ऐंठने लगा पर अभी आयुष्य थी, इससे बच गए।

अभी यह पूर्णतया स्वस्थ नहीं हुए थे कि शरीर की चिंता छोड़कर अपने लिखने-पढ़ने आदि के कार्यों में लग गए। दवा भी कौन करता है? जब रोग प्रबल थे तब सभी को चिंता थी। रोग निर्बल होते ही अन्य सांसारिक विचारादि प्रबल हो गये। अस्तु, रोग इस प्रकार दब गए थे, पर जड़मूल से नष्ट नहीं हुए थे। रोग दिन-दिन अधिक होता गया, महीनों में अच्छा हुआ। लोगों ने ईश्वर को धन्यवाद दिया। यद्यपि देखने में कुछ दिन तक रोग मालूम न पड़ा पर भीतर रोग बना रहा और जड़ से नहीं गया। बीच में दो एक बार उभड़ आया था, पर शांत हो गया था। इधर दो महीने से फिर श्वास चलता था. कभी-कभी ज्वर का आवेश भी हो जाता था। औषधि होती रही, शरीर कृशित तो हो चला था पर ऐसा नहीं था कि जिससे किसी काम में हानि होती, श्वास अधिक हो चला, क्षयी के चिन्ह पैदा हुए। एकाएक दूसरी जनवरी से बीमारी बढ़ने लगी। दवा इलाज सब कुछ होता था पर रोग बढ़ता ही जाता था। माघ कृष्ण ६ सं० १९४१ वि०

(६ जनवरी सन् १८८५ ई०) को आपका देहावसान हो गया। आपकी अवस्था उस समय चौंतीस वर्ष ३ महीने २७ दिन की थी।

संताने

भारतेन्दु जी के एक पुत्री और दो पुत्र हुए परन्तु दोनों पुत्र शैशवावस्था में ही जाते रहे। पुत्री का विवाह सं० १९३७ वि० के वैशाख मास (सन् १८८० की मई) में गोलोकवासी बुलाकीदास जी सोने वाले के भाई बा० देवीप्रसाद जी के पुत्र स्वर्गीय बाबू बलदेवदास जी से भारतेन्दु जी ने स्वयम् किया था। इनका नाम श्रीमती विद्यावती जी था। इनके पाँच पुत्र तथा तीन पुत्रियाँ हुई थीं। एक पुत्री विवाह योग्य होकर तथा दो शैशवावस्था ही में काल कवलित हो गईं। पुत्रों में तीन वर्तमान हैं।

आलोचना

नाटकों के सिवा उनकी अन्य रचनाओं के विषय में स्थानाभाव से यहाँ विशेष नहीं लिखा जा सकता; पर संक्षेप में काव्य, भाषा, पद्य आदि को लेकर सम्यक् रूप से दो-चार बातें लिखी जाती हैं। प्राचीन तथा नवीन हिंदी-साहित्य के संघर्ष-काल में ऐसा सर्वतोमुखी प्रतिभावान साहित्यिक अपेक्षित था कि वह केवल प्राचीनता की खिल्लियाँ न उड़ाते हुए उसकी सार्थकता का नवीनता के साथ सामंजस्य करावे। ठीक ऐसे समय वैसे ही प्रतिभ शाली साहित्यिक के रूप में भारतेन्दु जी ने उदित होकर यह कार्य ऐसे सुचारु रूप से किया कि नए-पुराने का यह संघर्ष किसी को कष्ट कर प्रतीत नहीं हुआ। कभी वे भक्ति तथा रीति काल के सुकवियों से होड़ लेते थे, तो कभी वे नये काल के मिल्टन, शेक्सपियर आदि से प्रभावान्वित बंग-कवियों की श्रेणी में जा बैठते थे। कभी राजभक्ति-पूर्ण पुष्पांजलि अर्पण करते थे तो कभी देश के लिए आठ-आठ आँसू रोते थे। कभी टीकाधारी भंड साधुओं की हँसी उड़ाते थे, तो कभी सच्चे भक्तों की माला पिरोते थे। यही कारण है कि इन गुणों से आकृष्ट होकर प्राचीन तथा नवीन दोनों विचार वालों

का एक अच्छा मंडल इनके चारों ओर घिर गया था, जिसने हिन्दी के उन्नयन में इनका खूब हाथ बँटाया।

भारतेन्दु जी की गद्य-शैली के विषय में इतना ही कहना अलम् है कि उनकी भाषा सुस्पष्ट होती थी, जटिल नहीं। वे वाक् चातुरी में भाव को फँसाया नहीं चाहते थे। भावों के अनुसार भाषा में भेद अवश्य होता था। आवेश में स्वभावतः छोटे-छोटे वाक्यों में जो बातें लिख गई हैं, वही जब कुछ समझ-बूझकर किसी स्थायी भाव को स्पष्ट करने को कही गई हैं, तब वहाँ अधिक संयत भाषा, कुछ बड़े वाक्यों में, लिखी गई हैं। जहाँ विनोद तथा मनोरंजन की बातें हैं, वहाँ भाषा में भी चपलता आ गई है। कहीं कहीं अधिक गम्भीर विषय संस्कृत-पदावली युक्त भी हैं। तात्पर्य यह कि भारतेन्दु जी का भाषा पर पूरा अधिकार था और वह उनकी अनुवर्तिनी थी।

विक्रमी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आरम्भ में खड़ी बोली हिन्दी-गद्य की जो प्रतिष्ठा हुई थी, उसकी परम्परा पूर्ण रूपेण नहीं चली और वह प्रायः पचीस वर्ष तक बीसवीं शताब्दी के आरम्भ की अपेक्षा करती रही। विक्रमी बीसवीं सताब्दी के साथ भारत-नक्षत्र राजा शिवप्रसाद का उदय हुआ। इनके प्रयत्न से सं० १९०२ में 'बनारस अखबार' काशी से निकलने लगा, जिसकी भाषा नागरी लिपि में उर्दू होती थी। उस समय के पढ़े लिखे लोगों में उर्दू फारसी का रिवाज अधिक था, हिन्दी का बहुत कम। संस्कृत के पंडितों को तो अखबार से कुछ मतलब ही न था। हाँ, कहीं-कहीं दो-चार शब्द हिन्दी के भी शपथ लेने के लिए रख दिए जाते थे। सं० १९१३ में राजा साहब स्कूलों के इंस्पेक्टर हुए और शिक्षा-विभाग में मुसल्मानों का प्राबल्य तथा उनका हिन्दी-विरोध देखकर उन्होंने हिन्दी का पक्ष लिया। बाद को शिक्षा-विभाग के उर्दू-ज्ञाता सदस्यों के जोर देने पर यह उर्दू-मिश्रित हिन्दुस्तानी

की ओर झुक पड़े। इस प्रकार राजा शिवप्रसाद 'आमफहम' हिन्दुस्तानी के हामी हुए। प्रायः इसी समय राजा लक्ष्मणसिंह ने शुद्ध हिन्दी में 'प्रजाहितैषी' पत्र निकाला और सं० १९१८ में शकुन्तला का अनुवाद किया। उन्होंने शुद्ध संस्कृत-मिश्रित हिन्दी का पक्ष लिया और इस मत का रघुवंश के अनुवाद के प्राक्कथन में समर्थन भी किया। पंजाब प्रांत में बा० नवीनचन्द्र राय ने हिन्दी के प्रचारार्थ बहुत सी पुस्तकें बंगला की सहायता से तैयार कीं और लिखवाईं, पत्र-पत्रिका भी प्रकाशित कराईं और सबकी भाषा शुद्ध हिन्दी रखी। पं० गौरीदत्त ने भी शुद्ध हिन्दी में पुस्तकें लिखीं। स्वामी दयानंद ने भी हिन्दी ही में उपदेश देकर तथा अपने ग्रंथ तैयार कर शुद्ध हिन्दी का प्रचार किया। इसी प्रकार पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी के व्याख्यान, कथा, उपदेश आदि शुद्ध हिन्दी में होते थे। उनका उस समय पंजाब में ऐसा प्रभाव था कि वे सनातन धर्म के स्तम्भ समझे जाते थे। मृत्यु के समय उन्होंने कहा था कि 'भारत में भाषा के दो लेखक हैं—एक काशी में और दूसरा पंजाब में; परन्तु आज एक ही रह जायगा।' काशी के लेखक से उनका अभिप्राय भारतेन्दु जी से था। इस प्रकार हिंदी के दो रूप प्रस्ताव की भाँति हिंदी संसार के सन्मुख उपस्थित होकर रह गए थे।

एक ऐसे यात्री की भाँति जो मार्ग न जानने के कारण किसी दो राहे पर पहुँचकर खड़ा हो जाय और यह निश्चित न कर सके कि कौन-सा मार्ग ग्रहण करना उचित है, उसी भाँति हिन्दी की प्रगति भी उस समय प्रायः एक दम बन्द-सी हो रही थी। ऐसे ही अवसर पर भारतेन्दु जी ने लेखनी उठाई और भाषा को अत्यंत परिमार्जित तथा मधुर रूप देते हुए उसके साहित्य में समयानुकूल नए विषयों की पुस्तकों का निर्माण कर उसको प्रगतिशील बनाया। यही कारण है कि हिन्दी प्रेमियों ने उन्हें वर्तमान हिन्दी का जन्मदाता तक कहा है। उनकी भाषा में पुरानापन, उर्दूपन आदि नहीं रहने पाया और उसे बहुत ही संयत तथा स्वच्छ रूप मिला। यह भाषा-संस्कार केवल गद्य ही में नहीं हुआ, प्रत्युत कविता में

भी हुआ। नई सभ्यता के संघर्ष से शिक्षित सम्प्रदाय में जो नई विचार-धारा प्रवाहित हुई और जिनकी मानसिक बुभुक्षा हिन्दी की प्राचीन चली आती हुई साहित्य-परम्परा से तृप्त नहीं हो रही थी, उनके उपयुक्त साहित्य की रचना हिन्दी में तब तक नहीं हुई थी। भारतेन्दु जी ने नए नए विषयों पर रचनाकर इस वैषम्य को मिटाने का प्रयत्न किया और हिन्दी साहित्य के प्रवाह को मोड़कर जनता की नवीन विचार धारा के साथ ला मिलाया।

अब तक वीरगाथा, प्रेमाख्यान, भक्ति तथा रीति पर ही कविताएँ लिखी जाती थीं। अन्तिम रीति काल में अलंकारादि काव्यांग का विवरण देने के लिए ही कविता लिखने की प्रथा खूब चल निकली थी और वह भी थोड़े दिन नहीं, प्रत्युत् दो शताब्दी से ऊपर तक चलती रही। इस कारण जनता इस प्रथा से ऊब गई थी। भारतेन्दु जी ने उक्त प्रथा के विरुद्ध, देश काल की माँग के अनुसार, कविता को भी नए नए विषयों की ओर झुकाया। देश-प्रेम, मातृ-भाषा-भक्ति, समाज-सुधार आदि लोक-हितकर विषयों को लेकर कविता करने और नाटक, निबन्धादि लिखने का मार्ग उन्होंने दिखाया। उपदेशमय मनोरंजन तथा विनोदपूर्ण छोटी कविताएँ भी लिखी जाने लगीं। हास्यरस को नए फैशन के आलम्बन दिए गए और वीररस के लिए आलम्बनों का अन्वेषण पौराणिक तथा ऐतिहासिक ग्रंथों में किया जाने लगा। मुक्तक या प्रबंध-काव्य के सिवा जिस प्रकार पहले दान-लीला, मृगया आदि विषयों पर दस-दस बीस-बीस पदों के छोटे-छोटे काव्य लिखने की प्रथा थी, वह अपनाई गई।

इस नवीन परम्परा के उत्थान का एक कारण भारत में अँगरेजों का आगमन कहा जाता है, विदेशियों का आगमन नहीं, क्योंकि विदेशी तो भारत पर प्राय: अज्ञात काल से टपकते चले आ रहे हैं। अँगरेजों के आगमन के ठीक पहले मुसल्मानों का भारत में आगमन हुआ था; पर आज सात शताब्दी व्यतीत हो जाने पर भी वे मातृ-भाषा-प्रेम को मजहबी

जोश में भूले हुए हैं। उन्हें भारत के प्राकृतिक दृश्यों से अरब के बालुकामय दृश्य तथा गाँधी-कैप से टर्किश कैप ही अधिक पसन्द है। उनके काव्य में भी वही इश्क, हिज्र, वसाले-सनम के सिवा अधिक कुछ न था। उनके यहाँ भी अँगरेजों के आगमन के बाद कुछ नवीन परम्परा उत्थित हुई; पर वह भी धार्मिक रंग में रँगी हुई। अतः हिंदी में जो कुछ नवीनता आरम्भ हुई, वह अँगरेजों के आगमन तथा उनके सम्पर्क के बाद। ऐसा क्यों हुआ? एक बात और ध्यान देने योग्य है कि बँगला-साहित्य में हिन्दी से पहले ही नवीनता आ चुकी थी पर क्या उसका भी प्रधान कारण यही है कि बंगालियों का अँगरेजों से सम्पर्क इस प्रांत में उनके आने के पहले का है।

कुछ सज्जन अँगरेजों के आगमन को इस उत्थान का कारण न मानकर उनकी कूट नीति को इसका कारण मानते हैं। भारत कभी कृतघ्न नहीं हुआ। भारत के इतिहास, पुरातत्व, मुद्राशास्त्र, लिपि, प्राचीन संस्कृत-साहित्य, वर्तमान भाषाओं के नवीन उत्थान आदि सभी विषयों पर दृष्टि दौड़ाइए, तो सब में आपको भारत-सरकार तथा अँगरेज-यूरोपियन साहित्य-प्रेमियों का सहयोग ही नहीं, वरन् उनके द्वारा मार्ग-प्रदर्शन भी दिखलाई पड़ेगा। न्याय-पूर्वक हमें इस सत्य को स्वीकार करना ही चाहिए।

हृदय में देश-प्रेम के अंकुरित होते ही तीन प्रकार के दृश्य—भूत, वर्तमान और भविष्य—आँखों के सामने आते हैं। पहले अपने पूर्व गौरव पर दृष्टि जाती है, फिर वर्तमान अवस्था का दृश्य सामने आता है। हृदय सोचता है, हम क्या थे और अब क्या हैं। यदि वर्तमान अवस्था पहिले से उन्नत हुई, तो हृदय आशा से भरकर और भी आगे बढ़ने की पुकार करता है; यदि वह ज्यों की त्यों हुई, तो मन 'सम्पदां सुस्थिरं मन्ये न वर्धयति तत्र ताम्' समझकर प्रगतिशील होने को अपना स्वर ऊँचा करता है और यदि वर्तमान अवस्था में देश पहले से गिरा हुआ दीखता है, तो देशभक्त का

हृदय अपने देश-भाइयों को जाग्रत करने के लिये उनके पूर्व गौरव का वर्णन कर और उनकी वर्तमान दशा दिखाकर, आत्म-क्षोभ पैदाकर, उनको देशभक्ति की दीक्षा देता है। कभी कभी देशभक्त कवि जब अपने भाइयों को अधिक गिरी दशा में पाता है और उनको जाग्रत करने में असफल होता ज्ञात होता है, तब वह सर्व आशामयी मूर्ति का बड़े विषाद के साथ आह्वान करता है। भारतेन्दु जी ने भारत के इतिहास में अन्तिम दृश्य ही देखा था, इसलिए इस प्रकार की उनकी कविता में ये तीनों भाव भरे हैं। नीलदेवी के इस नैराश्यपूर्ण कथन पर कि 'अब तजहु वीरवर भारत की सब आशा' कुछ सज्जनों ने कटाक्ष किये हैं; पर 'भारत दुर्दशा' में 'हिन्दुस्तानी कपड़ा पहिनना' आदि जो उन्नति के उपाय भारतेन्दु जी ने बतलाये थे, उनको करने के लिये वाध्य करने को साठ वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी आज तक पिकेटिंग आदि की आवश्यकता है।

भारतेन्दु जी ने कविता देवी की उस अनुपम, नित्य, अविनश्वर वीणा पर, जिससे वीरोल्लास मयी, भक्तिभाव-पूर्ण तथा शृंगार रसाप्लुत स्वर-लहरियाँ तरंगित हो चुकी थीं, नवीन देश-प्रेम पूर्ण ऐसा स्वर निकाला, जिसे उस काल के तथा बाद के प्रायः सभी सुकवियों ने अपनाया। पुरानी परिपाटी पर ही कविता करते हुए तथा पुरानी प्रथा को निबाहते हुये भी साहित्य-संसार की नवीन प्रगति के प्रवर्तन तथा उन्नयन में योग देने वाले सुकवियों का आरम्भ भारतेन्दु जी ही से होता है। उन्होंने प्राचीन परम्परा की कविता करते हुए भी जराजीर्ण सड़े-गले शब्दों का निराकरण किया और बोलचाल में काम आने वाले शब्दों ही का प्रयोग किया। शब्दों के तोड़ने मरोड़ने तथा भरती के शब्द व्यवहृत् करने के वे बराबर विरुद्ध रहे और उन्होंने अपनी कविता में ऐसे दोषों को नहीं आने दिया। शृंगार-रस के उनके सवैये तथा कवित्त ऐसे सरस, हृदयग्राही और आकर्षक होते थे कि वे उनके सामने ही सर्वजन प्रिय हो उठे थे। प्रेम-माधुरी आदि में तथा नाटकों में उनके भक्ति-प्रेम से लबालब सवैये आदि मिलेंगे। उनके

संस्थापित कवि-समाज की समस्या-पूर्ति में तत्कालीन सभी सुकविगण सहयोग देते थे।

हिन्दी में कहानी कहने का आरम्भ भी कविता ही में हुआ था। कुछ कहानियाँ भारतेन्दु जी के समय तक लिखी जा चुकी थीं। भारतेन्दु जी का ध्यान हिन्दी-साहित्य के इस विभाग की कमी की ओर आकृष्ट हुआ था; पर वे इस ओर अधिक समय नहीं दे सके। उन्होंने 'मदालसोपाख्यान' लिखा और 'राजसिंह' का अपूर्ण अनुवाद किया। यद्यपि वे स्वयं इस ओर विशेष कुछ न कर सके; पर उनके प्रोत्साहन से उनके मित्रवर्ग में कई सुलेखकों ने इस कमी की पूर्ति का बीड़ा उठाया।

भारतेन्दु-उदय के साथ-साथ हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का भी प्रचार प्रचुरता से बढ़ने लगा। सं० १९२४ के भाद्रपद में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने पहिली साहित्यिक मासिक पत्रिका 'कवि-वचन-सुधा' प्रकाशित की, जो बाद को साप्ताहिक तथा बड़े आकार की हो गई। इसमें गद्य-पद्य दोनों रहते थे और राजनीति, समाज, धर्म आदि सभी विषयों पर लेख दिए जाते थे तथा कुछ समाचार भी संकलित रहते थे। इस पत्रिका को भारतेन्दु जी ने कुछ वर्षों के बाद एक महाराष्ट्र सज्जन को, उनके आग्रह पर, दे दिया था; परन्तु वह किसी प्रकार कुछ दिन चलकर जन्मदाता के साथ-साथ चल बसी। सं० १९३० में भारतेन्दु जी ने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' मासिक पत्र निकाला, जो आठ संख्याओं के बाद 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका, नाम से प्रसिद्ध हुई। इसमें कुछ पृष्ठ अँगरेजी के भी रहते थे। इसमें साहित्यिक लेखों के साथ कुछ अलभ्य काव्य-ग्रंथ आदि भी प्रकाशित हुए थे। आठ वर्ष हिन्दी-प्रेमियों का मनोरंजन कर यह पं० मोहनलाल विष्णुलाल पँड्या के आग्रह से उनके हाथ जाकर सं० १९३७ में 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका और मोहन चन्द्रिका' हो गई और सं० १९३८ में काशी से श्रीनाथ जी बाकर उन्हीं के भी चरणों में लीन हो गई। सन् १८८४ में 'नवोदिता हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' नाम से छोटे

आकार में यह पुनः प्रकाशित की गई ; पर स्वयं भारतेन्दु जी दो ही संख्या निकाल कर चल बसे। इसका तीसरा अंक उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हो कर रह गया। 'बालाबोधिनी' नामक स्त्रियोपयोगी मासिक पत्रिका को जनवरी सन् १८७४ से भारतेन्दु जी ने निकालना आरम्भ किया था। यह पत्रिका भी चार वर्ष चलकर बन्द हो गई।

४—धनंजय-विजय

मूल नाटक संस्कृत में है और इसके रचयिता काँचन पंडित थे। इनके पिता का नाम नारायण था, जो शास्त्रार्थ में प्रसिद्ध थे। यह एक विद्वान-कुल में उत्पन्न हुए थे और स्वयं कई शास्त्रों में पारंगत थे। इसके सिवा नाटककार के विषय में और कुछ भी ज्ञात नहीं है। इसका समय भी संदिग्ध है। भारतेन्दु जी ने इस व्यायोग के सं० १५१७ वि० की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख किया है, जिससे इनके समय की अंतिम सीमा अवश्य निश्चित हो जाती है।

भारतेन्दु जी के हिन्दी अनुवाद के पहिले इस व्यायोग का एक अनुवाद काश्मीर-नरेश महाराज रणवीरसिंह की आज्ञा से पं० छुन्नूलाल द्वारा किया जा चुका था। यह अनुवाद सं० १९३२ में लीथो में प्रकाशित हुआ, जिसमें मूल, पद्यानुवाद तथा शेखर कृत वार्तिक सभी सम्मिलित हैं और इसके प्रति पृष्ठ में लीथो में एक साधारण चित्र भी दिया हुआ है। इसकी भाषा अत्यंत भ्रष्ट तथा पद्य शिथिल हैं। स्यात् अनुवाद के कारण हुई मूल की इस दुर्दशा को देखकर ही भारतेन्दु जी ने इसका दूसरा अनुवाद तैयार किया होगा, जो पहिले पहल हरिश्चन्द्र मैगजीन में सन् १८७३ ई० में प्रकाशित हुआ।

इस व्यायोग की कथा महाभारत के विराट पर्व से ली हुई है। बारह वर्ष वनवास करने के अनंतर पांडव गण द्रौपदी सहित अज्ञातवास करने के लिये मत्स्य राज विराट के राज्य में आकर सभी उसकी सेवा में गुप्त रूप से रहने

लगे। द्रौपदी की अप्रतिष्ठा करने के कारण भीम द्वारा कीचक के मारे जाने पर त्रिगर्तराज सुशर्मा ने मत्स्य राज्य पर एक ओर से आक्रमण किया और जब राजा विराट ससैन्य उधर उससे युद्ध करने चले गए तब कौरवगण दूसरी ओर से आक्रमण कर राजा विराट की साठ सहस्र गाएँ लेकर चल दिये। राजनगरी में केवल उत्तर कुमार था। अंत में अर्जुन उसे सारथी बनाकर स्वयं युद्ध में कौरवों को परास्त कर गोधन छुड़ा लाये। इसके अनंतर राजा विराट ने पांडवों का बहुत सम्मान किया और उत्तरा का अभिमन्यु से विवाह-संबंध स्थिर हुआ। यह सब कथा महाभारत में बहत्तर अध्यायों में वर्णित है। इस नाटक में केवल अर्जुन का कौरवों को परास्त कर गायों को छुड़ा लाना तथा फल स्वरूप उत्तरा-अभिमन्यु का विवाह स्थिर होना दिखलाया गया है।

व्यायोग में 'युद्ध का निदर्शन स्त्री-पात्र रहित और एक ही दिन की कथा का होता है। नायक कोई अवतार या वीर होना चाहिये।' धनंजय-विजय स्त्री पात्र-रहित है, इसमें केवल युद्ध ही का निदर्शन है और एक ही दिन की कथा है। इसमें प्रसिद्ध वीर अर्जुन नायक है और आरंभ में युद्ध को प्रस्थान करने पर उसने कौरवों के बड़े महारथियों का परिचय उत्तर कुमार को स्वयं दिया। इसके अनंतर युद्ध आरम्भ होने पर उसका विवरण इन्द्र, विद्याधर तथा प्रतिहारी के कथोपकथन में बतलाया गया है। अन्त में विजयी होकर अर्जुन राजा विराट से मिलते हैं। इस नाटक में पद्यभाग गद्य से अधिक है और अनुवाद भी बहुत अच्छा हुआ है।

५—सत्यहरिश्चन्द्र

क—आख्यान तथा नाटक

संस्कृत साहित्य में आर्य क्षेमीश्वर कृत 'चंडकौशिक' और रामचन्द्र कृत 'सत्यहरिश्चन्द्र नाटकार' नाम के दो रूपक मिलते हैं जो राजा हरिश्चन्द्र की

आख्यायिका लेकर निर्मित हुये हैं। यद्यपि भारतेन्दुजी का सत्यहरिश्चन्द्र नाटक इन दोनों में से किसी का पूरा अनुवाद नहीं है पर प्रथम का कुछ भाग इसमें अनूदित करके लिया गया है। इन सभी नाटकों का आधार एक प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान है और उसमें कुछ हेर फेर कर सभी नाटकों की रचना हुई है। इस नाटक का मुख्य उद्देश्य सत्य की परीक्षा है। परीक्षक इंद्र-प्रेरित ऋषि विश्वामित्र हैं और परीक्षा देनेवाले राजा हरिश्चन्द्र हैं। कथा पौराणिक है, इससे कुछ बातें ऐसी भी आगई हैं जो साधारणतः असंबद्ध सी ज्ञात पड़ने लगती हैं पर वास्तव में वे वैसी हैं नहीं। इसकी भाषा भी बड़ी सुन्दर है तथा कथा के अनुकूल रखी गई है। मुहाविरेदार तथा व्यावहारिक भाषा के प्रयोग से इसके पठन पाठन से मनोरंजन भी होता है।

सत्यहरिश्चन्द्र नाटक चार अंक में समाप्त हो गया है। नाटकों में कम से कम पाँच अंक होने चाहिये। इस नाटक का प्रधान-रस वीर है। इसके सत्यवीर, दानवीर, कर्मवीर तथा युद्धवीर चार भेद होते हैं जिनमें दो का राजा हरिश्चन्द्र में और तीसरे का विश्वामित्र जी में परिपाक हुआ है। इसके सिवा इसमें करुणा, वीभत्स, हास्य तथा अद्भुत रस का भी समावेश है, जिनमें प्रथम की मात्रा बहुत बढ़ गई है। इसके प्रधान नायक राजा हरिश्चन्द्र धीरोदात्त प्रतापी राजर्षि हैं। विश्वामित्र का राजा हरिश्चन्द्र को सत्यभ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा करना बीज है। स्वप्न में पृथ्वी दान लेकर तथा सशरीर पहुँच कर उसपर अधिकार करना और दक्षिणा के बहाने राजा हरिश्चन्द्र को राज्यभ्रष्ट तथा शारीरिक स्वातंत्र्य भ्रष्ट करना विंदु है। विश्वामित्र के प्रयत्नों का निष्फल होना पताका है। रोहिताश्व का दंशित होकर स्मशान में लाया जाना प्रकरी है। सत्य की परीक्षा में उत्तीर्ण होना कार्य है।

इसमें प्रासंगिक कथावस्तु प्रायः नहीं सा है और जो कुछ है वह भी आधिकारिक कथा के सौंदर्य को बढ़ाने के लिए प्रयुक्त हुआ है। कथावस्तु का आरंभ, मध्य तथा अंत सुचारु रूप से हुआ है। इन्द्र, नारद तथा

विश्वामित्र के संवाद से नाटक के उद्देश्य और घटनाक्रम का पूरा ज्ञान कराते हुए नाटक का आरंभ होता है। दूसरे अंक में स्वप्न में किए गए दान को सत्य मान कर विश्वामित्र के आते ही राज्य दे देना प्रयत्न है। दक्षिणा चुकाने को काशी में सस्त्रीक बिकना प्राप्त्याशा है। चौथे अंक में स्वामि-कार्य करते हुए सत्य पथ से न डिगना नियताप्ति है और भगवान का आकर उन्हें परीक्षोत्तीर्ण होना कहना फलागम है। पूर्वोक्त विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्यहरिश्चन्द्र नाटक के प्राय: सभी लक्षणों से युक्त हैं।

ख—पात्रों का विवेचन

नाटक के पात्रों का चरित्र-चित्रण भी बहुत अच्छा किया गया है। इस नाटक के नायक राजा हरिश्चन्द्र और प्रतिनायक विश्वामित्र हैं। पहिले का आदर्श है—

> चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
> पै दृढ़ श्री हरिचंद को, टरै न सत्य विचार॥

और दूसरा उसे इस सत्यवीरत्व से च्युत करने में दत्तचित्त है। उसके प्रयत्न से वह राज्यभ्रष्ट होता है और स्त्री तथा अपने को बेंचकर शारीरिक स्वतंत्रता से भी भ्रष्ट हो जाता है पर अपना सत्यव्रत नहीं त्यागता। ब्राह्मण बने हुए क्षत्रिय में क्रोध की प्रचुरता है पर उसके विपरीत सच्चे क्षत्रिय में ब्राह्मणों के प्रति जो उदारता थी वह उसे अंत तक सौम्य बनाए रखती है। एक अकारण दूसरे से द्वेष रखता है, उसे अनेक प्रकार से कष्ट देता है पर सच्चे गुण का असर उसके हृदय पर भी दिखलाकर नाटककार उसकी कृति को अस्वाभाविक नहीं होने देता। नायक के प्रति आरंभ ही से दर्शकों की समवेदना आकर्षित करने के लिए इन्द्र की 'देखि न सकहिं पराइ विभूति' वाली नीति दिखलाकर नारद जी से उसकी शासना कराई गई है तथा विश्वामित्र का इंद्र की बात सुनते ही झट उत्तेजित होना भी दिखलाया

गया है। ज्यों ज्यों प्रतिनायक की कुटिलता बढ़ती गई त्यों त्यों नायक की सौम्यता तथा दृढ़ता का बढ़ना दिखलाकर यह समवेदना बढ़ाई गई, यहाँ तक कि अंत में इस नाटक का कोई भी पाठक आँखें डबडबाए बिना इसे समाप्त नहीं कर सकता। प्रतिनायक के प्रति दर्शकों को घृणा तक हो जाती है। नायक की दान-वीरता तथा सत्य-वीरता दोनों ही एक से एक बढ़कर हैं। जिस प्रकार स्वप्न के दान को भी देने से न हिचकना पहिले की वैसे ही मृत पुत्र के शव के कफन में से आधा माँग कर उसे अखुधला छोड़ने को तैयार होना दूसरे की पराकाष्ठा है। नायक अपने गौरव तथा आत्माभिमान को कहीं नहीं भूला है। उसे अपने वंश का, सहज क्षत्रियत्व का तथा सत्य प्रतिज्ञ होने का दर्प था। ब्राह्मणों का उसके हृदय में कैसा आदर था, यह उसके आचरण से स्पष्ट है। विश्वामित्र के प्रति तथा पुत्र रोहिताश्व को ऐसे कष्ट के समय ढकेलने वाले बटु के प्रति उनका जो व्यवहार था वह आदर्श है और प्रत्येक पाठक का हृदय उनके प्रति श्रद्धा से भर उठता है। हरिश्चन्द्र ही महाजन थे। इतने प्रसिद्ध इक्ष्वाकु-वंशीय सम्राट् की ऐसी कठोरतम परीक्षा हुई, पर उसमें भी उसकी नम्रता तथा ईश्वर पर उसका विश्वास अंत तक बना रहा। यही कारण है कि आजतक सत्यवीरों की सूची में पहिला नाम इन्हीं महाराज का लिया जाता है। विश्वामित्र के प्रति-नायकत्व में संदेह करना उचित नहीं। इन्द्र-द्वारा प्रेरित होने पर भी नायक की प्रतिद्वंद्विता इन्हीं से चली थी। इन्द्र-प्रेरणा के सिवा इन्हें 'इसपर स्वतः भी क्रोध' था। वशिष्ठ ऋषि से इनकी शत्रुता प्रसिद्ध थी। राजा हरिश्चन्द्र उन्हीं वशिष्ठ जी के यजमान थे।

सत्यवीर की धर्मपत्नी महारानी शैव्या तथा पुत्र कुमार रोहिताश्व का चरित्र उन्हीं के अनुकूल चित्रित हुआ है। नाटककार ने सहज स्त्री-सुलभ-संकोच, लज्जा, पति के प्रति दृढ़ विश्वास तथा श्रद्धा उसके एक एक बात में भर कर रख दी है। पति ही पत्नी का सर्वस्व है, ऐसा मानते हुए भी वह अपनी शंका तथा अपनी सम्मति कह देना उचित समझती थी। उपाध्याय

से कहलाकर महारानी के सौंदर्य, सौकुमार्य तथा शील प्रगट करते हुए 'तुम्हारे पति हैं न' प्रश्न ने सती स्त्री के सतीत्व को दमका दिया है। जिस पति के कारण एक महाराज की पुत्री और एक सम्राट् की पुत्रवधू होकर तथा अपने छोटे से पुत्र को लेकर वह क्रीता दासी होने जा रही थी उसके प्रति उस समय उसका भाव क्या था, यह उसकी सौम्य मूक दृष्टि ही बतला रही है। पति की ओर देखकर नीचे दृष्टि कर लेने में कितना व्यथापूर्ण भाव है कि आज वह अपने ऐसे सर्वश्रेष्ठ रत्न को चिथड़े में रखा हुआ सबको दिखला रही है। पर रत्न रत्न ही है। इसके सिवा पुत्र-शोक-पीड़िता शैव्या के सारे रोने कलपने को पढ़िए पर एक भी शब्द ऐसा न मिलेगा जिससे उसका पति के प्रति अविश्वास या रोष का संदेह मात्र भी हो। स्मशान में चांडाल-दास पति के साथ उसका वही व्यवहार रहा जो राजसिंहासन पर सुशोभित सम्राट् पति के साथ था। महारानी शैव्या आदर्श स्त्री-रत्न थीं। रोहिताश्व बालक था। उसका निज का चाहे कुछ भी आदर्श चरित्र न दिखलाया गया हो पर उसीपर सत्यपरीक्षा की अंतिम कसौटी कसी गई थी, जिसका कस विद्युत् से भी बढ़ कर प्रज्ज्वलित हो उठा था। यही बालक नाटक के करुण रस का स्रोत है और उसी पर की गई परीक्षा सदा सोने वाले आराम पसंद भगवान को मृत्युलोक तक खींच लाई थी।

सहायक पात्रों में इन्द्र और नारद ही मुख्य हैं। इन्द्र का स्वभाव वही दिखलाया गया है जो उनके लिए प्रायः प्रसिद्ध है पर नारद जी का इसके विपरीत चित्रित किया गया है। वास्तव में वे पुराणों से कहाँ तक कलहप्रिय ज्ञात होते हैं इस पर विशेष रूप से तो नहीं कह सकता पर तब भी वे कहीं इस स्वभाव के मुझे नहीं मिले। वे विरक्त थे, इससे दक्ष की संतानों को उलटा उपदेश देकर वन में विदा कर दिया और स्वयं शापित होकर घूमने लगे। दुष्टों के संहार कराने में यह सदा दत्तचित्त रहते थे। संस्कृत साहित्य में, माघ आदि काव्यों में, ये ऋषिवत् ही चित्रित हैं, यद्यपि उनमें भी वे दुष्टों के नाश कराने ही के कार्य में लगे हुए वर्णित हैं। इस विचार से

नारद जी का चित्रण ऋषिवत् करना ही उत्तम हुआ है और उनसे इन्द्र को जो उपदेश दिलाया गया है वह बालकों के लिए उपयोगी है।

सभी पात्रों का चरित्र चित्रण उनके स्वभावानुकूल किया गया है और वह उनके कार्य तथा कथन आदि से स्पष्ट है।

ग—चंडकौशिक का आधार

भारतेन्दु जी ने उपक्रम में चंडकौशिक का उल्लेख किया है और एक स्थान पर पाद टिप्पणी में लिखा भी है कि इसमें चंडकौशिक के श्लोक उद्धृत किए हैं। सत्य हरिश्चन्द्र चंडकौशिक का अनुवाद कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि कथावस्तु में घटना-परिवर्तन कर दिया गया है। चंडकौशिक का जो आधार है वही सत्यहरिश्चन्द्र का भी हो सकता है क्योंकि यह कथा बहुत प्रसिद्ध है। इसलिए उपक्रम में चंडकौशिक को सत्यहरिश्चन्द्र का आधार न कह कर भी उसका केवल उल्लेख करना यही सूचित करता है कि भारतेन्दुजी ने इसे पढ़कर ही अपना ग्रंथ लिखा है और उनकी अद्भुत स्मरण शक्ति ने जो जो अंश अच्छे पाए उन्हें अपने नाटक में यथास्थान बैठा दिए।

सत्यहरिश्चन्द्र बालकों के लिए लिखा गया है और इसी से इसमें शृंगार रस आने नहीं पाया है। प्रस्तावना दोनों ही की भिन्न हैं। चंड-कौशिक का प्रथम अंक शृंगार रस पूर्ण है पर सत्य हरिश्चन्द्र में उसके बदले इन्द्र तथा नारद के सम्भाषण में अच्छा उपदेश दिलाया गया है। चंड-कौशिक के दूसरे अंक का आरंभ राजा हरिश्चन्द्र के शिकार खेलने की सूचना से होता है। इसके अनतर विघ्नराट् आकर विश्वामित्र के द्वारा तप के बल से तीनों महाविद्याओं के वशीभूत करने के प्रयत्न की सूचना देता है। इसके बाद राजा भी रथस्थ आते हैं। इसी समय महाविद्याएँ भी चिल्लाती सुनाई पड़ती हैं। बालकगण प्रायः आरंभ में पाठशाला जाते चिल्लाते हैं पर महाविद्याएँ भी किसी के अभ्यास करने पर उसके पास आने से चिल्लाएँ

यह कुछ असंगत सा जान पड़ता है। राजा सहायता को तैयार होते हैं तब नेपथ्य से विश्वामित्र तथा तीनों महाविद्याएँ आती हैं। विश्वामित्र के क्रोध प्रकट करते ही तीनों महाविद्याएँ चली जाती हैं और इन दोनों का संघर्षण होता है। राजोचित कार्य करने के लिए हरिश्चन्द्र क्षमा माँगते हैं इसपर वाग्जाल फैलाकर सारा राज्य तथा एक लक्ष सुवर्णमुद्रा माँग ली जाती है। अंत में काशी जाने की आज्ञा लेकर राजा लौटते हैं।

बालकों के आगे उचित कार्य करने पर इस प्रकार के पुरस्कार पाने का आदर्श रखना उचित न समझकर ही भारतेंदु जी ने परिवर्तन कर डाला। उन्होंने पति तथा पुत्र के लिए अशुभ स्वप्न देखकर घबड़ाई हुई एक साध्वी महारानी का गुरु तथा शास्त्र पर विश्वास रखते हुए उसकी शांति कराना दिखलाना अधिक उपयुक्त समझा। इसके अनंतर पति आकर अपनी धर्मपत्नी के मुख को मलीन देख उसके प्रति अपना प्रेम दिखलाता है और उसे साहस दिलाता है। एक स्वप्न से दूसरे पर आकर चंडकौशिक के दूसरे अंक की सारी कथा दो तीन पंक्ति में कहला दी गई है और उससे साफ ध्वनि निकलती है और जैसा कि पाँच छ पक्ति ऊपर कहलाया गया है कि ' सहज मंगल साधन करते भी जो आपत्ति आ पड़े तो उसे निरी ईश्वर की इच्छा ही समझ कर संतोष करना चाहिए।' इसके अनंतर ' स्वप्नमात्र के सत्यविचार ' को स्वप्न न रहने देने के लिए विश्वामित्र आप आते हैं और पृथ्वीदान तथा दक्षिणा माँग लेते हैं। पर हरिश्चंद्र का वह महत्व, जो स्वप्न के दान को सत्य मानने से मिल सकता है, अक्षुण्ण बना रहा। यह सत्यहरिश्चद्र के द्वितीय अंक की निज कल्पना है।

इसके अनंतर दोनों ही में तृतीय अंक के पहिले एक-एक अर्थोपक्षेपक आया है। चंडकौशिक का प्रवेशक केवल पाप पुरुष का रोना तथा भृंगी द्वारा महादेव जी का पुलकित होना बतलाता है। यदि यह न भी होता तो कथा कहीं से विश्रृंखल न होती। अंकावतार में यह दोनों होते हुए राजा

हरिश्चंद्र के अयोध्या से काशी तक आने का कारण तथा समाचार देकर वह सार्थक कर दिया गया है। और सब बातें एक सी हैं। दोनों के तीसरे अंक की कथा सस्त्रीक बिक कर दक्षिणा चुकाना है, इसलिए कुछ घटा बढ़ाकर सभी बातें एक सी हैं।

चंडकौशिक का चौथा और पाँचवाँ अंक मिलाकर सत्य-हरिश्चंद्र का चौथा अंक निर्मित हुआ है। चंडकौशिक में राजा हरिश्चंद्र एक डोम के साथ आते हैं। अपनी पूर्व बीती कहते और स्मशान का वर्णन करते हैं। कापालिक आता है और विघ्नों को हटाने की प्रार्थना करता है। विघ्न हटते ही विद्याएँ आती हैं और कौशिक के पास भेजी जाती हैं। तब कापालिक अपनी साधना पूर्ण करके आता है और महानिधान देने का प्रयत्न कर चला जाता है। राजा 'भागीरथी-तीरमुपगम्य' स्वामी कार्य में लगते हैं। यहाँ चौथा अंक समाप्त होता है। पाँचवें अंक में उसी प्रकार उसी स्थान पर राजा पुनः आता है। वह सोच विचार कर रहा है कि शैव्या आती है। एक दूसरे डोम के कहने से उससे कफन माँगने जाते हैं। जानकर दोनों ही मरने को तैयार होते हैं, फिर रुकते हैं। अंत में धर्म आकर शांति फैलाते हैं। सत्यहरिश्चंद्र में करुण रस की मात्रा अधिक है, पिशाचादि की कथा बढ़ाई गई है और दोनों अंक मिला दिए गए हैं। कारुण्य के आधिक्य से इसमें भगवान स्वयं पधारे हैं। इंद्र, विश्वामित्र आदि को लाकर आपस में मिला देना और दोनों पक्ष के हृदयों के मालिन्य को मिटा देना बालकों के लिए बहुत उपदेशमय हो गया है। दोनों वर्णनों में बहुत कुछ परिवर्तन होते हुए भी प्रथम का बहुत अंश दूसरे में आ गया है।

घ—शंका-समाधान

सत्यहरिश्चन्द्र नाटक की तीन समालोचनाएँ हमारे देखने में आई हैं। प्रथम हिन्दी वैयाकरणी पं० कामताप्रसाद गुरु की है, जिसमें व्याकरण-विषयक अशुद्धियाँ विशेषतः दिखलाई गई हैं। गुणावलोकन करते हुए कुछ

दोष भी दिखलाए गए हैं। इसके अनन्तर भारतेन्दु-नाटकावली की भूमिका में रायबहादुर बा० श्यामसुन्दर दास जी बी० ए० और लाला भगवानदीन जी ने सत्यहरिश्चंद्र में अपनी-अपनी स्वतंत्र आलोचनाएँ की हैं। प्रथम में दोष मात्र दिखलाए गए हैं और दूसरे में गुण-दोष दोनों ही की चर्चा की गई है।

पहिली समालोचना का सारांश तो यही है कि भारतेन्दु जी न तो भारतीय और न यूरोपीय नाट्यशास्त्र से पूर्णतया परिचित थे और न इस कारण वे दोनों का सामंजस्य कर एक नई शैली संस्थापित कर सके। उन्होंने बंगला तथा पारसी कंपनी के नाटकों का अनुकरण किया। 'सत्यहरिश्चन्द्र का नायक कौन है? ' इसका पता नहीं। समालोचक महोदय विश्वामित्र ही को क्रियाशील मानते हुए नायक सा समझते हैं। सत्य है, घातक ही क्रियाशील है, अपने को अन्त तक बिना प्रतिहिंसक हुए उससे बचाने वाला निर्जीव आलसी है। अर्थ-प्रकृति, अवस्थादि का आपके कथनानुसार खोजने पर भी इस नाटक में पता नहीं मिलता और यदि कोई उन्हें ढूँढ़ निकाले तो वह उसी 'समालोचक की उपज मात्र होगी।' 'यहाँ सत्य विचार ही कौन था? एक स्वप्न की बात थी।' वस्तुतः जो संसार ही को नित्य और सब कुछ समझते हैं उनके लिये ऐसा विचार रखना उचित था पर आपसे सांसारिक प्रशंसा मान प्रतिष्ठा को तुच्छातितुच्छ समझने वाले का ऐसा लिखना कुछ खटकता है। गंगावर्णन को दोष मान लिया है और अंकावतार तथा जवनिका के गिरने में भी दोष दिखलाया गया है। अभिनय के विचार से आपका कहना है कि 'अंकों को क्रमशः छोटा होता जाना चाहिए पर इसमें ऐसा नहीं है। यदि यह मान लिया जाय कि इस नाटक का अभिनय तीन घंटे में किया जा सकता है तो इसके चारों अंकों का अभिनय करने में क्रमशः २५, ३०, ४० और ८५ मिनट लगेंगे।' उक्त आलोचना का सारांश यह हुआ कि नाटक नाटककार की शास्त्र तथा व्यवहार आदि की अनभिज्ञता प्रकट करता हुआ आप भी अपने को दोषपूर्ण घोषित कर रहा है।

नाटक के उपक्रम में भारतेन्दुजी ने लिखा है कि यह बालकों के पढ़ने के लिये लिखा गया है। पात्रों के वस्त्रादि के वर्णन देने से ध्वनि निकलती है कि इसे वे अभिनय के उपयुक्त भी समझते थे। भारतेन्दुजी ने चारों अंक तथा अंकावतार के अंत में जवनिका गिरती है, यही लिखा है और कहीं भी परदा उठता है ऐसा नहीं लिखा है। स्यात् उन्होंने भारतीय ढंग के अनुसार ही प्रत्येक दृश्य के अंत में यवनिका-पतन ही उचित समझा है। तात्पर्य यह कि परदों का गिरना अभिनय में रुकावट न डालते हुए कोई नियमभंग नहीं करता। मिनट वाला किस्सा भी उलटा है। भारतेन्दुजी अंकों को बराबर बढ़ाते गए हैं पर साथ ही दर्शकों का 'आलस्य और थकावट' मिटाते हुए उत्सुकता तथा कारुण्य भी बढ़ाते गए हैं। नाटक की घटनावली देखते हुये अंकों का समय बहुत ठीक है।

सत्यहरिश्चन्द्र में 'चंडकौशिक' से कहाँ तक सहायता ली गई है, इसमें भी दोनों समालोचकों में मतभेद है। प्रथम का कथन है कि 'इस प्रकार सत्यहरिश्चन्द्र और चण्डकौशिक के मूल आधार में ही बड़ा अन्तर है, अतएव एक को दूसरे का अनुवाद कहना अनुचित है।' दूसरे समालोचक इसके विपरीत चण्डकौशिक को सत्यहरिश्चन्द्र का आधार मानते हैं। प्रथम ने चण्डकौशिक बिना देखे ही स्यात् अपनी सम्मति दे दी है, ऐसा ज्ञात होता है, पर दूसरे ने दोनों ग्रंथों को मिलान करके दिया है। इस पर अन्यत्र विचार हो चुका है।

नाटक मे पहिले पूर्वरंग, तब सभा पूजा और उसके बाद कवि नाम आदि कथन रूपी आमुख होता है। नाट्य वस्तु के पहिले रंगशाला के विघ्नों के शांत्यर्थ नटों द्वारा जो कुछ किया जाता है उसे ही पूर्वरंग कहते हैं। यही कारण है कि पूर्वरंग का सब कार्य नटों द्वारा उनकी इच्छानुसार होता है, इसलिये महर्षियों ने उस पर विशेष नहीं लिखा है। पूर्वरंग के अनेक अंगों में नान्दी भी एक है जो 'अवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशांतये'। इसमें जो मंगलाचरण होता है, वही नान्दी कहलाता है। यह कार्य सभी नाटकों

में समान-रूपेण होता है, इसीलिये नाटककार अपनी रचना पूर्वरंग के आयोजन के बाद उसे 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' से आरम्भ करता है। प्रायः नाटककार-गण अपनी रचना के निर्विघ्न समाप्त होने के लिये मंगलाचरण बनाते हैं और शास्त्रानुसार नान्दी के हो जाने पर भी उसके बाद 'नान्दी के अनन्तर सूत्रधार आता है' लिख देते हैं।

भारतेन्दुजी नान्दी को नान्दी-पाठक नहीं समझते थे वरन् मंगल-पाठ ही समझते थे पर कहीं-कहीं उसे विशेषण रूप में प्रयुक्त किया है।

इस नाटक की प्रस्तावना कथोद्घात् है।

जहाँ पात्र सूत्रधार के वाक्य या वाक्यार्थ को लेकर प्रवेश करे वह कथोद्घात है। इसमें श्लेष की आवश्यकता नहीं है। जिस शुद्ध अर्थ में सूत्रधार कहता है वैसा ही भाव लेकर पात्र प्रवेश करता है। वेणीसंहार में सूत्रधार के कहने पर कि 'वैर के शान्त हो जाने से पाण्डवगण श्रीकृष्ण के साथ आनन्द करें और पाण्डवों को उनको स्वत्वानुसार सब भूमि देकर शत्रुता का अन्त कर कौरव लोग भी भृत्यों के साथ प्रसन्न हों।' भीमसेन ने उसका अर्थ ग्रहण कर यह कहते प्रवेश किया कि 'अरे दुष्ट, मंगल पाठक, नटाधम आदि' पर इसके बाद ही पाण्डव-कौरवों के आनन्द करने की बात 'काफूर' हो जाती है। सूत्रधार का यह कथन भी कि 'आनन्द करें' लालाजी के अनुसार अनुचित ही होगा क्योंकि सूत्रधार के समय कौरव पाण्डव एक भी न थे। अस्तु, इसी प्रकार सत्यहरिश्चन्द्र में सूत्रधार सहज भाव से अपने समय के हरिश्चन्द्र की पहिले हुये राजा हरिश्चन्द्र से तुलना करता है पर उसी वाक्यार्थ को लेकर इन्द्र-पात्र प्रवेश करता है। 'काँपता' बहुत ठीक है, क्योंकि इन्द्र-पात्र अपने अर्थात् सूर्यवंशीय हरिश्चन्द्र के समय के सुरलोक के काँपने का उल्लेख करता है, सूत्रधार के समय का नहीं। 'दूजे हरिश्चचन्द्र' का भाव केवल सूत्रधार द्वारा पहिले हरिश्चन्द्र का उल्लेख कराने मात्र को था और यही कारण है कि नारद जी के आते ही वह

'काफूर' हो गया। पर पहिले हरिश्चन्द्र के प्रति इन्द्र को जो ईर्ष्या हो रही थी उसको इस भाव से जो उत्तजना मिली थी वह अवश्य बनी रही।

अंकावतार अंक का अवतार नहीं होता प्रत्युत् अगले अंक के अवतीर्ण होने की सूचना मात्र देता है। अंकावतार के लक्षण से यह स्पष्ट है कि उसका पिछले अंक का अंगीभूत होना या न होना दोनों ही नाट्यशास्त्र द्वारा अनुमोदित हैं।

राजा हरिश्चन्द्र के मुख से गंगाजी का वर्णन कराया गया है इससे एक महाशय इसे देश-काल-दोष विभूषित कहते हैं और दूसरे इसे भद्दी गलती कहते हुये लिखते हैं कि चंडकौशिक और रत्नाकरजी कृत हरिश्चन्द्र में गंगा-वर्णन नहीं है। चंडकौशिक पृ० १२६ पर राजा हरिश्चन्द्र कहते हैं—भवतुभागीरथी-तटोपान्तेषु सुत-शोकाग्नि-दह्यमानमात्मनं निर्यापयामि। देखिए केवल गंगा ही नहीं 'भागीरथी' शब्द तक मौजूद है। रत्नाकरजी के 'हरिश्चन्द्र' में सरयू का वर्णन रहते यह कहना कि गंगा का वर्णन नहीं आया अनर्गल है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

> मुनि अनुसासन गनपतिहिं, पूजेउ संभु-भवानि।
> कोउ सुनि संसय करै जनि, सुर अनादि जिय जानि॥

गंगाजी को भी 'सुर अनादि' मानें तो शंका निर्मूल हो जाती है और गणेशजी की माता की अग्रजा को देवी मानना ही पड़ेगा। भगीरथ-नन्दनी, जाह्नवी, ब्रह्मस्वरूपिणी आदि पौराणिक आख्यान लेने से वे देवी बनाकर अनादि हो जायँगी। गंगाजी को नदी ही माना जाय तो यह कहना कि राजा भगीरथ के पहिले गंगाजी भारत में नहीं थी बिलकुल तथ्यहीन होगा। विचारिये कि हिमालय से लेकर विंध्य तक तथा पंजाब से लेकर ब्रह्मा तक के बीच की जितनी नदियाँ हैं सभी गंगा की सहायक हैं। यदि गंगा न होती तो सारी नदियों का जल समुद्र में कैसे पहुँचता। वास्तव में भागीरथी के आख्यान में कितना ऐतिहासिक तथ्य है, यह विचारणीय है। इक्ष्वाकु-वंशीय राजों ने इस खोज में विशेष भाग लिया था और अनेक पीढ़ियों के बीतने पर

अन्त में भगीरथ को गंगासागर का दर्शन हुआ होगा। हिमालय के उच्चतम शिखर गौरीशङ्कर का एक नाम माउन्ट एवरेस्ट है। क्या एवरेस्ट साहब के पहिले उस शृंग का नाम देना भी देश-काल-दोष माना जायगा? यह ऐसे ही समालोचक बतला सकेंगे।

स्वप्न में दान देने की कथा भारतेन्दुजी की निज की उपज है। चंडकौशिक तथा सत्यहरिश्चन्द्रम् में प्रत्यक्ष ही दान देने की कथा है। सत्यहरिश्चन्द्रम् में रामचन्द्र ने एक हरिणी को मार डालने के कारण सारा राज्य कुलपति को दिला दिया और उनकी कन्या वंचना को न रोने के लिये लक्ष सुवर्ण दिलाया। भारतभूमि में उत्पन्न हुये मनुष्यों में प्रायः यही धारणा रहती थी कि यह संसार स्वप्न है। जिस प्रकार रात्रि व्यतीत होते ही स्वप्न स्वप्न मात्र रह जाता है, उसी प्रकार मृत्यु होते ही संसार भी स्वप्नमात्र रह जायगा। भारतेन्दु ने ऐसी शंका उठने की शंका करके ही यह बात महारानी शैव्या द्वारा कहला डाली और उसका भारतीय विचारों के अनुकूल समाधान करा दिया। साथ ही कुछ ही आगे उसी स्वप्न को सशरीर विश्वामित्र के रूप में लाकर खड़ा कर दिया कि उसे पाठकगण 'स्वप्नमात्र' न समझें। ऐसी अवस्था में यह सत्य विचार एक स्वप्न मात्र नहीं रह जाता और राजा हरिश्चन्द्र का स्वप्न के दान को सत्य मानना उनके सत्य तथा दानवीरता की चरम सीमा प्रगट करता है। मनोविज्ञान-वेत्ताओं को यह भी जानना चाहिये कि यह आख्यान असाधारण पुरुषों का है। साधारण मानव प्रकृति यदि किसी प्रकार दब कर अपना सर्वस्व क्या उसका कुछ अंश भो दान करने पर वाध्य हो तो भी वह बाद को उस दान को न मानने ही की कोशिश करेगी। महारानी शैव्या के अपने स्वप्न के वृतांत कहने पर हरिश्चन्द्र को अपने स्वप्न का याद आना क्यों दूषित बतलाया जाता है यह नहीं कहा जा सकता। नाटक उपाख्यान आदि में एक बात का दूसरे से सम्बन्ध रहना ही चाहिए। कुस्वप्न देखने के कारण शैव्या के मलीन मुख को देखकर उसका हाल पूछने के

पहिले अपना ही रोना रोना क्या उचित होता ? महारानी के स्वप्न तथा शांति का वृत सुनकर राजा हरिश्चन्द्र ने अपने स्वप्न का हाल कहा है।

विश्वामित्र के आने पर चंडकौशिक के दो श्लोक उद्धृत किए गए हैं, जिनके कुछ अंशों पर आपत्ति की जाती है पर किसी दूसरे की कविता में कुछ रद्दो बदल करना अनुचित होना इसलिये ये ज्यों के त्यों रख दिए गए ज्ञात होते हैं। इन्हें न रख कर उसके स्थान पर हिन्दी ही में परिचयादि दिए जाते तो उत्तम होता। पृथ्वीदान ग्रहण करके विश्वामित्र के दक्षिणा माँगने पर राजा हरिश्चन्द्र का यह कहना—'मंत्री दस हजार स्वर्ण मुद्रा अभी लाओ' भी मनोविज्ञानवेत्ताओं को खटकता है और वे उसे भोंडी बात समझते हैं। सत्य ही क्या जब मनुष्य लोग अपने मकान बेंचते हैं, किराए पर देते या दान देते हैं तो उस मकान की सब वस्तु को तुरन्त क्रेता, किराएदार या दानपात्र की समझ लेते हैं ? यदि कहिए कि दान देनेवाला गृह खाली कर और उसमें दान ही की वस्तुमात्र रखकर दान देता है तब दाता महाशय भी उस मकान में नहीं रहते और बाहर ही रहकर दान देकर रास्ता लेते हैं। राजा हरिश्चन्द्र अपनी राजधानी में खड़े होकर दान दे रहे थे तथा पृथ्वी से अपने इस कार्य के लिए क्षमा याचना कर रहे थे कि दक्षिणा माँगने पर स्वाभावानुसार मंत्री को मुद्रा लाने के लिये कह देते हैं। सत्य हरिश्चन्द्र में कई स्थानों पर एक सहस्र ही लिखा है पर वह छापे की अशुद्धि है क्योंकि उन्हीं संस्करणों में बिक्री के समय अपना मूल्य राजा हरिश्चन्द्र ने पाँच सहस्र कहा था तथा चांडाल ने पचास सौ दिए भी थे। इस कारण ठीक पाठ दस सहस्र ही है।

काशी पहुँचने पर राजा हरिश्चन्द्र के काशी तथा गंगाजी का वर्णन करते और विश्वामित्र से बातचीत करते समय तक शैव्या तथा रोहिताश्व कहाँ थे। 'इसका संकेत करना आवश्यक है कि वह वहाँ नहीं थी। शैव्या आदि न जाने कहाँ थी अब तक इसी बात का पता नहीं था और अब आप लिखते हैं कि उनके वहाँ न रहने का संकेत करना आवश्यक

है। चंडकौशिक का अनुवाद कहते हुए भी आप ही लिखते हैं कि उसमें इन बातों का लक्ष्य कराया गया है। दोनों ही कैसे हो सकता है?

दूसरे अंक के अन्त में जो दोहा है उससे यह स्पष्ट ही ध्वनित हो रहा है कि स्त्री-पुत्र-सहित अपने को बेंचकर दक्षिणा चुका देंगे। इससे काशी में उनका बिकने के लिए साथ आना सभी दर्शकों को मालूम हो गया। अंकावतार में भी इतना स्पष्ट रूप से कहला दिया गया है। जब तक हरिश्चन्द्र रंगमंच पर आकर काशी तथा गंगा वर्णन और विश्वामित्र से बात चीत कर रहे थे उस समय तक शैव्या तथा रोहिताश्व का वहाँ खड़ा रहना बेकार था। सभी समझ सकते हैं कि वे दोनों राजा हरिश्चन्द्र के पीछे होंगे और समय पर आ जायँगे। जब हरिश्चन्द्र ने अपने को बेंचने के लिए आवाज लगाया तब उसे सुनकर शैव्या का झट आकर अपने को पहिले बेचने के लिए कहना बिलकुल स्वाभाविक है। क्या जितने पात्र अंक के बीच में रंगमंच पर आते हैं, वे पहिले कहाँ थे यह सूचित करना किसी नाट्यशास्त्र का नियम है? यात्रा करते-करते शैव्या का थक जाना तथा राजा हरिश्चन्द्र को दृश्य देखते हुए उसके वर्णन करने में लीन देखकर नेपथ्य ही में ठहर जाना और ठीक समय पर उनकी आवाज सुनकर आ जाना क्या सहज स्वाभाविक नहीं है।

कुछ ऐसी ही बात दूसरे अंक के लिये भी कही गई है। शैव्या के रंगमंच पर रहते हुए भी आपको उसका पता नहीं। यदि थी तो उसने प्रणाम क्यों नहीं किया? क्यों करे? कहाँ पति-पुत्र का अशुभ-सूचना उस पर पति के सर्वस्व दान करने की चिंता और कहाँ अज्ञात नाम गोत्र ब्राह्मण का आगमन, जिसके विषय में यह आशंका है कि कहीं उनके दुःख का वही मूल कारण तो नहीं है। राजा हरिश्चन्द्र तो स्वागत और प्रणाम करके लाने गये और कहाँ उस दुर्वासा के अवतार ने इतना क्रोध दिखलाया कि राजा साहब ही घबरा गये तब बतलाइये कि रानी साहबा

भी कुछ सुनने जाती । यहाँ तक शंकाओं के कुछ समाधान करने की चेष्टा की गई है ।

६—प्रेम योगिनी

यह एक अपूर्ण नाटिका है और भारतेन्दुजी की अच्छी मौलिक रचनाओं में इसकी गणना की जाती है । पहिले इसके दो दृश्य लिखे गए थे, जिनमें प्रथम में 'काशी के बदमाशों और बुरे चाल चलन के लोगों का वर्णन और दूसरे में काशी की प्रशंसा, यहाँ के मिलने के योग्य महात्माओं के नाम, देखने योग्य स्थानों का वर्णन इत्यादि' है । ये दोनों दृश्य हरिश्चन्द्र चन्द्रिका (खंड १ सं० ११ और खंड २ सं० ३, ७, सन् १८४५) में प्रकाशित हुये थे । यही 'काशी के छाया चित्र अर्थात् काशी के दो बुरे भले फोटोग्राफ' नाम से चंद्रिका से उद्धृत होकर हरिप्रकाश प्रेस से प्रकाशित हुए थे । इसके अनंतर इसके केवल दो दृश्य और लिखे गए और यह नाटिका अपूर्ण रह गई । नहीं कहा जा सकता कि भारतेन्दुजी ने इस नाटिका को स्वतः, किसी दबाव या समयाभाव के कारण पूर्ण नहीं किया । काशी के इस प्रकार के अनेक दृश्य चित्रित करने को बच गए थे और भारतेन्दुजी इसमें कुछ अपना भी वर्णन दे रहे थे, इसलिए यदि यह नाटिका पूर्ण हो जाती तो अवश्य ही विशेष महत्व की होती ।

इस नाटिका की प्रस्तावना में भारतेन्दुजी के अपने विषय में इस प्रकार सूत्रधार से कहलाया है कि दुष्ट छिद्रान्वेषियों के कारण ' प्रेम की एक मात्र मूर्ति, सत्य का एक मात्र आश्रय, सौजन्य का एक मात्र पात्र, भारत का एक मात्र हित, हिन्दी का एक मात्र जनक, भाषा नाटकों का एक मात्र जीवनदाता हरिश्चन्द्र ही दुखी है।' और 'तेरा तो बाना है कि कितना भी दुख हो उसे सुख ही मानना । लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्ति तक का परित्याग कर दिया है और जगत से विपरीत गति चल के तूने

प्रेम की टकसाल खड़ी की है।' 'कहैंगे सबैही नैन नीर भरि भरि पाछे प्यारे हरिचन्द्र की कहानी रहि जायगी।' इन सब से आत्म-क्षोभ पूर्ण रूपेण झलक रहा है। यह प्रस्तावना सं० १९३१ वि० में चन्द्रिका में प्रकाशित हुई थी और भारतेन्दु जी की जीवनी से ज्ञात होता है कि यह वह समय था जब इनकी अवस्था २५ वर्ष की थी। सं० १९२७ में भाई से इनका बँटवारा हो गया था और इसके पाँच वर्ष बाद इनकी मातामही ने एक वसीयतनामा लिखकर इनका हिस्सा इनके छोटे भाई को इस कारण दे दिया था कि इन्होंने 'जायदाद मौरूसी बर्बाद कर दर्जा आवांरी को पहुँचा दिया'। अर्थसंकोच के साथ इस तरह की बातें सुनने से इनमें आत्म-क्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। नाटिका में इसके कारण का कुछ आभास मिलता है।

प्रस्तावना के बाद प्रथम गर्भांक में गोपाल मंदिर का दृश्य है और आरम्भ ही में 'बाबू किहाँ बैठ के ही-ही-ठी-ठी करा चाहैं' कहकर अपना साधारण परिचय दे दिया है। झपटिया तथा मिश्र जी की बातचीत से मंदिर के खुलने में कुछ देर ज्ञात होती है, तब से दर्शन करने वाले आते हैं और आपस में बातचीत होती है। बा० रामचंद्र के विषय ही में चर्चा छिड़ती है और 'हा हा-ठी-ठी' 'दुइ चार कवित्त बनाय लिहिन' से आरम्भ होता है। 'कवित्त तौ उनके बापौ बनावत रहे' में बा० गोपालचन्द्र का उल्लेख है और तत्कालीन क्या इस काल में भी अग्रवाल-समाज कवित्त बनाना 'भाटन का काम है' समझता है। भारतेन्दु जी के विषय में लोग क्या क्या अनर्गल बातें कहते थे उन सबका बड़ी सौम्यता के साथ वर्णन किया गया है। प्रातःकाल कुछ रात्रि रहते ही जाते समय रईसी प्रथानुसार मशाल साथ ले जाने का अर्थ छक्कू जी के मुख से खूब कहलाया है। इस तरह व्यंग्य की बौछार करना तुच्छ हृदय वालों के लिए साधारण बात है। बँटवारा तथा वसीयत के बाद मल्लू जी के मुख से यह कहलाना कि 'छोटे चित्त के बड़े खोटे हैं', इनके हृदय की उच्चता का द्योतक है।

क्योंकि इससे कड़े शब्द का प्रयोग करना उनके लिए कठिन हो था। कुछ के मुख से छप्पन भोग के सुख बतलाए गए हैं तथा धनदास-वनितादास की बातचीत में गुरु तथा शिष्य-शिष्याओं के चरित्र दिखलाए गए हैं। इसके अनंतर स्वयं नाटककार रामचद्र के रूप में रंगमंच पर आते हैं और 'एक तजवीज के साथ' 'अंधरी मजिस्टरों' तथा उनकी कचहरी का हाल बतलाते हैं। बस इसी समय दर्शन खुलता है और दृश्य पटाक्षेप के कारण बंद हो जाता है।

बनारस में 'बहरी तरफ' जाने की प्रथा बहुत पुरानी है। नगर से बाहर हटकर बाग-बगीचे, प्रसिद्ध कुएँ, गगा के उस पार आदि स्थानों में चार छ मित्रों की टोलियाँ बंधकर जाती हैं और भाँग ठंढई छानकर, दिशा-फरागत से निपटकर और धोती अँगौछे पर साफा देते हुए स्नान आदि से निवृत्त हो लौटती हैं। समय विशेषकर सायंकाल रहता है। अब भी यह प्रथा जारी है। ऐसे स्थानो पर एकत्र हुए लोगों में बातचीत बोली-ठोली होती है, यहाँ तक कि कभी कभी साधारण लोग मार पीट भी कर बैठते हैं। काशी में गैबी नाम से दो स्थान प्रसिद्ध हैं, एक बड़ी गैबी और दूसरी छोटी गैबी कहलाती है। यहाँ पहिले सैकड़ों मनुष्य संध्या को इकट्ठे होते थे, अब भी लोग जा रहते हैं। भारतेन्दुजी ने अपने समय के जमावड़ों का आँखों देखा दृश्य लिखा है। इसके पात्र दलाल, गंगापुत्र, भंडेरिया, दूकान-दार, गुंडा, यात्री और मुसाहिब काशी के विशिष्ट निवासी हैं। काशी तीर्थ स्थान है, इससे यात्री तथा उनको पुजाने वाले यहाँ की विशेषता हैं। इन्हीं लोगों का वृत्त इन्हीं के भाषा में सरलता पूर्वक दिखलाया गया है। प्रत्येक पात्र अपने समाज का पूरा नमूना है। यात्री के मुख से काशी का एक प्रकार का विवरण कहला कर उसके बुरे पक्ष का अच्छा चित्रण किया गया है और लुच्चे बदमाश किस प्रकार अकारण दूसरों से लड़ाई मोल लेते हैं, यह भी दिखलाया गया है। भारत के इतिहास से भी पता चलता है कि यहाँ के वीरों की उद्दंडता इतनी बढ़ी थी कि उनके सामने

मूछ ऐंठने से तलवार चल पड़ती थी, यहाँ तक कि वे हवा से उनकी मूछ हिला देने के कारण लड़ पड़ते थे, इसीलिए अब यहाँ के वर्तमान वीरों ने मूछ ही का सफाया कर दिया, न रहेगी न लड़ाई मोल लेनी पड़ेगी।

तीसरे गर्भांक में मुगलसराय स्टेशन का दृश्य दिखलाया गया है। ज्ञात होता है कि उस समय तक काशी तथा सिकरौल स्टेशन नहीं बने थे। मुगलसराय स्टेशन सन् १८६२ ई० में खुला था और उसकी शाखा गंगा जी के उस पार तक आई थी। सन् १८८७ ई० में पुल बनने पर इधर के स्टेशन बने। स्टेशन ही पर यात्रियों को पंडे मिल जाते हैं और काशी की प्रशंसाकर यहाँ लाते हैं। इसी व्याज से इस दृश्य - सुधाकर द्वारा काशी का माहात्म्य, स्थान आदि सब कहलाए गए हैं तथा काशी की प्रशंसाकर उसके दूसरी ओर का चित्रण भी पूरा कर दिया गया है।

चौथे गर्भांक में काशी में बसे हुए दाक्षिणात्यों का चित्र खींचा गया है। इनकी भाषा हिन्दी तथा मराठी दोनों ही है, कभी हिन्दी बोले कभी मराठी। इन लोगों को भाँग बूटी तथा भोजन की सदा फिक्र रहती है, यही बातचीत में दिखलाया गया है पर साथ साथ शास्त्र की विवेचना भी है और सर्वोपरि 'विप्रवाक्ये जनार्दनः'। पंडितों की सभा व्यवस्था देने के लिए होती है पर प्रायः एक विचार के लोग निमंत्रित होते हैं। 'जो इसमें अनुमति करेंगे वे भी अवश्य सभासद होंगे।' 'इतना ही न।' कैसा सरल उत्तर है, सभा मिल जाय तो जो कहा जाय उसी के अनुकूल व्यवस्था देने को कितने तैयार हैं। इसके अनंतर कुछ अपने विषय में कहला कर सबको बहरी तरफ रवाना कर जवनिका गिरा दी जाती है। बस यहीं यह नाटिका समाप्त हो गई और इसके आगे नहीं लिखी गई।

इस नाटिका में कोई ऐसी संबद्ध कथा नहीं है, जिससे सभी दृश्यों में संबंध स्थापित हो सके। यह तो किसी रमते राम का एक तीर्थ-स्थान में जाकर उसकी विशेषता का ऐसे रूप में वर्णन करने का प्रयास है जो अभिनीत होकर रंगमंच पर दिखलाया जा सके। इसका अभिनय हुआ भी है और

अभी भारतेन्दु-अर्द्ध-शताब्दि पर इसके एक दृश्य का अभिनय हुआ था, जिससे दर्शकों का अत्यंत मनोरंजन हुआ था। प्रेमयोगिनी इसका नाम स्यात् इसी कारण रखा गया कि इसमें जो कुछ वर्णन रहेगा वह एक तीर्थ यात्रिणी योगिनी द्वारा कथित तथा देखे हुए रूप में कहा गया रहेगा और स्त्री-समाज का भी वर्णन रह सकेगा।

इस नाटिका में भारतेंदुजी की निरीक्षण शक्ति का अच्छा विकास दिखलाई पड़ता है और साथ ही उसको मनोरंजक रूप में व्यक्त करने में भी वह बहुत सफल हुए हैं।

७—चन्द्रावली नाटिका

सं० १९३३ वि० में चन्द्रावली नाटिका की रचना हुई। यह नाटिका अनन्य प्रेम रस से प्लावित है और भारतेन्दु जी की उत्कृष्ट रचनाओं में से है। आरम्भ में एक शुद्ध विष्कम्भक देकर श्री शुकदेव जी तथा नारद जी से परम भक्तों के वार्तालाप द्वारा ब्रजभूमि के अनन्य प्रेम का माहात्म्य दिखलाते हुए नाटिका आरम्भ की गई है। ये दोनों पात्र केवल 'कथांशानां निदर्शकः संक्षेपार्थः' लाए गए हैं और इनसे नाटिका के मुख्य कथा-वस्तु से कोई सम्बंध नहीं है। इसी से कवि ने इन दोनों के आने, जाने आदि का कुछ भी पता नहीं दिया है। इसमें वीणा पर उत्प्रेक्षाओं की एक माला ही पिरो डाली गई है। पहिले अंक में चन्द्रावली जी तथा ललिता सखी के कथोपकथन से उसका श्रीकृष्ण पर प्रेम प्रगट होता है। दूसरे अंक में श्री चन्द्रावली जी अपना विरह वर्णन कर रही हैं और उपवन में कई सखियों से वार्तालाप भी होता है। विरहोन्माद में प्रिय के अन्वेषणार्थ जो प्रलाप कराया गया है, वह यदि अभिनय की दृष्टि से कुछ अधिक लम्बा कहा जाय तो कह सकते हैं, पर अस्वाभाविक रत्ती भर भी नहीं होने पाया है। कोई भी सहृदय उसे पढ़कर उकता नहीं सकता। तीसरे अंक का अंकावतार

गुप्त पत्र भेजने का रहस्य बतलाता है। उसके अनन्तर कई सखियों के साथ चन्द्रावली जी आती हैं और वार्तालाप में कार्य साधन का उपाय निश्चित होता है। इसमें भी विरह-कातरा रमणी का कथन नीरसों के लिए आवश्यकता से अधिक हो गया है पर विरहिणी को आवश्यक अनावश्यक समझने की बुद्धि ही नहीं रह जाती। महाकवि कालिदास ने भी लिखा है कि 'कामार्ताहि प्रकृति कृपणाश्चेतना चेतनेषु'।

इन अंकों में वर्षा-वर्णन आया है और उसका विरहिणी के हृदय पर जो असर पड़ेगा वह पूर्ण रूप से दिखलाया गया है। वहाँ इन प्राकृतिक दृश्यों को चंद्रावली के मानवी-जीवन का अंग बनाकर दिखलाना मूर्खता मात्र होती। चौथे अंक में पहले श्रीकृष्ण जी योगिनी बनकर आते हैं और फिर ललिता तथा चंद्रावली जी आती हैं। अंत में युगल प्रेमियों का मिलन होता है। इसमें यमुना जी की शोभा का नौ छप्पयों में अच्छा वर्णन हुआ है। इसकी एक बात पर एक समालोचक लिखते हैं कि "एक विचित्र आदर्श भी उपस्थित कर दिया गया है। कहाँ तो चंद्रावली की माता उसका बाहर आना जाना बंद कर देती है और कहाँ योगिनी का वेष धारण किए हुए श्रीकृष्णचन्द्र जी के आने तथा अपना वास्तविक रूप प्रकट करने पर ठीक उसी समय माता का यह सन्देशा भी आ जाता है कि 'स्वामिनी ने आज्ञा दई है कि, प्यारे सों कही दै चन्द्रावली की कुंज में सुखेन पधारो'। न जाने किस आदर्श को सामने रखकर इस नाटिका के पात्रों का चरित्र-चित्रण किया गया है।" धन्य है, बलिहारी है, इस समझ की, सत्य ही 'जो अधिकारी नहीं' है। उनके समझ में न आवेगा।' हिन्दी-साहित्य की ब्रजभाषा की कविता का साधारण ज्ञाता भी यह जानता होगा कि ब्रजलीला की "स्वामिनी" श्री राधिका जी हैं। वहाँ किसी की माता, दादी या रानी स्वामिनी नहीं कहलाती थीं। ब्रज की गोपियों के लिए श्रीकृष्ण स्वामी तथा श्री राधा ही स्वामिनी थीं। चंद्रावली जी की माता अवश्य वृद्धा रही होंगी और श्रीकृष्ण जी को 'प्यारे सों'

शब्दों में सम्बोधित करना, जिसे वे स्यात् अपना दामाद बना रही थीं, कहीं अधिक विचित्र बतलाया जा सकता था, परन्तु समालोचक महोदय की दृष्टि उधर नहीं पड़ी, नहीं तो इसे भी अवश्य लिखते ; जिसने यह सन्देश कहा था उसी की बात कुछ ही पंक्ति बाद आप पढ़ लेते तो इस शब्द से किससे प्रयोजन है, यह स्पष्ट हो जाता। वह कहती है ' तो मैं और स्वामिनी में कुछ भेद नहीं है, ताहू में तू रस की पोषक ठैरी। ' और तीसरे अंक में दोनों को मिलाने का जो उपाय निर्धारित हुआ था उसमें प्रिया जी अर्थात् आराधिका जी से आज्ञा प्राप्त करने की और ' याके घरकेन सों याकी सफाई करावै ' की दो बातें तै हुई थीं । वही आज्ञा समय पर मिली, क्योंकि यदि यह आज्ञा पहिले ही मिली होती तो श्रीकृष्ण जी को योगिनी के छद्मवेश में आने की आवश्यकता न पड़ती।

इस नाटिका की कविताएँ विशेष रूप से हृदय-ग्राहिणी हैं। मार्मिक बातें ऐसी सरलता-पूर्वक कह दी गई हैं कि हृदय पर चोट करती हैं। भाषा अत्यंत मधुर और प्रौढ़ है । निस्पृह दैवी प्रेम का मनोमुग्धकारी उज्ज्वलतम सुन्दर जीता जागता चित्र खड़ा कर दिया गया है। क्यों न हो, यह सच्चे भक्त के निज हृदय का प्रतिबिम्ब है। इस नाटिका का संस्कृत अनुवाद सं० १९३५ की ' हरिश्चन्द्र चन्द्रिका तथा मोहन चन्द्रिका ' में क्रमशः छपा है । यह अनुवाद प० गोपाल शास्त्री ने किया था जो बहुत अच्छा हुआ है। भरतपूर के राव कृष्णदेवशरण सिंह ने इसका ब्रजभाषा में रूपान्तर किया है । भारतेन्दु जी इसका अभिनय कराया चाहते थे पर उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी।

विरह वर्णन

चन्द्रावली नाटिका का मुख्य रस विप्रलम्भ शृंगार है, इसलिए उसका कुछ वर्णन यहाँ दिया जाता है । भारतेन्दु जी का विरह-वर्णन पुरानी रूढ़ि के कवियों के वर्णन से कुछ भिन्न है। इनमें अतिशयोक्ति

की कमी और स्वाभाविकता का आधिक्य है। यद्यपि पुराने कवियों ने कल्पनाओं की खूब उड़ान मारी है, बड़े बड़े बाँधनू बाँधे हैं, पर सभी में अनैसर्गिकता पद-पद पर साथ लगी चली आई है। हिन्दी तथा उर्दू दोनों ही के कवियों ने विरह के ऐसे ऐसे चित्र खींचे हैं जिन्हें जयपुर के चित्रकारों की बारीक से बारीक कलम की नजाकत भी नहीं दिखला सकती। उर्दू के दो उस्तादों की उस्तादी की बातें सुनिए और आँखें मूँद कर ध्यान कीजिए, कुछ समझ में आता है—

> इन्तहाए लागरी से जब नजर आया न मैं।
> हँस के वह कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिए॥
> नातवानी ने बचाई जान मेरी हिज्र में।
> कोने-कोने ढूँढती फिरती कजा थी, मैं न था॥

पहले साहब ऐसे चिचुककर अमहर हो गए थे कि नहीं के बराबर हो रहे थे। उन्हें न देखकर माशूक हँस पड़ा, देखता तो शायद रो पड़ता पर जब वह दिखलाई ही न पड़ा तब सिवा हँसने के झेंप मिटाने का और उपाय ही क्या था। हाँ खोजने के लिए बिस्तर झाड़ने का हुक्म हुआ मानो आशिक पिस्सू बनकर उसके नीचे दबक गया था। दूसरे साहब की बात ही निराली है। पहले तो यही ज्ञात होता है कि बेचारे इस हिज्र से बड़े प्रसन्न हैं कि उसने इन्हें ऐसा नातवाँ कर दिया है कि मौत भी उन्हें ढूँढकर न पा सकी और उनकी जान बच गई। यदि हिज्र न होता तो स्यात् इनकी मुटाई से कजा को अधिक परिश्रम न करना पड़ता और 'मैं न था' सत्य हो जाता।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि बिहारी की विरहिणी परमाणुकता को पहुँची थी। वह भी गलपचकर ऐसी अदृश्य हो गई थी कि मीच (मृत्यु) चश्मा लगाकर भी उसे नहीं देख सकती थी। यद्यपि विरहिणी सामने से छूटती नहीं थी पर यह स्यात् मृत्यु चाहने में आगा पीछा कर रही थी,

नहीं तो झट मृत्यु से कहकर ऐसे विरह-कष्ट से छुटकारा पा जाती। दोहा इस प्रकार है—

करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाँड़तु नीच।
दीनेहू चसमा चखनि चाहै लखै न मीच॥

इसके सिवा विरहिणी की विरहाग्नि उसी तक नहीं रह जाती, उसके पास जाने वाली सखी झुलसने लगती है, गुलाब का कंटर सूख जाता है, सीसी पिघल जाती है, विसा अरगजा सूखकर अबीर हो जाता है इत्यादि। अग्नि और बढ़ती है, गाँव का गाँव ही गर्मी से तड़फड़ाने लगता है, जाड़े में ग्रीष्म से बढ़कर तपन हो जाती है। अति हो गई! खसखाने में विरहिणी अपनी ही गर्मी से औटी जाती है! धन्य है, अतिशयोक्ति क्या नहीं कर सकती! चुहलबाज इंशा ने ऐसी ही विरहिणी के आह को भाड़ कहा है—

जो दानेहाय अंजुमे गर्दा को डाले भून।
उस आह शोलाखेज को 'इंशा' तू भाड़ बाँध॥

विरहाग्नि से गाँव की नदी ऐसी खौल उठी कि समुद्र तक पहुँचकर उसने उसे गरम कर डाला और बड़वाग्नि का जलाने लगी। जायसी ने भी ऐसी ही विरह-विषयक अंट-संट बातें कही हैं। बिरही के लिखे पत्र के अक्षर अंगारे हो रहे थे, जिससे कागज के न जलते हुए भी उसे कोई छूता न था, तब सुग्गा उसे ले चला। अन्य स्थान पर कहते हैं कि विरह-कथा जिस पक्षी से वह कहता था उसके पक्ष सुनते ही जल जाते थे। मालूम होता है कि वह सुग्गा भी कागज की तरह किसी विरह-साबर मंत्र से सुरक्षित किया गया था।

इस प्रकार के ऊहात्मक अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन में सत्य का लेश भी न होने से वे सार-हीन हो गए हैं, जिन्हें सुनने से विरही-विरहिणी के असीम दु:खों के अतिशयाधिक्य का अन्दाजा शायद कुछ लोगों को लगता हो पर श्रोतागण उससे संवेदना करने के बदले इन बातों की करामात में

फँस जाते हैं और उनकी तीव्र वेदना से उत्पन्न तपन की जो नाप बतलायी जा रही है, उसी के गोरखधंधे में उलझ जाते हैं। तात्पर्य इतना ही है कि ऐसे वर्णन से श्रोता या पाठक की दृष्टि, विरही विरहिणी पर न रहकर कवि की अत्युक्ति-पूर्ण असम्भाव्य बातों के घटाटोप में बन्द हो जाती है। यदि यही अत्युक्तियाँ सम्भाव्य हों, ऐसे वर्णनों का आधार सत्य और स्वाभाविक हो तो पाठकों के हृदय में उनके चित्र तुरन्त खचित हो जायँगे और विरही-विरहिणी के प्रति उनकी संवेदना तुरन्त आकृष्ट हो जायगी। आह रूपी नागिन ने उड़कर आकाश को काट लिया, जिससे वह नीला हो गया, ऐसे वर्णन में आधार आकाश का नीला होना सत्य है, पर उसका जो कारण बतलाया गया है वह असत्य है। इस वर्णन में सत्य आधारों का विरह के कारण वैसा होना दिखलाने के लिए ऐसे हेतु का आरोपण किया जाता है, जिससे वैसा होना सम्भव हो। सर्प के दंशन से विष फैलने पर मनुष्य नीला हो जाता है, इसलिए आहरूपी सर्प के दंशन से आकाश का नीला होना कहना अनौचित्य की सीमा तक नहीं पहुँचा। कल्पना की उड़ान इसमें भी ऊँची उड़ी है परन्तु फिर भी कुछ गाम्भीर्य है, कोरा मजाक नहीं।

विप्रलम्भ शृंगार के चार भेद होते हैं, पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण। समागम होने के पहिले केवल दर्शन, गुण-श्रवण आदि से प्रेम अंकुरित होने पर मिलन तक का विरह पूर्वानुराग के अन्तर्गत है। प्रेमियों के एक दूसरे से कारणवश रुष्ट होने पर उत्पन्न वियोग मान कहलायेगा। जब दो में से एक कहीं विदेश चले जायँ तब प्रवास-विप्रलम्भ होता है। प्राचीन आचार्यों ने प्रेमियों में कितना अन्तर पड़ने पर ऐसे वियोग को प्रवास विप्रलम्भ कहना चाहिये, इस पर विचार नहीं किया है, परन्तु एक आधुनिक आचार्य एक स्थान पर लिखते हैं कि 'वन में सीता का वियोग चारपाई पर करवटें बदलवाने वाला प्रेम नहीं है—चार कदम पर मथुरा गए हुए गोपाल के लिए गोपियों को बैठे बैठे रुलाने वाला वियोग नहीं

है, झाड़ियों में थोड़ी देर के लिए छिपे हुए कृष्ण के निमित्त राधा की आँखों से आँसुओं की नदी बहाने वाला वियोग नहीं है, यह राम को निर्जन वनों और पहाड़ों में घुमानेवाला, सेना एकत्र कराने वाला, पृथ्वी का भार उतरवाने वाला वियोग है। इस वियोग की गम्भीरता के सामने सूरदास द्वारा अंकित वियोग अतिशयोक्ति-पूर्ण होने पर भी बालक्रीड़ा सा लगता है।' इस उद्धरण में पहिले यही नहीं पता लगता कि श्रीरामचन्द्र से सबल पुरुष की राधा-गोपी आदि अबलाओं से समता क्यों की गई है। क्या ये अबलाएं रणचंडी बनकर मथुरा या लाखों 'चार कदम' दूर द्वारिका पर चढ़ जातीं और कृष्ण को पकड़ लातीं! मान-विरह दो चार कदम क्या एक कदम की दूरी न रहने पर भी हो सकता है। जब रावण के समान कोई नृशंस पुरुष किसी की प्रणयिनी उड़ा ले जाय तभी तो वह विरही होते हुए भी वीर पुरुष के समान उससे अपनी प्रणयिनी को छीन लाने का प्रयत्न करेगा। परन्तु जब दोनों प्रेमी वन्य प्रदेश में घूमते-फिरते किसी प्रकार एक दूसरे से कुछ मान होने के कारण छूट गए उस समय प्रेमी, चाहे झाड़ों में छिपा हुआ तमाशा ही देख रहा हो, प्रणयिनी अबला अवश्य ही मान, रोष, विरह, दुःख आदि के कारण रो बैठेगी। इसमें रत्ती भर भी अस्वाभाविकता नहीं है। कुछ समालोचक जब एक कवि की आलोचना करते रहते हैं तो अन्य कवियों पर कुछ फबतियाँ कसते जाते हैं। यह एक प्रथा-सी हो गई है।

करुण-विप्रलम्भ नायक तथा नायिका दो में से एक के मरण-पश्चात् दूसरे के शोक को कहा जा सकता है परन्तु उसी अवस्था तक जब तक इस बात की आशा होती है कि वह पुनः जीवित हो उठेंगे। सत्यवान की मृत्यु पर सावित्री का रुदन इसी प्रकार का है क्योंकि उसे दृढ़ आशा थी कि उसका पति पुनः जी उठेगा। यदि जी उठने की आशा ही न रहे तो करुण-विप्रलम्भ न रहकर करुण रस हो जायगा।

श्री 'चन्द्रावली नाटिका हिन्दी-साहित्य की एक अमूल्य निधि है

और इसकी सभी विशेषता एक मात्र 'प्रेम' शब्द में भरी पड़ी है। इसका विरह-वर्णन इतना स्वाभाविक, इतना हृदयग्राही और संवेदना-उत्पादक है कि इसको पाठक या श्रोता-गण पढ़-सुनकर तन्मय हो जाते हैं। समस्त नाटिका में शृंगार-रस का वियोग पक्ष ही प्रधान है, केवल अंत में मिलन होता है। 'प्रेमियों के मंडल को पवित्र करने वाली' चन्द्रावली में श्रीकृष्ण की बाल सुलभ चपलता, सौंदर्य तथा गुण सुनने से पूर्वानुराग उत्पन्न होता है। आस-पास के गाँव में रहने से देखा-देखी भी होती है और यह सब व्यापार प्रेम रूप में परिणत हो जाता है। 'वह सुन्दर रूप विलोकि सखी मन हाथ ते मेरे भग्यो सो भग्यो।' इस प्रकार प्रेम का आधिक्य हो जाने पर उसे छिपाना कठिन हो जाता है। सखियाँ प्रश्न करती हैं, हठ करती हैं, तब बतलाना पड़ता है। विरह-कष्ट विशेष रूप से प्रकट न होने से जब शंका होती है तब उत्तर मिलता है—

मन मोहन तें बिछुरी जब सों,
तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
'हरिचंद जू' प्रेम के फंद परीं,
कुल की कुल लाजहिं खोवती हैं॥
दुख के दिन कों कोऊ भाँति बितै,
बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हमहीं अपुनी दशा जानै सखी,
निसि सोवति हैं किधौं रोवती हैं॥

सत्य ही दूसरे का दुख कौन समझ सकता है। कष्ट के दिन तो किसी प्रकार बीत भी जाते हैं पर रात्रि कैसे व्यतीत होती है, यह दुखिया ही समझ सकता है। इस पद का पूर्वानुराग नीली राग ही कहलायेगा, यद्यपि आगे चलकर चंद्रावली जी का यह अनुराग मंजिष्ठा राग में परिवर्तित हो गया है। किस प्रकार यह अनुराग बढ़ा है, इसके कथन के साथ साथ निम्न-

लिखित पद में विरह की तीन दशाएँ—अभिलाषा, चिंता तथा स्मृति भी लक्षित हो रही हैं।

पहिले मुसुकाइ लजाइ कछू,
क्यौं चितै मुरि मो तन छाम कियो।
पुनि नैन लगाइ बढ़ाइ कै प्रीति,
निबाहन को क्यौं कलाम कियो॥
'हरिचंद' भए निरमोही इते,
निज नेह को यों परिनाम कियो।
मन माँहि जो तोरन ही की हुती,
अपनाइ के क्यों बदनाम कियो॥

विरह से उद्वेग बढ़ा, उन्माद के लक्षण दिखलाई पड़ने लगे और जड़ तथा चेतन का भेद न रह गया। 'राजा चन्द्रभानु की बेटी चन्द्रावली' पक्षियों पर बिगड़ उठती है, कहती है—"क्यों रे मोर! इस समय नहीं बोलते? नहीं तो रात को बोल-बोल के प्राण खाए जाते थे। कहो वह कहाँ छिपा है?

अहो अहो बन के रूख कहूँ देख्यौ पिय प्यारो।
मेरो हाथ छुड़ाइ कहौ वह कितै सिधारो॥
अहो कदंब अहो अंब-निंब अहो बकुल तमाला।
तुम देख्यौ कहुँ मनमोहन सुंदर नँदलाला॥
अहो कुंज-बनलता बिरछ तृन पूछत तोसों।
तुम देखे कहुँ श्याम मनोहर कहहु न मोसों॥
अहो जमुन अहो खग मृग हो अहो गोबरधनगिरि।
तुम देखे कहुँ प्रान-पियारे मनमोहन हरि॥

कैसी उन्मत्त दशा है, ये पेड़ पक्षी भी अपने साथ सहानुभूति दिखलाते हुए ज्ञात होते हैं पर बेचारों का कुछ वश चलता नहीं। विरहिणी उनसे बड़े दुलार के साथ, आदर के साथ पूछती है पर वे निरुत्तर हैं। उन्मादिनी

के कान में किसी ने वर्षा का शब्द पहुँचा दिया। बस, वह अपने घनश्याम आनंदघन का स्वप्न देखने लगी। वह कहती है—

> बलि साँवरी सूरत मोहिनी मूरत,
> आँखिन को कबौं आइ दिखाइये।
> चातक सी मरैं प्यासी परी,
> इन्हें पानिप रूप-सुधा कबौं प्याइये॥
> पीत परे बिजुरी से कबौं,
> 'हरिचंद जू' धाइ इतै चमकाइये।
> इतहू कबौं आइकै आनंद के घन,
> नेह को मेह पिया बरसाइये॥

सच्चे प्रेमी चातक-स्वरूप हैं, उनकी प्यास, हृदय-तृष्णा, उन्हीं के प्रेम-पात्र के मिलने से तृप्त होती है, उससे हजार गुना बढ़कर सौंदर्यादि गुणों से युक्त पात्र को देखने से नहीं होती। ऐसी विरहिणी को दिन होता है तो शोक, संध्या होती है तब भी शोक। चन्द्र की सुधामयी किरणों तथा सूर्य की उत्तप्त रश्मियाँ उनके लिए समान हैं। चन्द्रोदय होने पर पहले उसमें वह अपने प्रिय 'गोप-कुल-कुमुद- निसाकर उदै भयो' मानती हैं और जब वह भ्रांति मिटती है, तब उसे सूर्य समझ कहती हैं—

> निसि आजहूँ की गई हाय बिहाय,
> पिया बिनु कैसे न जीव गयो।
> हतभागिनि आँखिन कों नित के,
> दुख देखिबे कों फिर भोर भयो॥

जब चंद्रमा बादल के आ-जाने से छिप जाता है, तब एका-एक उसे रात्रि का पता चलता है। वह घबराकर कहती है—"प्यारे देखो, जो जो तुम्हारे मिलने में सुहावने जान पड़ते थे वही अब भयावने हो गए। हा! जो वन आँखों से देखने में कैसा भला दिखाता था, वही अब कैसा भयंकर दिखाई पड़ता है। देखो सब कुछ है एक तुम्हीं नहीं हो। प्यारे! छोड़

के कहाँ चले गए ? नाथ ! आँखें बहुत प्यासी हो रही हैं, इनको रूप-सुधा कब पिलाओगे ? ”

विरह दशा में यदि सहायक मिल जाय तो अवश्य ही विरहकष्ट कुछ कम हो जाता है, आशा बड़ी बलवती होती है, पर इस दशा में निरवलम्बता ही अधिक मालूम होती है और इसी से यह कष्टकर होती है। विरहिणी कहती है—“अरे मेरे नित के साथियों, कुछ तो सहाय करो।”

अरे पौन सुख-भौन सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यों न कहौ राधिका-रैन सों मैन निवारो॥
अरे भँवर तुम श्याम रंग मोहन-व्रत-धारी।
क्यों न कहौ वा निठुर श्याम सों दसा हमारी॥
अरे हंस तुम राजवंश सरवर की शोभा।
क्यों न कहौ मेरे मानस सों या दुख के गोभा।

विरह में सुखद वस्तु भी दुःखद प्रतीत होती है। श्यामघन को देख घनश्याम की, इन्द्रधनुष तथा बगमाल देखकर श्रीकृष्ण के वनमाला और मोतीमाला की, मोर पिक आदि के शब्द सुनकर वंशीनाद करने वाले की छवि की ओर—

देखि देखि दामिनि की दुगुन दमक,
पीतपट छोर मेरे हिय फहरि-फहरि उठै।

यह दुःख अनुपम है। और सब दुःख दवा करने, सांत्वना देने, धैर्य धरने से कुछ कम ज्ञात होते हैं पर यह इन सबसे और बढ़ता है। एक ऐसी ही विरहिणी का वर्णन कितना स्वाभाविक हुआ है कि सुनने वाले का मन बरबस उससे सहानुभूति-पूर्ण होकर उमड़ पड़ता है—

छरी सी छकी सी जड़ भई सी जकी सी घर,
हारी सी बिकी सी सो तो सबही घरी रहै।
बोले तें न बोले दृग खोलै ना हिंडोलै बैठि,
एक टक देखै सो खिलौना-सी धरी रहै॥

'हरीचन्द' औरौ घबरात समुझाएँ हाय,
हिचकि-हिचकि रोवैं जीवति मरी रहैं।
याद आए सखिन रोवावैं दुख कहि-कहि,
तौ लौं सुख पावैं जौ लौं मुरछि परी रहैं॥

वह तभी तक कुछ आराम पाती है जब तक अपने होश में नहीं रहती। यहाँ जडता नवीं काम दशा है। विरही-विरहिणी प्रायः अपना दुःख दूसरे स्त्री पुरुष से नहीं कहते और कहते भी हैं तो जड़ पदार्थों से कहकर अपने जी का बोझ हलका करते हैं। वे ऐसा क्यों करते हैं, यह कवि ने एक पद में इस प्रकार कहलाया है—

मन की कासों पीर सुनाऊँ।
बकनो वृथा और पत खोनी सबै चवाई गाऊँ॥
कठिन दरद कोऊ नहिं हरिहै धरिहै उलटो नाऊँ,
यह तो जो जानै सोइ जानै क्यों करि प्रकट जनाऊँ॥
रोम-रोम प्रति नैन श्रवण मन केहि धुनि रूप लखाऊँ।
बिना सुजान-शिरोमनि री केहि हियरो काढ़ि दिखाऊँ॥
मरमिन सखिन वियोग दुखिन क्यों कहि निज दसा रोआऊँ।
'हरीचन्द' पिय मिलै तो पग परि गहि पटुका समझाऊँ॥

८—मुद्राराक्षस

क—नाटककार

मुद्राराक्षस के प्रणेता का नाम विशाखदत्त या विशाखदेव, पिता का नाम महाराज पृथु और पितामह का नाम सामन्त वटेश्वरदत्त था, इतना नाटक की प्रस्तावना से पता चलता है। इनकी एक अन्य कृति देवी चन्द्र-गुप्तम् का पता हाल में लगा है, जिसके अब तक ६ उद्धरण मिले हैं। पूरी प्रति अभी तक अप्राप्य है। जर्मन-देशीय प्रोफ़ेसर हिलब्रैंड ने भारत में भ्रमण

कर मुद्राराक्षस की सभी प्राप्य प्रतियों का मिलान किया है, जिन में कुछ प्रतियों में विशाखदत्त के पिता का नाम भास्करदत्त भी लिखा मिला है।

प्रोफेसर विल्सन ने महाराज पृथु को चौहानवंशीय राय पिथौरा या पृथ्वीराज साबित करने का प्रयत्न किया था पर वे स्वयं उनकी पदवियों तथा उनके पिताओं के नामों की विभिन्नता का किसी प्रकार मंडन न कर सके। उनका यह कथन कि 'सामन्त बटेश्वर को चन्द ने भाषा में लिखने के कारण संक्षेपतः सोमेश्वर लिखा होगा' युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि पृथ्वीराज-विजय नामक संस्कृत महाकाव्य में भी 'जयति सोमेश्वर-नन्दनस्य' लिखा है।

साथ ही पृथु तथा पृथ्वी भी स्पष्टतया विभिन्न हैं और पृथ्वीराज के किसी विशाखदत्त नामधारी पुत्र के होने का पता नहीं है। प्रोफेसर हिलब्रैंड की खोज से पृथु का पाठान्तर भास्करदत्त मिलने से वह प्रयत्न निर्मूल हो गया और अब वह उपेक्षणीय है।

इसके अतिरिक्त नाटककार के जन्म स्थान और जन्म तथा मृत्युकाल का कुछ भी पता नहीं है। प्रोफेसर विल्सन का कथन है कि विशाखदत्त दक्षिण के निवासी नहीं थे।[1] इस कथन का कारण उस उपमा को बतलाया है जिसका अर्थ है 'हिम के समान विमल मोती'। पं० काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग इस अंश को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि भारतीय आर्कियोलौजिकल सर्वे की रिपोर्ट में उत्तरी भारत के वराह अवतार के मन्दिरों तथा उनके भग्नावशेषों का विवरण पढ़ते हुए मुझे भी यह विचार हुआ कि इस नाटक के भरतवाक्य के अनुसार कवि का उत्तरी भारत का ही निवासी होना समीचीन है।[2] महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री की सम्मति है कि गौड़ीय रीति की बहुलता के कारण कवि गौड़ देशीय ज्ञात होते हैं और बटेश्वर शब्द से बटेश्वर नगर के शिव-भक्त के वंश में हो सकते हैं। प्रोफेसर विधुभूषण

---

१. हिन्दू थियेटर जि० २. पृ० १८२ टि०। यह हिम की उपमा सभी प्रतियों में नहीं मिलती। २. मुद्राराक्षस की भूमिका पृ० १३। पं० जीवानन्द विद्यासागर सम्पादित मुद्राराक्षस का आरम्भ।

गोस्वामी ने भी इनको उत्तरी भारत का निवासी मानते हुए लिखा है कि नाटक में एक को छोड़ कर सभी स्थान उत्तरापथ ही के हैं।

पूर्वोक्त कारणों तथा विद्वानों की सम्मति से यह अवश्य निश्चित हो गया कि कवि विशाखदत्त उत्तरी भारतवर्ष के निवासी थे। यह भी निश्चित सा ज्ञात होता है कि वे शैव थे जैसा कि नामों से तथा मंगलाचरण के दोनों श्लोकों में शिव की स्तुति होने से माना जाना चाहिए।

विशाखदत्त एक सामन्त सर्दार के पौत्र तथा महाराजा के पुत्र होने के कारण कुटिल राजनीति के पूर्ण ज्ञाता थे और स्वयं भी उसी प्रकार के समाज में रहने के कारण शृंगार, करुण आदि मृदु रसों का उनके हृदय में बहुत कम सञ्चार हुआ था। उन्होंने स्वभावतः राजनीतिक विषय पर ही लेखनी उठाई और उसमें वे पूर्णतया सफल हुए। उनकी कवित्व-शक्ति के बारे में केवल यही कहा जा सकता है कि वे कालिदास या भवभूति के समकक्ष नहीं थे। इस नीरस राजनीतिक-विषयक नाटक से भिन्न इनके एक नाटक देवीचन्द्रगुप्त के कुछ अंश मिले हैं तथा इनके दो अनुष्टुभ् श्लोक वल्लभ देव की सुभाषितावली में संगृहीत हैं। इनकी अन्य कृतियाँ, यदि हैं तो, अब अप्राप्य हैं। इनके नाटक से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि ये ज्योतिष शास्त्र के भी ज्ञाता थे।

ख—नाटकीय घटना का सामयिक इतिहास

मगध देश या मागधों का प्रथम उल्लेख अथर्ववेद मे मिलता है। पुराणों से पता लगता है कि महाभारत युद्ध के पहले मगध देश में बार्हद्रथों का राज्य स्थापित हो चुका था। बृहद्रथ के लिये ही पहले पहल मगध-नरेश की पदवी लिखी मिलती है जिसका पुत्र जरासन्ध और पौत्र सहदेव महाभारत युद्ध के समसामयिक थे। सहदेव के तेइस पीढ़ी अनन्तर अवन्ती-नरेश चण्ड-प्रद्योत का मगध पर अधिकार हो गया। इनके अनन्तर गिरिव्रज के शैशुनाग-वंशी राजाओं का मगध पर अधिकार हुआ। इस वंश का पहला प्रतापी राजा बिम्बसार गौतम बुद्ध और महावीर तीर्थराज का समकालीन तथा अंग देश

का विजेता था। इसका पुत्र अजातशत्रु बुद्ध के उपदेशों को सुनकर बौद्ध हो गया। इसने लिच्छिवियों पर विजय प्राप्त कर उन्हें दबाने को पाटलिपुत्र नामक दुर्ग बनवाया। यह इस वंश का प्रथम सम्राट् था। इसका उत्तराधिकारी दर्शक हुआ, जिसके अनन्तर उदयाश्व या उदायी राजा हुआ। इनके अनन्तर नन्दिवर्द्धन और महानन्दि नामक दो सम्राटों का उल्लेख है। महानन्दि इस वंश का अन्तिम सम्राद् था, जिसकी शूद्रा स्त्री से नन्द नामक पुत्र हुआ। इसने मगध राज्य पर अधिकार करके नन्द वंश स्थापित किया।

यह अट्ठासी वर्ष राज्य कर मर गया। इसके अनन्तर बारह वर्ष तक इसके पुत्रों के हाथ में रहकर मगध राज्य मौर्यों के हाथ में चला गया। जिस समय चाणक्य नन्दों से बिगड़ खड़ा हुआ, उसी समय के आसपास सिकन्दर भारत में आया और चला गया। उस समय चन्द्रगुप्त पंजाब में चक्कर लगा रहा था। सिकन्दर की मृत्यु पर पंजाब के राजाओं ने यवनों के शासन के विरुद्ध विद्रोह किया और चन्द्रगुप्त इन बलवाइयों का मुखिया बन बैठा। इसी समय चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को नन्दों के विरुद्ध उभाड़ा और पंजाब के राजाओं की सहायता से तथा आंतरिक षड्चक्र द्वारा मगध राज्य पर अधिकार कर चन्द्रगुप्त को प्रथम मौर्य सम्राट् बनाया।

चन्द्रगुप्त ने अधिकार-प्राप्ति के अनन्तर कोशल तक अपना राज्य बढ़ाया। वि० सं० २४० पू० में ग्रीक राजा सिल्यूकस निकेटोर चन्द्रगुप्त से परास्त होकर लौट गया। इसके उपरान्त सिल्यूकस ने मेगास्थनीज को अपना राजदूत बनाकर चन्द्रगुप्त के दरबार में रखा।

इस प्रकार चौबीस वर्ष निष्कंटक राज्य कर पचास वर्ष की अवस्था में सं २४१ पू० के निकट चन्द्रगुप्त की मृत्यु हुई। इसके अनन्तर इसके पुत्र बिंदुसार ने पचीस वर्ष राज्य किया और तब परम प्रसिद्ध अशोक भारतवर्ष का सम्राट् हुआ।

ग—ग्रंथ परिचय

मुद्राराक्षस का स्थान संस्कृत साहित्य में बहुत ऊँचा है और अन्य नाटकों

से भिन्न ऐतिहासिक तथा राजनीति-विषयक होने के कारण इसकी कथावस्तु पुराण, महाभारत या रामायण से नहीं लिया गया है और न कोरी कपोल-कल्पना ही है। यह शुद्ध इतिहास से लिया गया है। नाटक का मुख्य उद्देश्य है चाणक्य द्वारा स्थापित प्रथम मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त की राज्यश्री की स्थिरता, जिसके लिये नन्द वंश के पुराने स्वामिभक्त मंत्री राक्षस को, जो मौर्य वंश से शत्रु भाव रखता था, मिलाना ध्येय रखा गया। भाषा नाटक के विषयानुकूल है। यदि इसमें महाकवि कालिदास के नाटकों का माधुर्य या सौन्दर्य ढूँढ़ा जाय तो अवश्य ही न मिलेगा पर उसका न मिलना ही इस नाटक की विशेषता है। इसकी भाषा जोरदार तथा व्यावाहारिक है और कहीं कहीं कुछ हास्यरस का भी पुट दिया गया है।

इस नाटक में एक विचित्रता यह है कि इसमें स्त्री पात्रों का अभाव सा है और शृङ्गार तथा करुण रस का संसर्ग भी नहीं होने पाया है। यद्यपि अंतिम अक में चन्दनदास की स्त्री रंगमच पर आती है, पर वह भी नीरस, कठोर कर्त्तव्य-पालनोन्मुखी तथा स्वार्थत्यागिनी के रूप में प्रदर्शित है। उसके पास भी करुण रस नहीं फटकने पाया। तब शृङ्गार की कहाँ पूछ होती। नाटककार ने लिख ही दिया है कि 'कलत्रमितरे सम्पतसु चापत्सुच', (अंक १ श्लो० १५) अर्थात् राजनीतिज्ञ के लिये स्त्रियाँ सुख दु:ख दोनों में भार सी प्रतीत होती हैं। इस प्रकार राजनीति-धुरधर नाटककार के लिखे गए राजनीतिविषयक नाटक में माधुर्य या सौंदय का खोजना ही व्यर्थ है।

मुद्राराक्षस नाटक सात अंकों में है और नाट्यकला के सभी लक्षण इसमे पूर्ण रूप से वर्तमान हैं। इस नाटक में वीर रस प्रधान है। यद्यपि आश्चर्य की मात्रा भी प्रचुर रूप से वर्तमान है पर कर्मवीरत्व या उद्योग ही का प्राधान्य सारे नाटक में है। प्रधान नायक चन्द्रगुप्त धीरोदात्त है। पात्रों का विवेचन आगे दिया जायगा। प्रथम अक में चाणक्य का मौर्य-राज्य की स्थिरता के लिए राक्षस को चन्द्रगुप्त का मंत्री बनाने की दृढ़ इच्छा प्रकट करना बीज है। राक्षस की मोहर की प्राप्ति और शकटदास से पत्र

लिखाकर मोहर करना तथा उसे मलयकेतु को कपट से दिखलाना विन्दु है। इसी विन्दु तथा कार्य से नाटक का नामकरण हुआ है। विराधगुप्त का राक्षस से उसके प्रयत्नों का निष्फल होने का संदेश कहना पताका है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त के मिथ्या कलह का संवाद राक्षस के पास लाना प्रकरी है। राक्षस का मंत्रित्व ग्रहण करना कार्य है।

नाटक के कथावस्तु का निर्वाह भी विवेचनीय है। इसका प्रासंगिक कथावस्तु सर्वदा गौण तथा आधिकारिक कथावस्तु की सौंदर्य-वृद्धि में सहायक रहा। इसके दृश्य और घटनाक्रम ऐसी बुद्धिमानी और कुशलता से संगठित किए गए हैं कि वे कहीं उखड़े से या असंबद्ध नहीं ज्ञात होते। कथावस्तु का आरम्भ, मध्य की अवस्थाएँ तथा अंत भी बड़ी योग्यता से रखे गए हैं, जिससे वे कहीं बेडौल या भद्दे नहीं मालूम पड़ते। प्रथम अंक में चाणक्य का आकर कुछ पूर्वेतिहास कहना और नाटक का उद्देश्य बतलाना तथा उसी के साथ ही राक्षस की मुद्रा की प्राप्ति से उसे फँसाने का प्रबन्ध करना दिखलाकर दर्शकों को नाटक की घटना का पूरा ज्ञान करा दिया गया। इसके अनन्तर द्वितीय अंक में राक्षस के प्रयत्नों का निष्फल होना तथा तृतीय अंक में चन्द्रगुप्त और चाणक्य का झूठा झगड़ा दिखलाना उद्देशपूर्ति का यत्न है। चतुर्थ और पंचम अंक में मलयकेतु का राक्षस के प्रति शंकोत्पत्ति से लेकर अंत में सत्य कलह दिखलाना प्राप्त्याशा है। छठे में राक्षस का वधस्थान को जाना नियताप्ति और सातवें में मंत्रित्व ग्रहण करना फलागम है।

इस प्रकार विवेचना करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुद्राराक्षस रूपक का प्रथम भेद नाटक है और नाट्यकला के अनुसार नाटक के सभी लक्षणों से युक्त है।

घ—नाटकीय कथावस्तु का समय

नन्दवंश के नाश, चन्द्रगुप्त के राज्याधिकार, पर्वतक और सर्वार्थसिद्धि के मारे जाने तथा राक्षस के मलयकेतु के पास चले जाने से लेकर उसके

फिर से चन्द्रगुप्त का मंत्रित्व ग्रहण करने तक लगभग एक वर्ष का समय व्यतीत हुआ था। चतुर्थ अंक पंक्ति ४५ में मलयकेतु का कथन है कि 'आज पिता को मरे दस महीने हुए' और पर्वतक के मारे जाने के बाद ही राक्षस मलयकेतु के पास गया था। नाटक का आरंभ उस दिन से होता है जब जीवसिद्धि पर्वतक पर विषकन्या के प्रयोग करने के दंड में राज्य से निर्वासित किया जाता है और यह दंड पर्वतक के घात के दो चार ही दिन के अनन्तर दिया गया होगा। जिस दिन मलयकेतु ने पूर्वोक्त बात कही थी, उस दिन मार्गशीर्ष की पूर्णिमा थी। इससे दस मास पिछले गिनने से फाल्गुन की पूर्णिमा आती है, जिसके दो एक दिन इधर या उधर पर्वतक की मृत्यु हुई होगी।

तीसरे अंक का दृश्य चातुर्मास के अनन्तर आश्विन शुक्ल पूर्णिमा का है। इसका वर्णन उसी अंक में है।

चौथे अंक का दृश्य मार्गशीर्ष की पूर्णिमा का है।

पाँचवें अंक का भी पूर्वोक्त तिथि के एक मास बाद का होना संभव है, क्योंकि मलयकेतु की सेना करभक की कथित दूरी को (अंक ४ पृ० ३६४) तैकर कुसुमपुर के पास पहुँच गई थी। (अंक ५ पृ० १८२)।

अंतिम दो अंकों की घटना का समय लेने पर नाटक की कथावस्तु का समय एक वर्ष के भीतर ही होता है।

ङ—पात्रों का विवेचन

इस नाटक के प्रधान पात्र चाणक्य उपनाम कौटिल्य हैं और इनके प्रतिद्वंद्वी नंदवंश के मंत्री राक्षस हैं। नाटक के नायक मौर्य वंश के प्रथम सम्राट् चद्रगुप्त तथा प्रतिनायक मलयकेतु हैं। अन्य पात्रों में चंदनदास, शकटदास और भागुरायण उल्लेखनीय हैं। चाणक्य और चंद्रगुप्त ऐतिहासिक पुरुष हैं। राक्षस भी ऐतिहासिक पुरुष होंगे क्योंकि ऐसे प्रधान पात्र को कल्पित मानना उचित नहीं। यदि ये कोरे कवि कल्पना

मात्र होते तो क्या कवि राक्षस से अच्छे नाम की कल्पना नहीं कर सकता था। मलयकेतु भी ऐतिहासिक हो सकता है। अन्य पात्र कल्पित हैं।

इस नाटक में प्रथम पात्र-युगल के जीवन का केवल वही अंश दिखलाया गया है, जो राज्य के षड्यंत्रों में व्यतीत होता था। दोनों ही में स्वार्थ का चिन्ह भी नहीं देख पड़ता। चाणक्य ने इतने परिश्रम से, केवल अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिये, चन्द्रगुप्त को राज्य का अधिकारी बनाया और अंत में उस राज्य को दृढ़ कर मंत्रित्व का पद तक न ग्रहण किया वरन् स्वस्थापित राज्य की भलाई के लिए उसे अपने प्रतिद्वंद्वी राक्षस को सौंप दिया। राक्षस भी निःस्वार्थ भाव से ही अपने गत स्वामिवंश का बदला लेने को प्राणपण से लगा था। निःस्वार्थता ही तक दोनों समान हैं, पर इससे परे वे कहाँ तक एक दूसरे से भिन्न हैं, यह स्पष्टतया दिखला दिया गया है। चाणक्य दूरदर्शी, दृढ़प्रतिज्ञ और कुटिल नीति में पारंगत था। उन्हें अपने ऊपर पूर्ण विश्वास था और उनकी मेधा तथा स्मरण शक्ति बलवती थी। इन्हीं गुणों के कारण उन्होंने शत्रु के षड्यंत्रों को निष्फल करते हुए उनसे स्वयं लाभ उठाया और निज उद्देश्यसिद्धि के लिये उन्हीं का प्रयोग ठीक समय पर कर वे सफल प्रयत्न हुए। इनमें मनुष्यों के पहचानने की शक्ति भी अपूर्व थी पर इसके विपरीत राक्षस ने अंत तक अपने विश्वस्त मनुष्यों से ही धोखा खाया। शत्रु के यहाँ से भाग आने को इन्होंने उत्तम प्रमाण तथा प्रशंसापत्र मान लिया था। एक बार इन्हें इस विषय पर शंका हुई थी (देखिए अं० ५ पृ० ३६३) पर वह भी अन्तिम समय में। राक्षस वीर सैनिक थे पर राजनीति के कुटिल मार्गों के वे अच्छे ज्ञाता नहीं थे, जिससे कभी कभी भूल करते थे। (देखिए अंक २ पृ० ३२४) ये स्वभाव से मृदुल थे और उदार हृदय होने के कारण किसी पर अविश्वास नहीं करते थे। स्वामी के सर्वस्व नाश हो जाने के दुःख तथा उसका बदला लेने के उत्कट उत्साह से भी उनकी मेधाशक्ति आच्छादित हो रही थी। घटनाओं के वर्णन में यह विशेषता भी है कि सब बातें ठीक वैसी

ही होती थीं जैसा कि चाणक्य चाहता था। कहीं भी उनकी इच्छा के विपरीत कोई घटना नहीं हुई। ऐसा जान पड़ता है कि चाणक्य घटनाओं का अनुशासन उसी प्रकार करता था जैसे काठ की पुतली नचाने वाला सूत्रों को हाथ में पकड़कर इच्छानुकूल उनसे कार्य कराता है। इस अवस्था में या तो हम चाणक्य की बहुज्ञता और दूरदर्शिता का परिचय पाते हैं अथवा कवि पर अस्वाभाविकता का दोष लगा सकते हैं। कभी कभी अनुकूल घटनाएँ ठीक समय पर हो जाती हैं पर आदि से अन्त तक चाणक्य द्वारा प्रेरित सब घटनाओं का सरोतर उतरना नाटक की स्वाभाविकता में बाधक होता है।

चाणक्य में पक्षपात का नाम भी नहीं था और शत्रु के उत्तम गुणों की प्रशंसा करने में भी नहीं चूकते थे (देखिए अंक १ पृ० २९५ अं० ७ पृ० ४२४)। स्वस्थापित साम्राज्य के प्रधान अमात्य होने पर भी साधु के समान जीवन व्यतीत करना इनके विराग का अत्युत्कृष्ट प्रमाण है (देखिए कंचुकी का वर्णन अंक ३ पृ० ३४७)। इनका अपने शिष्यों पर बड़ा प्रेम रहता था (देखिए अं० १ पृ० २९४ की टि०)। इनमें क्रोध, उग्रता तथा हठ की मात्रा भी पूर्ण रूप से वर्तमान थी। इसी से सब उनसे डरते थे और यदि इन पर आत्मश्लाघा का दोषारोपण किया जाय तो अनुचित है क्योंकि इन्होंने असंभव कार्य को भी संभव कर दिखाया था। 'दैव दैव आलसी पुकारा' कहने वाले थे जैसा अंक ३ पृ० ३६१ में चन्द्रगुप्त से कहा है।

इतिहास से राक्षस के बारे में कुछ नहीं ज्ञात होता। ऐसा कहा जाता है कि सुबुद्धिशर्मा नामक ब्राह्मण चन्दनदास के पड़ोस में बसता था और उसकी तीव्र बुद्धि पर प्रसन्न होकर नन्द ने उसे मन्त्री बना दिया था। राक्षस में मित्रस्नेह अधिक था और उन्होंने भी शत्रु की योग्यता की प्रशंसा कर हृदय की महत्ता दिखलाई है (अं० ७ पृ० ४२७)। ये दैव, अशकुन और शुभाशुभ का विचार रखते थे। इनके सेवकों पर इनका

रोब नहीं पड़ता था । चाणक्य भाग की कठिनाइयों को कुचलते हुए उन्नत मस्तक होकर चले चलते थे, पर राक्षस दैव को दोष देकर चित्त को शांत कर लेते थे (अं० ६ पृ० ४०६)।

अन्य पात्र-युगल, चन्द्रगुप्त और मलयकेतु, नाटक के नायक तथा प्रतिनायक हैं। चन्द्रगुप्त चाणक्य में पूज्य भाव रखता था और उसे उनकी योग्यता तथा नीति कुशलता पर पूर्ण विश्वास था। मलयकेतु राक्षस पर पहले ही से शंका करता था (अंक० ४ पृ० ३६६) और अन्त में अविश्वास योग्य पुरुषों के कहने सुनने पर विश्वास कर उसने उन्हें निकाल भी दिया। इसमें चन्द्रगुप्त के समान योग्यता नहीं थी। यह बिना विचार किए मनमाना कर बैठता था, जैसे कि पाँच राजाओं को मार डालना (अंक० ५ पृ० ४०२)। दृढ़ प्रकृति का न होने से यह शत्रु के भेदियों की बातों में आ गया।

अन्य पात्रों में चन्दनदास मित्रस्नेह का आदर्श रूप है। धन प्राण आदि सभी को तिलांजलि देकर इसने उसका निर्वाह किया। शकटदास ने भी मित्रता निबाही। भागुरायण ने मलयकेतु से स्नेह हो जाने पर भी स्वामिभक्ति का मार्ग नहीं छोड़ा (अं० ५ पृष्ठ ३८३)। अन्य पात्रों में भी यह गुण वर्तमान था।

च—कथावस्तु

नाटक का कथावस्तु बड़ी सफलता तथा बुद्धिमानी से संगठित किया गया है और उसकी मुख्य घटनाएँ इस प्रकार हैं। प्रथम अंक—(१) राक्षस की मुहर की अँगूठी का दैवात् चाणक्य को मिल जाना (२) शकटदास से जाली पत्र लिखवाना तथा उसको सन्देश सहित सिद्धार्थक को सौंपना (३) जीवसिद्धि का देशनिर्वासन, शकटदास का भागना तथा चन्दनदास का कैद होना । द्वितीय अंक—(४) शकटदास का चाणक्य के चर सिद्धार्थक के साथ भागना और सिद्धार्थक का राक्षस की सेवा में नियुक्त

होना (५) मलयकेतु के गहनों को सिद्धार्थक को देना और सिद्धार्थक का मुहर लौटाना (६) पर्वतक के गहनों को धोखे से राक्षस के हाथ बेंचना । तृतीय अंक—(७) चन्द्रगुप्त और चाणक्य का झूठा कलह। चतुर्थ अंक—(८) मलयकेतु का राक्षस पर शंका करना और चाणक्य के चर भागुरायण पर विश्वास । पंचम अंक—(९) मलयकेतु का राक्षस से कलह कर पाँच सहायक राजाओं को मरवा डालना (१०) मलयकेतु का युद्ध करने जाना तथा कैद होना। छठा अंक—(११) चन्दनदास के रक्षार्थ चन्द्रगुप्त की अधीनता मानने के लिए चाणक्य के चर का चतुरता से राक्षस को बाध्य करना। सातवाँ अंक—(१२) अन्त में राक्षस का मन्त्रित्व ग्रहण करना।

आरम्भ में दर्शकों को सभी बातों का पूरा पूरा ज्ञान कराते हुए जो उत्सुकता उत्पन्न की गई है, वह प्राय: अन्त तक बढ़ती गई है और इसके दृश्य इतने सजीव और स्वाभाविक हैं कि कहीं जी नहीं ऊबता।

कहा जाता है कि इस नाटक से कोई उत्तम शिक्षा नहीं मिलती और इसके दोनों प्रधान पात्र अवसर पड़ने पर मित्रों तथा शत्रुओं को मार्ग से हटाने के लिए किसी उपाय को घृणित नहीं समझते थे। अस्तु, इसमें आदर्श सामने रखकर दैव पर भरोसा करने वालों को उद्योग या कर्मवीरत्व की उचित शिक्षा दी गई है। कर्म का ही फल दैव या निज कर्म है। कर्म में जो कुछ लिखा जाता है वह पुस्तकाकार किसी के साथ संसार में नहीं आता पर जो कुछ कर्म किया जाता है वही पुस्तक स्वरूप में जाते समय यहीं छोड़ जाना पड़ता है। कर्मवीरत्व को यदि कुशिक्षा समझा जाय तो इस पर मेरा कुछ कथन नहीं है। प्रधान पात्रों पर जो कटाक्ष है उस पर कुछ लिखने के पहले इस गौण बातपर विचार करना उचित है। यदि कोई दस पाँच शस्त्रधारी पुरुष साथ लेकर किसी के गृह पर आक्रमण करता है तो कहा जाता है कि वह डाँका डालता है पर जब कोई लाख दो लाख सेना लेकर किसी दूसरे के राज्य पर आक्रमण करता है तो वह

जगद्विजयी, दिग्विजयी या चक्रवर्ती की उपाधियों से विभूषित किया जाता है। एक में केवल स्वार्थ है तो दूसरे में स्वार्थ के साथ यशोलिप्सा की मात्रा भी प्रचुरता से विद्यमान है। पर इस नाटक के इन दोनों पात्रों में यह दिखलाया जा चुका है कि स्वार्थ का लेश भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि व्यक्तिगत दोष तथा समाज के लिए किए गए दोष एक ही बाँट से नहीं तौले जाते।

नन्द-वंश की राज्य लक्ष्मी चन्द्रगुप्त के वशीभूत होकर भी अस्थिर हो रही थी। चाणक्य ने यह विचार कर कि साम्राज्य के दो भाग होने से पड़ोस में दो प्रबल साम्राज्यों का शान्तिपूर्वक रहना असम्भव है और आपस के झगड़े में सहस्रों सैनिकों का रक्तपात होगा, इससे वह बँटवारे के विरुद्ध हो गया। इधर राक्षस ने बदला लेने के लिये चन्द्रगुप्त पर विषकन्या का प्रयोग किया। चाणक्य ने अच्छा अवसर पाकर उस विषकन्या का पर्वतक पर प्रयोग कर दिया, जिससे बँटवारे का प्रश्न ही मिट गया। इसके अनन्तर जब राक्षस पर्वतक के पुत्र मलयकेतु से मिलकर राज्य में षड्यन्त्र रचने लगा और उसने अनेक राजाओं को सहायतार्थ उभाड़ा तब चाणक्य को भविष्य में होने वाले युद्ध की आशङ्का हुई। चाणक्य ने राक्षस को मिलाना ही उत्तम समझा और सहस्रों मनुष्यों के रक्तपात से उन्होंने एक जाली पत्र बना लेना या दो चार मनुष्यों का मारा जाना अधिक उचित माना। तृतीय अंक में नाटककार ने चाणक्य ही द्वारा इस विषय पर बहुत कुछ कहलाया है। मलयकेतु अन्त में छोड़ दिया गया और शकटदास तथा चन्दनदास की शूली दिखावट मात्र थी। बधिकों का मारा जाना केवल राक्षस से शस्त्र फंकवाने के लिए झूठ ही कहा गया था।

पूर्वोक्त विचारों से चाणक्य तथा राक्षस पर आरोपित दोषों का मार्जन हो जाता है। राजनीतिज्ञों का कार्य कितना कठिन है, यह नाटककार ने स्वयं ही कहा है (देखिये अंक ४ पृ० २६१)।

इस नाटक का अनुवाद भारतेन्दुजी ने राजा शिवप्रसाद के आग्रह से किया था और उन्होंने इसको कोर्स मे चलाने का विशेष प्रयत्न किया था। यह नाटक राजा लक्ष्मणसिंह की शकुंतला के समान ही कोर्स में उसी समय से अब तक प्रचलित थो और है। यह पहिले पहिल बाला-बोधिनी में प्रकाशित हुई थी। इसकी प्रस्तावना व० २ नं० २ फाल्गुन सं० १९३१ (फरवरी सन् १८७५ ई०) में प्रकाशित हुई और यह क्रमशः सन् १८७७ तक छपती रही। कहा जाता है कि मुद्राराक्षस का एक अनुवाद महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी के पितृव्य पं० गदाधर भट्ट मालवीय जी कर रहे थे पर जब उन्हें मालूम हुआ कि भारतेन्दु जी ने उसका अनुवाद किया है तब उन्होंने उसे प्रकाशित नहीं किया कि अब इसकी आवश्यकता नहीं है। वह समय कुछ और था नहीं तो अब एक अनुवाद से सहायता लेकर दूसरा प्रकाशित कर पैसा कमाना ही कितने लेखकों और प्रकाशकों का काम रह गया है। तुर्रा यह कि सहायक अनुवाद का कहीं उल्लेख भी न रहेगा।

छ—निर्माण-काल

मुद्राराक्षस के निर्माण-काल के निश्चित करने का पहिले पहिल प्रो० विलसन ने प्रयास किया था। इन्होंने नाटक के म्लेच्छ से मुसलमान का तात्पर्य लिया है और गजनवी तथा गोरी का समय निश्चित किया है। पुनः पाँचवें अंक के आरम्भ के श्लोक का लेकर कहा है कि इस प्रकार की अलंकृत शैली हिन्दू अपने पड़ोसियों से ग्रहण कर रहे थे। इस प्रकार पूर्वोक्त तर्कों के आधार पर मुद्राराक्षस का निर्माण काल ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दि निश्चित किया गया। पूर्वोक्त निश्चय के विरुद्ध पहिले पहिल बम्बई हाई-कोर्ट के जज पं० काशीनाथ तैलग ने लेखनी उठाई और विद्वत्तापूर्ण विवेचना कर दिखलाया कि उसकी भित्ति निर्मूल है। प्रो० विलसन जैन क्षपणक जीवसिद्धि के नाटक में पात्र होने को नवीनता मानने का एक कारण बतलाते हैं क्योंकि वे जैनों के समय को बहुत आधुनिक मानते हैं। आधुनिक खोज

से उनकी यह युक्ति भी निर्भ्रान्त नहीं रह गई। प्रो० विलसन की खंडनात्मक आलोचना करने पर विद्वद्वर प० तैलग ने अन्य कारणों से समय निकालने का भी प्रयत्न किया है। दशरूप में मुद्राराक्षस का तीन बार उल्लेख है। सरस्वती-कंठाभरण में मुद्राराक्षस के नाम का उल्लेख नहीं है, पर एक विशेष अंश दोनों में समान रूप से है। दूसरा मुद्राराक्षस के एक प्राकृत श्लोक का संस्कृत अनुवाद है, जिनकी दूसरी पंक्तियों में कुछ भिन्नता है। दशरूपक के लेखक धनजय परमार-वंशीय राजा मुंज के समय में हुए, जिनकी सरस्वती-कंठाभरण कृति है। मुंज की मृत्यु सम्वत् १०५० और १०५४ के बीच में हुई, इससे यह निश्चित हो गया कि मुद्राराक्षस नाटक सम्वत् १०४४ वि० के पूर्व की कृति है।

मिस्टर तैलंग के बतलाए पूर्वोक्त दोनों ग्रन्थों के सिवा हितोपदेश में एक श्लोक तथा शार्गधर-पद्धति में मुद्राराक्षस (अंक ७ श्लोक ३) के एक श्लोक के भावार्थ की नकल मुक्तापीड़ कृत कह कर उद्धृत है। यह मुक्तापीड़ या ललितादित्य काश्मीर के राजा थे और इनका काल सन् ७२६-७५३ ई० है। विशाखदत्त कृत दो अनुष्टुभ श्लोक वल्लभ देव के सुभाषित में संग्रहीत हैं, जिनका काल पन्द्रहवीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध है। इधर हाल में विशाखदत्त कृत एक नाटक देवीचन्द्रगुप्तम् का पता चला है जिसके उद्धरण उक्त नाटककार के नाम सहित रामचन्द्र-गुणचन्द्र कृत नाट्यदर्पण तथा भोज कृत शृंगार प्रकाश में दिए गए हैं। मि० काशी प्रसाद जायसवाल ने भरतवाक्य के 'म्लेच्छैरुद्विज्यमाना, अधुना और चन्द्रगुप्तः' शब्दों पर विचार करते हुए निश्चित किया था कि नाटककार ने अपने समय के राजा गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय का उल्लेख किया है, 'जो हूणों को परास्त करेंगे,' मिस्टर वी० जे अंतानी ने इन विचारों का खंडन किया है। यह सब ऐतिहासिक तर्क वितर्क केवल 'अधुना' शब्द पर उठाया गया था, पर राक्षस मंत्री के कहने का तात्पर्य है कि 'अब राजा चन्द्रगुप्त राज्य करें'। ग्रन्थ-निर्माण का समय कुछ भी हो पर चन्द्रगुप्त से भरतवाक्य में मौर्य चन्द्रगुप्त

ही का भास होता है। नाटककार विशाखदत्त ने अपने आश्रयदाता का नाटक में कहीं उल्लेख नहीं किया है। और यदि उस आश्रयदाता का नाम भी चन्द्रगुप्त हो और वह भी मौर्य सम्राट् ही सा प्रतापी रहा हो, तो उसका भी उल्लेख इसमें मान लेना समीचीन हो सकता है।

मुद्राराक्षस की एक हस्तलिखित प्रति में चन्द्रगुप्त के स्थान पर अवंतिवर्मा पाठ है। इस नाम के दो राजाओं का पता चलता है। एक काश्मीर नरेश थे, दूसरे कान्यकुब्जाधिपति हर्षवर्द्धन के बहनोई मौखरीवंश के ग्रहवर्मा के पिता थे। नाटककार ने अवंतिवर्मा का नाम अपने आश्रयदाता की कीर्ति बढ़ाने के लिए ही लिखा होगा पर उसे काश्मीर-नरेश पुष्कराक्ष के रूप में मलयकेतु के अधीन तथा उसी के द्वारा उसकी अपमृत्यु कराकर मलिन न करते। इस विचार से काश्मीर के अवंतिवर्मा का उल्लेख श्लोक में होना अग्राह्य है। अब दूसरे अवतिवर्मा के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए। थानेश्वर के वैसवंसी राजा प्रभाकरवर्द्धन की पुत्री राज्यश्री से कन्नौज के राजा अवंतिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा का विवाह हुआ था। अवंतिवर्मा के सिक्कों पर गु० सं० २५० (वि० सं० ६१२) मिला है, जिससे ज्ञात होता है कि ये गुप्त वंश के आधीन थे। विशाखदत्त का इन अवंतिवर्मा के समय में नाटक रचना सम्भव हो सकता है। इन विचारों से कवि विशाखदत्त का समय ईसवी छठी शताब्दि का उत्तरार्द्ध निश्चित होता है। अवंतिवर्मा के सिवा दन्तिवर्मा और रंतिवर्मा भी पाठ मिलता है पर लिपि के कारण चन्द्रगुप्त के स्थान पर इन अन्य नामों का लिखा जाना अधिक संगत ज्ञात होता है। उक्त श्लोक में चन्द्रगुप्त के दो विशेषण पार्थिव: और श्रीमद्बंधुभृत्यः हैं। सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य अपने बड़े भाई सम्राट् रामगुप्त के अत्यंत अनुयायी थे और उन्हीं के लिए यह पद आया है। नाटककार इस पद में विष्णु तथा चन्द्रगुप्त में समानता बतला रहा है और चन्द्रगुप्त नाम से मौर्य सम्राट् तथा अपने आश्रयदाता दोनों का स्मरण कर रहा है। राक्षस के मुख से कहलाने से यह मौर्य

सम्राट् का द्योतक हुआ और साथ ही कवि अपने आश्रयदाता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य पर भी इसे घटाता है।

निर्माण काल के निरूपण का एक अन्य मार्ग पाटलिपुत्र नगर की स्थिति है। नाटक में पाटलिपुत्र का जो भूगोल मिलता है, वह मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय की स्थिति के अनुकूल न होगा प्रत्युत् नाटककार के समय ही के अनुकूल होगा क्योंकि नाटककार ने भौगोलिक स्थिति का जो कुछ वर्णन किया है, उसका नाटक में अन्य तात्पर्य से ही उल्लेख हो गया है। नाटक से ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र सोन नदी के दक्षिण में था और सुगांगप्रासाद गंगाजी पर था। चीनी यात्री फाहियान पाटलिपुत्र को मगध की राजधानी लिखता है पर सुएनच्वांग इसे उजड़ा हुआ लिखता है। आधुनिक पटना शेरशाह का बसाया हुआ है। पाटलिपुत्र की स्थिति के बारे में अन्य विद्वानों ने जो कुछ तर्क किया है, उसमें वे प्रोफेसर विलसन के अनुसार मुद्राराक्षस का रचनाकाल ग्यारहवीं शताब्दि मानकर चले हैं अतः उक्त विवेचना से कोई फल नहीं निकला। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय के पाटलिपुत्र की स्थिति या अवस्था सेल्यूकस के भेजे हुए राजदूत मेगास्थनीज के विवरण में दी हुई है। उससे तथा मुद्राराक्षस नाटक के वर्णित पाटलिपुत्र की स्थितियों में यह विभिन्नता है कि पहले समय में वह गंगाजी तथा सोन नदी के मध्य में था पर दूसरे समय सोन के दक्षिण और गंगाजी के तट पर था। इस कारण यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कवि ने अपने ही समय की स्थिति का नाटक में समावेश किया है। अब यह विचारणीय है कि यह स्थिति-परिवर्त्तन कब हुआ। फाहियान ने पाँचवीं शताब्दि के आरम्भ के पाटिलपुत्र का जो वर्णन दिया है, वह नाटककार के समय के पाटलिपुत्र का चित्र सा ज्ञात होता है।

ऊपर लिखे गए अनेक विद्वानों के सिद्धान्तों तथा तर्कों पर विचार करने से जो सार निकलता है, वह संक्षेपतः इस प्रकार है। प्रो० विलसन के सिद्धान्तों की खंडनात्मक आलोचना करने पर जस्टिस तैलंग ने लिखा

है कि यदि इसे निस्सार न माना जाय तो यह आठवीं शताब्दि का द्योतक हो सकता है। मुद्राराक्षस से जो अंश अन्य ग्रंथों में उद्धृत किए गए हैं, उनसे यह निश्चित हो जाता है कि यह सं १०४४ से पूर्व की रचना है। भरतवाक्य के विषय में तर्क करते हुए इसका निर्माणकाल एक प्रकार निश्चित सा किया गया है। पाटलीपुत्र की स्थिति पर विचार करते हुए जस्टिस तैलंग ने आठवीं शताब्दि मे निर्माणकाल का होना संभवित माना है पर अन्य प्रकार से विचार करने पर उसका चौथी शताब्दि के आसपास होना अधिक सभव है। नाटकोल्लिखित स्थानों तथा जातियों के विचार से भी ज्ञात होता है कि इन सबका उल्लेख मौर्य कालीन होने के नाते नहीं है प्रत्युत् नाटककार-कालीन होने से है। काश्मीर-नरेश पुष्कराक्ष का समय-चौथी-पाँचवीं शताब्दि है। कांबोज, खस, मलय आदि जातियों का उल्लेख भी जिस प्रकार हुआ है, उससे उन्हीं शताब्दियों का द्योतन होता है। शक जाति विक्रम शाका के कुछ ही पहिले भारत में आई और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय सन ३९४ ई० के लगभग उसका उत्तर भारत से लोप हो गया। ऐसी हालत में उक्त जाति का उल्लेख इस नाश के आसपास ही होना चाहिए, बहुत बाद का नहीं। हूणों का उल्लेख भी उनके प्रबल होने के पहिले का है अर्थात् गुप्तकाल के प्रथम तीन सम्राटों के समय का है, स्कंदगुप्त आदि के समय का नहीं है। अतः इन सबसे नाटक का निर्माण काल चौथी शताब्दि ही ज्ञात होता है।

९—भारत दुर्दशा

भारतेन्दु जी ने भारतवर्ष के प्राचीन गौरव तथा वर्तमान दुरवस्था को दृष्टि में रखकर तथा भारतोदय की हार्दिक इच्छा रखते हुए भी दासता-प्रेमी भारतीयों के हृदय में स्थायी प्रभाव डालने के लिए यह दुखांत रूपक लिखा था। यह छ अंकों में विभक्त है। पहिले में एक योगी आकर एक

लावनी गाता है और उसमें अत्यन्त संक्षेप में भारत के प्राचीन गौरव का तथा वर्तमान दुर्दशा का उल्लेख करते हुए कहता है कि अब भारत की दुर्दशा नहीं देखी जाती। दूसरे अंक में 'भारत' स्वयं आता है और अपना रोना रोता है। कहता है कि जिस देश के लोग अपनी मातृभूमि को 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धन केशव' कहते थे उसी के लिए मर मिटते थे वहीं के लोगों की आज क्या दशा है। अँग्रेजो का राज्य होने पर सोचा था कि 'हम अपने दुखी मन को पुस्तकों से बहलावेंगे और सुख मानकर जन्म बितावेंगे' पर वहाँ भी निराशा ही है। इस वाक्य के एक एक शब्द पर ध्यान दीजिए तब मर्म-व्यथा का स्पष्टीकरण आप ही हो जायगा। अंत में ईश्वर की याद करता है पर वह भी नहीं करने पाता तब डर कर मूर्च्छित हो जाता है। निर्लज्जता और आशा (एक दिग्गज विद्वान् की सम्मत्ति में 'भारतोदय करने की दृढ़ता का भाव') आती है तथा उसे ले जाती हैं। तीसरे अंक में भारतदुर्दैव आता है और उसके मुख से बड़ी खूबी के साथ भारत की दुर्दशा का पूरा विवरण दिलाया गया है। अँग्रेजी राज्य तक के उन दोषों का, जिन्हें वे मानते थे, प्रशंसा में लपेट कर खूब वर्णन किया है। अकाल, महँगी, रोग, अनावृष्टि, फूट बैर के साथ साथ नवागंतुकों का अनुगमन करते प्लेग आदि रोग, टिकस काफिर काला आदि अपमानजनक संबोधन भी आ पहुँचे। अँग्रेजी अमलदारी में भी हिंदू न सुधरे। लिया भी तो 'अँग्रजों से औगुन।' आज भी प्रायः पंचानवे प्रतिशत हिंदू निरक्षर हैं। साक्षरों में कुछ ही सुशिक्षित हैं। ये 'मिलकर देश सुधारा चाहते हैं। हा! हा! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे'। इसके लिखे जाने के पचास वर्ष बाद आज भी एक चना से भाड़ फोड़ने की कोशिश हो रही है। भारतदुर्दैव के फौजदार सत्यानाश जी आते हैं और अपनी तारीफ में कहते हैं कि 'नादिरशाह, चंगेज, तैमूर आदि उसके साधारण सैनिक हैं।' इसके अनतर भारत के निजी दोषों का भारतदुर्दैव के सैनिकों के रूप में विवरण है। पहिला स्थान धर्म को दिया जाता है, जिसकी

आट में भारत की बहुत कुछ दुर्दशा हुई है। मतमतांतर का आधिक्य, वर्ण व्यवस्था की खींचातानी, बालविवाह, विधवा विवाह-निषेध, वृद्ध विवाह, बहुविवाह, समुद्रयात्रा-निषेध आदि से देश की अवनति में बहुत सहायता पहुँची। करोड़ों देवी देवताओं के रहते हुए अन्य लोगों के पीर, गाजीमियाँ आदि की पूजा की जाती है, निमाज पढ़कर निकलते हुए उन म्लेच्छों से अपने बच्चे फूंकवाते हैं, जिनके छुए हुए पानी को भूल से भी पी लेने वाले को अधर्म-भीरु हिंदू हिन्दुत्व से च्युत कर देते थे। वेदांत की कुछ बातें इधर उधर सुनकर भी कितने महाज्ञानी बन जाते हैं और इह लोक की अर्थात् स्वदेश की चिन्ता छोड़ देते हैं। इसके अनन्तर संतोष और बेकारी की पारी आती है, 'थोड़ा कमाना थोड़ा खाना: संतोषं परम सुखं' इस देश वालों की कुछ पालिसी सी रही है, रोटी दाल का जुगाड़ कर लेना ही यहाँ का परम पुरुषार्थ हो रहा है। भारत के पास धन की जो सेना बच गई थी, क्योंकि उसपर बहुत काल से छापे पड़ते रहे हैं, उसे जीतने के लिए अदालत (बाजी), फैशन, घूस, चंदा, तुहफे आदि रास्ते निकाले गए। आपस में ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थपरता, पक्षपात आदि का तो पूरा दौरा दौर है। भारत की दूसरी शक्ति कृषि थी, वह भी निर्बल हो रही है।

चौथे अंक में भारतदुर्दैव रोग, आलस्य, मदिरा और अंधकार को क्रमशः भारतवर्ष में भेजते हैं। रोग आकर अपनी प्रशंसा करता है और यहाँ के लोगों की उस मूर्खता पर हँस लेता है जो रोग की दवा आदि व्यवस्था न कर झाड़ फूँक ही में लगे रह कर प्राण खोते हैं। वैद्यक शास्त्र प्रगतिशील न रहा और रोगों की संख्या बढ़ती गई। अफीमची, मदकची आदि की भारत में कमी नहीं और आलस्य का इसमें निवास ही है। कर्मण्यता तथा पुरुषार्थ आलस्य से बहुत दूर रहते हैं। मदिरा-सक्ति भारतीयों में कितनी है, यह अभी हाल को पिकेटिंग आंदोलन से सब पर विदित है और इसके प्रेमी कितनी प्रकार से तर्क वितर्क कर इसका समर्थन करते हैं, यह भी विनोदपूर्ण शैली से दिखलाया गया है। इसके अनन्तर अज्ञान रूपी

अंधकार आता है और भारत भेजा जाता है। भारत अभी तक इतना अविद्या-प्रेमी है कि वह शिक्षा, पठन-पाठन आदि को केवल जीविका का एक साधन मात्र समझता है और इसी से बी० ए०, एम० ए० पास किए हुए युवकगण अपने को विद्वान, आचार्य आदि समझ कर किसी भी व्यवसाय आदि की ओर जाना अपमानजनक मान बैठते हैं।

पाँचवें अंक में एक कमीटी का दृश्य है, जिसमें एक सभापति तथा छ सभ्य हैं। इनमें एक बंगाली, एक महाराष्ट्री, दो देशी, एक कवि तथा एक पत्र-संपादक हैं। कमीटी का मूल उद्देश्य भारतदुर्दैव की चढ़ाई को रोकना है। 'हुज्जते बंगाला' प्रसिद्ध है, इससे बंगाली सभ्य खूब गोलमाल मचाने की पहिले राय देते हैं पर यह कितना उपहासास्पद है यह उसी सभ्य के दूसरे उपाय से ज्ञात हो जाता है जैसे स्वेज नहर को पिसान से पाटना। कवि जी नायिका बनकर तथा अँग्रेजों का स्वाँग बनाकर अपनी रक्षा करना चाहते हैं। संपादक जी अपने आर्टिकिलबाजी की प्रशंसा में लगे हुए हैं। महाराष्ट्री सज्जन स्वदेशी वस्त्र पहिनना, कल आदि व्यवसाय बढ़ाना तथा सार्वजनिक संस्थाएँ स्थापित करना बतलाते हैं। देशी सभ्य कुछ नहीं बतला सकते, केवल अपना चापलूसी-प्रेम दिखलाते दूसरों की खिल्ली उड़ाते हैं पर विद्योन्नति, एकता, कला शिक्षण की ओर भी दृष्टि देते हैं। इसी समय डिसलायल्टी रूपी पुलीस आती है और सबको साथ लिवा जाती है।

छठे अंक में भारत-भाग्य आता है और प्राचीन गौरव तथा वर्तमान दुर्दशा का संक्षेप में परन्तु अत्यंत ओजपूर्ण भाषा में दिग्दर्शन कराता हुआ कहता है कि एक समय था कि यही भारत सारे संसार का केंद्र हो रहा था और इसकी समता करने की संसार के किसी देश में क्षमता नहीं थी पर नहीं मालूम कि इसने विधि का क्या कसूर किया कि उसने रुष्ट होकर इसे मिट्टी में मिला दिया। यदि यह देश मिट भी जाता तो भी कुछ तोष होता पर नहीं यह परतंत्रता, ईर्ष्या-द्वेष आदि संसार के यावत् कलंकों से

लाछित होते हुए अभी मिटा नहीं। ऐसे निर्जीव शक्तिहीन देश का मिट जाना ही श्रेयस्कर है। भारत सागर को संबोधित कर कहता है कि—

घेरि त्रिपावहु विंध्य हिमालय।
करहु सकल जल भीतर तुम लय॥
धोवहु भारत अपजस पंका।
मेटहु भारत भूमि कलंका॥

अन्त में भारत भाग्य आत्मघात कर लेता है।

'यह दुःखांत कर दिया गया है। इसमें अन्त मे नैराश्य का भाव उत्पन्न होता है पर होना चाहिए भारतोदय करने की दृढ़ता का भाव।' यह एक प्रसिद्ध विद्वान का कथन है पर नहीं कह सकता कि उन्होने देश-दशा पर कहाँ तक विचार किया है। इस रूपक को लिखे साठ वर्ष के ऊपर हो गए पर देश की दशा उस समय से कितनी ऊँची उठी है या कितने नीचे गिरी है कोई शांत हृदय से बैठकर सोचे तो सिवा नैराश्य के आशा की झलक नहीं दिखाई पड़ती। 'आशावादिहिं हरिअरै सूझै' पर फल कुछ नहीं। अपना दोष, अपनी कमी, अपनी कमजोरी पहिले देखना चाहिए। 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्थान' में पहिले किसकी रक्षा करनी है? 'शस्त्रेण रक्षितं राष्ट्रं शास्त्रचिंतां प्रवर्तते' पर शस्त्र से रक्षा करेगा कौन? जब रक्षक हिन्दू रह जायँगे तभी हिन्दी तथा हिन्दुस्थान भी रहेगा, नहीं तो इनमें से एक भी न रहेगा। मूल रहेगा तभी शाखा पल्लवित रहेगी। आज हिन्दुत्व का कितना पतन हो रहा है, हिन्दू बने रहते तथा अपने को हरिजन कहते हुए हिन्दू ही अपने धर्मशास्त्र जला सकते हैं। अन्य धर्म ग्रहण कर लेने पर हिन्दू जो न कर डालें वह अकथ्य है। एक मुसलमान या ईसाई अन्य धर्म ग्रहण कर लेने के बाद भी अपने पूर्व धर्म के मान्य ग्रन्थों की अप्रतिष्ठा नहीं करेगा। हिन्दू ही संसार भर में ऐसे मिलेंगे जो स्वधर्म से साधारण कारण से भी रुष्ट होकर उसके विरुद्ध सब कुछ करने को तैयार हो जाते हैं, हिन्दू ही हैं जो हिन्दू रहते हुए अपनी मातृभाषा हिन्दी नहीं

बतलाते हुए उस पर गर्व करते हैं और हिन्दुओं ही में अभी प्रांतीयता की बदबू नहीं मिट पाई है। क्या ये आशावादी बतलाएँगे कि उस समय से अब तक कितने प्रतिशत हिन्दू अधिक साक्षर हो गए हैं? हाँ, अवश्य इतने दिन में हिन्दुओं ही की संख्या प्रतिशत घट गई है इसलिए कोरे हिसाब ही से साक्षर आप ही बढ़ गए होंगे। ईश्वर न करे पर यदि इस दृष्टि-कोण से साक्षर बढ़े तो जहाँ तक न यह प्रतिशत गणना पहुँच जाय।

भारतेन्दु जी ने देश-काल-समाज के अनुसार साहित्य को प्राचीन रूढ़िगत विषयों में संकुचित न रखकर, नए नए क्षेत्र जोड़कर अधिक विस्तृत किया था। इन सभी नए पुराने क्षेत्रों में देश भक्ति के रंग ही का प्राधान्य था। राजभक्ति, लोक-हित, समाज-सेवा सभी में देशभक्ति व्याप्त थी वा यों कहा जाय कि इनकी देशभक्ति मूल थी तथा राजभक्ति, लोक-हित, मातृ-भाषाहितचिंतन आदि उसी की शाखाएँ थीं। यही कारण है कि उनकी समग्र कृति में देश के प्रति उनका जो प्रेम था वह किसी न किसी रूप में स्पष्ट होता रहता है। भारत की कथा के तीन स्पष्ट विभाग हैं और इन तीनों की भारतेन्दु जी ने जो मार्मिक व्यंजना की है उसे पढ़कर सहृदयों के हृदय में अतीत के प्रति गर्व, वर्तमान के लिए क्षोभ और भविष्य के लिए मंगल-कामना एक के बाद दूसरी उठकर उन्हें उद्वेलित कर देती है।

किसी स्थान विशेष की दुर्दशा का वर्णन तभी किया जाता है जब वह पहिले बहुत ही समुन्नत अवस्था में रहा हो। भारत पहिले कितनी उन्नत अवस्था में था, इसका कवि ने बहुत उदात्त पूर्ण वर्णन किया है पर साथ ही ध्यान रहे कि वह सब कविता भारत की दुर्दशा देखकर कवि के दग्ध हृदय से निकली है। देखिए—'ये कृष्ण—बरन जब मधुर तान' इस पंक्ति का 'कृष्ण बरन' कितने अर्थों से गर्भित है और कैसा क्षोभ-पूर्ण है। ये काले हैं, ऐसा कहकर आज हमें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। पर इन्हीं कृष्णकाय पुरुषों के दिग्विजय से पृथ्वी किसी समय थर्रा उठती थी, कपिलदेव, बुद्ध आदि इसी वर्ण के थे और भास, कालिदास, माघ आदि कवि गण भी

काले कलूटे थे। इन लोगों के विजय-यात्रा वर्णन, उपदेश तथा काव्यामृत काले ही अक्षरों में लिखे जाते हैं, पर फल क्या? आज—

हाय वहै भारत भुव भारी। सब ही विधि सों भयो दुखारी॥

भारत का स्वातन्त्र्य-सूर्य पृथ्वीराज चौहान के साथ साथ अस्त हो गया और यह देश दूर देश से आए हुए यवनों से पादाक्रांत होकर परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़ गया। जाति का वैरी ही जाति बन बैठा और कई शताब्दियों तक उनका प्रभुत्व जमा रहा। हिन्दुओं ने स्वातन्त्र्य के लिए घोर प्रयत्न किया और स्यात् वे उसमें सफल भी होते पर नई वाह्य शक्तियों ने आकर उनके उस प्रयास को विफल कर दिया और उसकी वही दशा ज्यों की त्यों बनी रह गई। स्वभावतः समान दुःख के साथी मिलने से दुःखी हृदय को कुछ धैर्य मिल जाता है। भारत ही के समान ग्रीस और रोम भी पहिले बहुत उन्नत थे, पर बाद को अर्वाचीनकाल में इनकी अवस्था बहुत खराब हो गई थी। इन दोनों ने पुनः उन्नति कर ली है पर भारत वैसा ही बना रह गया, जिससे उसे—

रोम ग्रीस पुनि निज बल पायो। सब बिधि भारत दुखी बनायो॥

इसमें क्षोभ, अधैर्य, द्वेष, विषाद सभी का सरल सम्मिश्रण है। कवि कह उठता है—

कहा करी तकसीर तिहारी। रे बिधि रुष्ट याहि की बारी॥
मोइ भारत की आज यह भई दुरदशा हाय।
कहा करैं कित जायँ नहिं सूझत कछू उपाय॥

जब कुछ उपाय नहीं सूझता, तब मनुष्य 'क्षीणा नराः का पुरुषा भवंति' के अनुसार प्राण देना ही उत्तम समझता है। सुनिए—

अहो भयानक भ्राता सागर। तुम तरंग-निधि अति बल आगर॥
घेरि छिपावहु विंध्य हिमालय। करहु सकल जल भीतर तुम लय॥
धोवहु भारत अपजस पंका। मेटहु भारत भूमि कलंका॥

अयोध्या, चित्तौर, पंचनद आदि नामों का केवल उल्लेख ही सच्चे देशभक्त के हृदय में किन किन भावों का प्रस्फुरण कर देता है यह अकथनीय है। कहाँ रामराज्य का गर्व और कहाँ वर्तमान काल की उसकी दुर्दशा पर क्षोभ। इन थोड़ी सी पंक्तियों के एक एक शब्द में हमारे भारत की करुण कथा भरी है। जिस भारत की एक एक इंच भूमि के लिए अक्षौहिणियों सेना कटी उसी भूमि पर अब पाकिस्तान, कब्रिस्तान, गिरजाघर आदि सुरसा के समान फैल रहे हैं। इस पर भी हिन्दू जरा जरा सी बातों में आपस ही में लड़े मरते हैं, अपना धर्म, धन, भाषा सब नष्ट करते जाते हैं पर नहीं सूझता। वे किस मुख से देशभक्ति, धर्मभक्ति का नाम लेते हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता।

१०—नीलदेवी

नीलदेवी एक ऐतिहासिक नाटक है, जो सं० १९३८ में लिखा गया है पर इसकी ऐतिहासिकता के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कहा जाता है कि भारतेन्दु जी ने जिस अंग्रेजी काव्य की कुछ पंक्तियाँ आरंभ में उद्धृत की हैं उसी के कथानक के आधार पर इस नाटक का निर्माण किया है। पर ये पंक्तियाँ किस काव्य की हैं इसका भी उल्लेख नहीं हुआ है इसलिए उस काव्य को देखकर भी इसके आधार का पता नहीं लगाया जा सका। इन पंक्तियों से केवल इतना पता लगता है कि शरीफ को मारकर सूर्यदेव की रानी उसका सिर काट कर लाती है और पति के शव के पैरों के पास उसे फेंककर सती होने की तैयारी करती है। नाटक का कथानक संक्षेप में यही है कि अब्दुल शरीफ सूर पंजाब-नरेश सूर्यदेव पर चढ़ाई करता है, सम्मुख—युद्ध में परास्त होने पर धोखे से रात्रि में धावा कर उसे कैद कर लेता है। उसके पुत्र आदि सम्मुख युद्ध की राय देते हैं पर रानी नीलदेवी ने यह राय नहीं स्वीकार की और स्वयं गायिका का रूप

धारण कर शरीफ के दरबार में गई और वहाँ उसको मारकर पति का शव ले आई और सती हो गई। शरीफ की सेना भाग गई। तात्पर्य यह कि वह अँग्रेजी काव्य अवश्य ही इस रूपक का एक आधार रहा है, पर पूरे काव्य पता लगने पर तुलनात्मक दृष्टि से दोनों पर विचार किया जा सकेगा।

आरम्भ में दुर्गा सप्तशती के कुछ श्लोक उद्धृत कर उस देवी का आह्वान सा किया गया है, जिन्होंने दिखला दिया था कि शक्ति अपनी शक्ति नहीं भूली है और उसने प्रचंड वीरों को भी ललकार कर मारा है। इसके अनन्तर मातृ-भगिनी-सखी-तुल्या आर्य ललनाओं को संबोधन कर नाटककार उनसे बहुत कुछ कहता है। संबोधन के शब्दों ही में कवि के हृदय के कितने भाव व्यक्त रहे हैं। बड़े दिनों में यूरोपियन महिलाओं को पुरुषों के साथ स्वच्छंदता से घूमते फिरते देखकर कवि-हृदय में स्वदेश की स्त्रियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है कि उनकी कैसी हीन अवस्था है। यह बात आज से साठ वर्ष पहिले की है, जब लड़कों को भी स्कूलों में भेजना उन्हें ईसाई बनाना समझा जाता था। स्कूल का इस + कुल कर कहा जाता था कि ये लड़के इस कुल जाकर इस कुल के न रहेंगे। उस समय लड़कियों को शिक्षा देने का विचार भी जल्दी नहीं उठता था। ऐसे समय इन शिक्षा से हीन, बाल-वृद्ध-विवाह आदि कुप्रथाओं से ग्रस्त भारतीय स्त्रियों के प्रति प्रत्येक देश-प्रेमी की दृष्टि समवेदना से बरबस आकृष्ट हो जाती थी। 'जिस भाँति अँग्रेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, लिखी पढ़ी होती हैं, घर का काम काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं और इतने समुन्नत मनुष्य-जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृह-देवियाँ भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नतिपथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुल परंपरा-मात्र है और कुछ नहीं है। आर्य्य जन मात्र को विश्वास है कि हमारे यहाँ सर्वदा

भोगया इसी अवस्था में थीं। इस विश्वास के भ्रम को दूर करने ही के हेतु यह ग्रन्थ विरचित होकर आप लोगों के कोमल कर कमलों में समर्पित होता है। निवेदन यही है कि आप लोग इन्हीं पुण्य रूप स्त्रियों के चरित्र को पढ़ें-सुनें और क्रम से यथाशक्ति अपनी वृद्धि करें।'

उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि यह नाटक स्त्रियों को लक्ष्य कर लिखा गया है और इसमें दिखलाया गया है कि वीर क्षत्राणियाँ अवसर आने पर कैसा साहस कर सकती हैं। भारत की स्त्रियाँ सदा इस प्रकार गृह की चहार दीवारी में बन्द रहती थीं, ऐसा भ्रम फैला हुआ था और उसी को दूर करने के लिए नीलदेवी का चरित्र इसमें वर्णित है। वह अपने पति तथा पुत्र को युद्धादि विषय में सम्मति देती थीं तथा अपने सैनिकों को प्रोत्साहित करती थीं। समय आने पर उन्होंने अवसर बना कर पति को अधर्म से मारने वाले शत्रु को उसी के शत्र "शठं प्रति शाठ्य" की नीति से मार डाला। यही चरित्र इसमें चित्रित किया गया है। इस पर एक सज्जन लिखते हैं कि 'केवल प्रतिहिंसा के भाव को उत्तेजना मिलती है।' ठीक ही है, हिंसा प्रतिहिंसा से दूर रहना ही हम भारतीयों की मूल प्रवृत्ति हो गई है। 'जान थोड़े ही भारी पड़ी है,' मारपीट को दूर से नमस्कार और अब तो वास्तव में हमें अपनी हाँड़ी पुरवे की ही रक्षा करना है, उसके लिए तलवार, कटार, बन्दूक, तोप से हिंसा-प्रतिहिंसा करने की आवश्यकता ही क्या? छटाँक भर की छड़ी काफी है, बजा लिया जायगा और उससे भी डर लगे तो घर के भीतर।

इस नाटक में वीर रस प्रधान है पर करुणा तथा हास्य का भी अच्छा पुट है। क्षत्रिय वीरों का धर्म-युद्ध के लिए तैयार रहना और अपने राजा के कैद हो जाने पर भी देश पर बलिदान होने के लिए तत्परता दिखलाने में उत्साह भरा हुआ है। प्रतिपक्षियों का भी येन केन प्रकारेण शत्रु को परास्त करने का उत्साह उन्हीं के योग्य है। देश की दुर्दशा के वर्णन तथा ईश्वर के आह्वान में कितनी करुणा भरी है यह उसे पढ़कर सहृदय ही बतला

सकता है। चपरगट्टू तथा पीकदान अली की बातें और पागल के प्रलाप से हँसी आ ही जाती है। इस प्रकार देखा जाता है कि इन रसों का नाटक में अच्छा परिपाक हुआ है।

भारतेन्दु जी में देश प्रेम पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। वे रोते थे तो देश के लिए और हँसते थे तो देश के लिए। उनका नैराश्य भी देश की दुर्दशा और देश के सुपुत्रों की उत्साहहीनता देखकर ही हुआ था और इसी से कह दिया कि—

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा।
दुख ही दुख करिहै चारहु ओर प्रकासा॥

और भी कहते है—

वीरता एकता ममता दूर सिधरिहै।
तजि उद्यम सब ही दास वृत्ति अनुसरिहै।
निज चाल छाँड़ि गहिहैं औरन की धाई।
रहे हमहुँ कबहुँ स्वाधीन आर्य बलधारी।
यह दैहैं जिय सों सब ही बात बिसारी॥

इनमें क्या एक भी बात असत्य है? वीरता, एकता, देश के प्रति ममता क्या हममें बढ़ती जा रही है? क्या दासवृत्ति छोड़कर औद्योगिक व्यापार की ओर लोग टूटे पड़ रहे हैं? क्या अपनी चाल छोड़कर विदेशी चाल ग्रहण करने में लोग कमी कर रहे है? किसी समय हम लोग भी स्वाधीन थे और भारतीय वीरों की हुँकार से दूर दूर देश के वीर भी एक बार थर्रा उठते थे, इसको क्या हम लोग एक दम भूल नहीं बैठे हैं? तब किस बात की आशा कवि दिलाता। वह अन्त में अशरण-शरण दयानिधि ईश्वर की शरण में जाता है, उपालंभ देता है, अपनी दुर्दशा कहता है और सहायता की प्रार्थना करते हुए उसे पाने की आशा करता है—

कहाँ करुनानिधि केसव सोए !
जागत नेक न जदपि बहुत बिधि भारतबासी रोए ॥
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारत हित बिसराए।
इतके पशु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए ॥
इक इक दीन हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई।
अपनी सम्पति जानि इनहिं तुम रछ्यौ तुरतहि धाई ॥
प्रलयकाल सम जौन सुदरसन असुर-प्रान-संहारी।
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी बेर मुरारी ॥
दुष्ट जवन बरबर तुव संतति घास साग सम काटैं।
एक एक दिन सहस-सहस नर-सीस काटि भुव पाटैं ॥
है अनाथ आरत कुल-विधवा बिलपहिं दीन दुखारी।
बल करि दासी तिनहिं बनावहिं तुम नहिं लजत खरारी ॥
कहाँ गए सब शास्त्र कही जिन भारी महिमा गाई।
भक्तवछल करुनानिधि तुम कहँ गायो बहुत बनाई ॥
हाय सुनत नहिं निठुर भये क्यों परम दयाल कहाई।
सब विधि बूड़त लखि निज देसहि लेहु न अबहुँ बचाई ॥

इसको पढ़कर किस सहृदय का हृदय न पसीज उठेगा। सुदर्शन चक्र की धार क्या अब हम लोगों के लिए कुंठित हो गई है जब इसी भारत के पशुओं की रक्षा करने में वह नहीं हुई थी। कैसी मर्म-भेदी चुनौती है पर दुर्भाग्य ! इस एक पद में ही भारत की सारी अंतर्व्यथा कह दी है और कितनी सुन्दर व्यंजना के साथ। शास्त्रों द्वारा कथित ईश्वर की महिमा पर आक्षेप कर व्यथा की तीव्रता का कितना मार्मिक प्रदर्शन किया गया है।

इस नाटक के नायक सूर्यदेव, नायिका नीलदेवी तथा प्रतिनायक अब्दुश्शरीफ खाँ सूर हैं और तीनों के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। नाटककार ने इनके चरित्र चित्रण में पूरी सफलता प्राप्त की है और जिस उद्देश्य से इसे लिखा है उसकी पूर्ति अच्छी तरह हो गई है।

११—अंधेरनगरी

यह छः अंकों का एक प्रहसन है, जो किसी ऐसे ही आचरण के मूर्ख राजा को लक्ष्य करके लिखा गया है। कहा जाता है कि इस नाटक का उन पर प्रभाव भी पड़ा था। यह 'नैशनल थियेटर' नामक किसी मंडली के लिए एक ही दिन में लिखा गया था और अभिनीत भी हुआ था। इस प्रकार की कहानी को लेकर पहिले भी खेल होते थे पर वे इस प्रकार सुव्यवस्थित नहीं थे। इंशा ने एक शैर में लिखा है—

न होगा राज में हरबोंग के लेकिन।
कहीं हजरत सलामत आप के इंसाफ का जोड़ा।

कहानी है कि एक ग्राम ही ऐसा था जहाँ मूर्ख ही बसे थे और जिनका राजा यही हरबोंग था। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' आदि से उनके न्याय के उदाहरण दिए जाते हैं। अस्तु, भारतेन्दु जी ने इन्हीं सब कहानियों को लेकर यह विनोद-पूर्ण प्रहसन रच डाला और उसमें बहुत लोगों पर सच्चा तत्वपूर्ण आक्षेप भी किया है।

आरम्भ में उद्धृत श्लोक तथा समर्पण के छः रोलाओं में कारुण्य के साथ साथ स्वार्थांधता को छोड़कर सच्चा गुण-ग्रहण करने तथा देश और देशवासियों की सेवा में निरत रहने का मार्मिक उपदेश दिया गया है। 'अन्त धर्म जय' कितना सत्य है। पाप-पुण्य, परपीड़न-परोपकार, देशद्रोह-देशसेवा सभी का फल अन्त होते ही स्पष्ट हो जाता है। मृत्यु के बाद जिसका जिस प्रकार स्मरण किया जाता है उसी से उसके जीवित काल के कर्म प्रगट होते हैं। धन तथा शक्ति के बल जीवित रहते कोई सब कुछ कर ले और अपनी प्रसंशा भी कराले पर अन्त सबसे प्रबल है उस पर किसी की नहीं चली और न चलेगी।

प्रथम अंक में गुरु जी दो चेलों के साथ आते हैं और भोजन के प्रबन्ध की बातचीत 'जो है सो' वाली साधु भाषा में होती है। गोबर्द्धनदास को

भिक्षा के लिए 'लोभ पाप का मूल' उपदेश देकर भेजते हैं। भारतेन्दु जी के एक दरबारी इसी नाम के थे, जिनमें मुटाई ताजगी के साथ लोभ की मात्रा भी प्रचुरता से थी। यह हर फन मौला भी थे और स्यात् उन्हीं को दृष्टि में रखकर यह चित्रण हुआ है।

दूसरे अंक में बाजार का दृश्य है। हर एक विक्रेता अपनी अपनी वस्तु की प्रशंसा कर अंत में कहता है कि टके सेर है। काशी का घासीराम का चना प्रसिद्ध है। चना बेंचने वाला काशी की तत्कालीन प्रसिद्ध वेश्याओं तौकी, मैना, गफूरन और मुन्नी का नाम लेता है। इनमें प्रथम दो प्रसिद्ध गायिका थीं। तीसरी पटने के किसी नवाब साहब के हरम में चली गई। चना खाते समय डाढ़ी का हिलना भी खूब रहा। दूना टिकस का मत पूछिए। अभी भूकंप के ठीक बाद काशी के नए पुराने मकानों की कीमत डेवढ़ी दूनी असेस की गई है। मकानों की मालियत बढ़ाने की यह अनूठा नुस्खा स्यात् इसी चना के खाने के बाद सूझा रहा होगा। नारंगी वाली भी नौ रंग की बात कह गई, अश्लील बात भी रंगीन होकर अश्लील रह गई।

कुंजड़िन द्वारा हिन्दुस्तान के मेवा फूल और बैर की की गई प्रशंसा सच्ची ही है, क्योंकि यह प्रतिदिन अनुभूत हो रही है। मुगल भी टके सेर के मेवे की तारीफ करते हुए हिन्दुस्तान पर आक्षेप कर रहा है। क्यों न करे? पाचकवाला बहुत कुछ कह गया है। अमले रिश्वत क्यों न खायँ देने वाला कह नहीं सकता, क्योंकि देना स्वयं स्वीकार करते ही वह तो फँस जायगा और लेना साबित करना कठिन। महाजन जमा की रकम इसी के जोर पर हजम कर जाते हैं पर क्या वे ऐसा करने पर महा + जन रह जायेंगे? पहिले और अब भी अदालतों में लाला लोगों की भरमार है और इसी कारण इन्हें बुद्धि का अजीर्ण रहना स्वाभाविक है। संपादक लोग बात पचा नहीं सकते, यह ठीक ही लिखा गया है। अभी ठाकुर चतुर्वेदी की कथा नई ही है। साहब लोग चार सहस्र मील से क्या यहाँ तीर्थ करके तथा परोपकार करके पुण्य संचित करने आए हैं? अपने परिश्रम

का फल लूट रहे हैं, इसमें हिन्दू छींजें या सीमें। पुलिस वालों को कानून से क्या ? वे न कानूनदाँ न कानूनगो। उन्हें अपने काम से काम। जात वाला खूब कह गया, पक्का अनुभवी था पर पचास साठ वर्ष पहिले ही का न था, अब उसने बहुत उन्नति कर ली है। टका लेना दूर अब कुछ देकर भी जाति बदलने को तैयार है। कुएँ पर पानी पीने न दो, मन्दिर में जाकर पैसा चढ़ाने को मना करो, बस जाति धर्म सब कुछ देने को तैयार। धर्म भी क्या बच्चों की लँगोटी हो गई, जब चाहा उतार कर नंगे हो गए। अस्तु, इस प्रकार गोबरधनदास जी बाजार घूमकर, आवाजें सुनकर तथा भाव पूरी तौर जाँचकर मिठाई लेकर चल दिए।

तीसरे अंक में गुरु जी ने अन्धेरनगरी का हाल देखकर वहाँ न रहना निश्चय किया पर गोवर्द्धनदास ने उपदेश न सुना और वहीं रह गया।

चौथे अंक में उसी प्रकार दरबार का तमाशा दिखलाया गया, जिस प्रकार आजकल सिनेमा चित्रपटों में अदालत का तमाशा होता है। बकरी दबने के कारण किसी को फाँसी दी जानी चाहिये इसलिये कोतवाल ही उसके लिये योग्य पात्र चुने गए। जैसा दावा वैसा फैसला।

पाँचवें अंक में गोवर्द्धनदास गाते हुए आते हैं। इस गान में कुछ मर्म की बातें हैं, जो अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई हैं। इसके अनन्तर टके सेर की मिठाई खाकर खूब तैयार हुए बलिपशु के समान गोवर्द्धनदास पकड़े जाते हैं। कारण केवल इतना ही बतलाया गया कि फाँसी का फंदा बड़ा है और कोतवाल हैं दुबले अतः न फाँसी का फंदा छोटा हो सकता है और न बकरी की जान के बदले किसी का जान लेना रुक सकता है। राजा की न्याय-विभीषिका से कोई मुटाना नहीं था इसलिए यही बाबा जी मुफ्त के मिले।

छठे अंक में गोवर्द्धनदास रोता चिल्लाता हैं, गुरुजी आ पहुँचते हैं और एक चाल चलते हैं कि स्वर्ग जाने की ठीक यही मुहूर्त है, इस समय जो मरेगा वह सीधा स्वर्ग पहुँच जायगा। अन्धेर नगरी के सभी मूर्खों के इस

अवसर का लाभ उठाकर स्वर्ग सिधारने का प्रयास करने के साथ यह प्रहसन समाप्त होता है।

२१—सतीप्रताप

यह एक गीति-रूपक है, जिसे भारतेन्दु जी सं० १९४१ के लगभग लिखना आरम्भ किया था। इसके प्रथम कुछ दृश्य नवोदिता हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका सन् १८८४ ई० के अंकों में प्रकाशित हुए थे परन्तु भारतेन्दु जी के अस्त हो जाने से यह पूरा न हो सका। बा० राधाकृष्ण ने अन्तिम तीन दृश्य लिखकर इसे पूरा किया था। इसमें उस सती सावित्री के उपख्यान को नाटक रूप दिया गया है जिसका प्रतिवर्ष ज्येष्ठ महीने की अमावास्या को स्त्रियाँ उत्सव मनाती हैं। लाला श्रीनिवासदास तप्तासंवरण नाटक इसी पातिव्रत्य-महात्म्य पर लिख चुके थे और वह हरिश्चन्द्र मैगजीन में प्रकाशित भी हो चुका था परन्तु कहा जाता है कि भारतेन्दु जी को वह पसन्द नहीं आया अतः उन्होंने इस गीति रूपक को लिखा था।

प्रथम दृश्य मंगल पाठ मात्र है, जिसमें हिमालय की तराई में तीन अप्सराएँ गाती हुई दिखलाई गई हैं। तीन गान हैं, प्रथम दो में पातिव्रत्य का गुण-गायन है और तीसरे में प्रकृति का वर्णन है। दूसरा दृश्य सत्यवान के तपोवन का है। दूर से गान सुनकर युवक तपस्वी के हृदय पर उसका कुछ असर होता है पर वह शीघ्र ही दूसरी चिंता में पड़ जाता है। गाते हुए सावित्री सखियों के साथ आती है, वन, ऋतु तथा आश्रम की बात हो रही है कि वह सत्यवान को देखती है। उधर सत्यवान भी सावित्री को देखता है और दोनों में आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। सखी द्वारा वे एक दूसरे का परिचय पाते हैं और वह दृश्य समाप्त होता है।

तीसरा दृश्य वैतालिकों के गाने से आरम्भ होता है। चार कवित्तों में एक महाकवि देव का है और तीन भारतेन्दुजी के हैं। दो में प्रेमयोगिनी पर वसंत का सुन्दर रूपक बाँधा गया है और तीसरे में वियोगिनी को योगिनी से बढ़कर

सिद्ध किया गया है। ध्यान करती हुई सावित्री आँखें खोलती है और अपने विचार स्पष्ट रूप में प्रकट करती है। उसके एक एक शब्द में एक उच्च आदर्श की पत्नी का चित्रण किया गया है। पातिव्रत्य की निर्मल उपदेश धारा प्रवाहित की गई है। सखियाँ आती हैं और उसको सत्यवान के प्रेम के विरुद्ध समझाते हुए उसे इस मनोरथ से निवृत्त करना चाहती हैं पर इस पर उसे क्रोध आ जाता है और आवेश में कहती है "निवृत्त करोगी? धर्म पथ से! सत्य प्रेम से? और इसी शरीर में!" कैसे शब्द चुनकर रखे गए हैं कि हृदय पर चोट पर चोट देते हैं और उपदेशक को एक दम निरुत्तर कर देते हैं। चौथे दृश्य में सत्यवान के पिता, माता तथा ऋषि गण दिखलाई पड़ते हैं। नम्रता, दान, औदार्य के विषय में बातचीत होती है और सावित्री-सत्यवान का विवाह निश्चित होता है। भारतेन्दु जी ने यहीं तक लिखा था। इसके अनन्तर पाँचवें दृश्य में वन देवी तथा वन देवता आते है और सावित्री-सत्यवान् के निवास से वन की शोभा-वृद्धि की सूचना देते हैं। छठे दृश्य में सावित्री तथा सत्यवान का प्रेमालाप होता है, सत्यवान लकड़ी लेने जाता है और उसके अनन्तर अशकुन होने से सावित्री घबड़ा कर खोजने जाती है। सातवें दृश्य में मूर्छित सत्यवान को पाकर सावित्री उसका उपचार करती है, यमदूत आते हैं पर पातिव्रत्य के तेज से डर कर चले जाते हैं और तब धर्म-राज स्वयं आते हैं। सावित्री धर्मराज से कई वर माँगती है, जिसे देने के अनन्तर उन्हें बाध्य हो सत्यवान को जीवित छोड़ना पड़ता है और यह रूपक यहीं समाप्त होता है।

इस रूपक में सावित्री तथा सत्यवान का अच्छा चरित्र चित्रण हुआ है। यह उपाख्यान साधारण प्रेम-वासना पूर्ण नहीं है पर उस अलौकिक प्रेम से भरा हुआ है जो सदा अमर रहेगा। वास्तव में पुरुष की शक्ति ही कितनी है, जो शक्तिरूपिणी सती के सम्मुख आँख उठा सके। आँखें तो आप ही उसके चरण की ओर वंदना के लिए झुक जायँगी। इस रूपक में बहुत से अनूठे पद सतीत्व-माहात्म्य पर दिये गए हैं, जिनकी विवेचना के लिए स्थानाभाव है।

धनंजय-विजय

व्यायोग

संवत १९३०

प्यारे !

निश्चय इस ग्रंथ से तुम बड़े प्रसन्न होगे; क्योंकि अच्छे लोग अपनी कीर्त्ति से बढ़कर अपने ज्ञान की कीर्त्ति से संतुष्ट होते हैं। इस हेतु इस होली के आरम्भ के त्योहार माघी-पूर्णिमा में हे धनंजय और निधनंजय के मित्र ! यह धनंजय-विजय तुम्हें समर्पित है, स्वीकार करो।

तुम्हारा

ह—

विदित हो कि यह जिस पुस्तक से अनुवाद किया गया है वह संवत् १५३७ की लिखी है और इसी से बहुत प्रामाणिक है, इससे इसके सब पाठ उसी के अनुसार रखे हैं।

धनंजय-विजय

व्यायोग

हरेर्लीलावराहस्य, दंष्ट्रादण्डः स पातु वः।
हेमाद्रिकलशा यत्र, धात्री छत्रश्रियं दधौ ॥

(सूत्रधार आता है)

सू०—(चारों ओर देखकर) वाह ! वाह ! प्रातःकाल की कैसी शोभा है !

(भैरव)

भोर भयो लखि काम-मातु ओककमिनि महलन जागीं।
बिकसे कमल, उदय भयो रवि को, चकई अति अनुरागीं॥
हंस-हंसिनी पंख हिलावत, सोइ पटह सुखदाई।
आँगन धाइ धाइ कै भँवरी, गावत केलि बधाई॥

(आगे देखकर) अहा शरद् ऋतु कैसी सुहावनी है !

(भैरव वा ठुमरी)

सब कों सुखदाई अति मन भाई शरद सुहाई आई।
कूजत हंस कोकिला, फूले कमल सरनि सुखदाई॥
सूखे पंक, हरे भए तरुवर, दुरे मेघ, मग भूले।
अमल इंदु तारे भए, सरिता-कूल कास-तरु फूले॥

निर्मल जल भयो, दिसा स्वच्छ भईं, सो लखि अति अनुरागे।
जानि परत हरि शरद विलोकत रतिश्रम आलस जागे॥

(नेपथ्य की ओर देखकर) अरे! यह चिट्ठी लिए कौन आता है?

(एक मनुष्य चिट्ठी लाकर देता है, सूत्रधार खोलकर पढ़ता है)

"परम प्रसिद्ध श्रीमहाराज जयदेवजी—
दान देन में, समर में, जिन न लही कहुँ हारि।
केवल जग में विमुख किय, जाहि पराई नारि॥
जाके जिय में तून सो, तुच्छ दाय निरधार।
खीझे अरि को प्रबल दल, रीझे कनक पहार॥
वह प्रसन्न होकर रंगमंडन नामक नट को आज्ञा करते हैं।
अलसाने कछु सुरत-श्रम, अरुन अधखुले नैन।
जगजीवन जागे लखहु, दैन रमा चित चैन॥
शरद देखि जब जग भयो, चहुँ दिसि महा उछाह॥
तौ हमहूँ को चाहिए मंगल करन सचाह॥

इससे तुम वीर रस का कोई अद्‌भुत रूपक खेलकर मेरे गदाधर इत्यादि साथियों को प्रसन्न करो।" ऐसा कौन सा रूपक है? (स्मरण करके) अरे जाना।

ऋषि मुनि के सब मिसुन कों धारि धाय सो प्रीति।
सिखवत आप सरस्वती नित बहु विधि की नीति॥
ताही कुल में प्रगट भे नारायन गुन धाम।
लह्यो जीति बहु वादिगन जिन वादीश्वर नाम॥
अभय दियो जिन जगत कों धारि जोग-संन्यास।
पै भय इक रवि कों रही मंडल भेदन त्रास॥
तिनके सुत सब गुन भरे कविवर कांचन नाम।
जाकी रसना मनु सकल विद्यागन की धाम॥

तो उस कवि का बनाया धनंजय-विजय खेलैं। (नेपथ्य की ओर देखकर) यहाँ कोई है ?

(पारिपार्श्वक आता है)

पा०—कौन नियोग है कहिए ?

सू०—धनंजय-विजय के खेलने में कुसल नटवर्ग को बुलाओ।

पा०—जो आज्ञा। [जाता है

सू०—(पश्चिम की ओर देखकर)

सत्य प्रतिज्ञा करन कों छिप्यौ निसा अज्ञात।
तेजपुंज अर्जुन सोई रवि सों कढ़त लखात॥

विराट के अमात्य के साथ अर्जुन आता है

अ०—(उत्साह से) दैव अनुकूल जान पड़ता है क्योंकि—

जो औषध खोजत रहै मिलै सु पगतल आइ।
बिना परिश्रम तिमि मिल्यौ कुरुपति आपुहि धाइ॥

सू०—(हर्ष से देख कर) अरे यह शामलक तो अर्जुन का भेस लेकर आ पहुँचा, तो अब मैं और पात्रों को भी चलकर बनाऊँ। [जाता है

इति प्रस्तावना

अ०—(हर्ष से)

गोरत्तन रिपु-मान-बध, नृप विराट को हेत।
समर हेत इक बहुत सब भाग मिल्यौ या खेत॥

और भी

वहै मनोरथ फल सुफल, वहै महोत्सव हेत।
जो मानी निज रिपुन सों अपुनो बदलो लेत॥

अमा०—देव, यह आपके योग्य संग्राम भूमि नहीं है।

जिन निवात-कवचन बध्यौ, कालकेय दिय दाहि।
शिव तोष्यौ रनभूमि जिन, ये कौरव कहँ ताहि॥

अ०—वाह सुयोधन वाह ! क्यों न हो।

लह्यौ बाहुबल जीति कै जो तुव पुरुखन राज।
सो तुम जूआ खेलि कै जीत्यो सहित समाज॥
अब भीलन की भाँति इमि छिपिकै चोरत गाय।
कुल-गुरु-ससि, तुव नीचपन, लखि कै रह्यौ लजाय॥

अमा०—देव !

जदपि चरित कुरुनाथ के ससि-सिर देत झुकाय।
तऊ रावरो विमल जस राखत ताहि उचाय॥

अ०—(कुछ सोचकर) कुमार नगर के पास धरे हुए शस्त्रों को लेने रथ पर बैठकर गया है, सो अब तक क्यों नहीं आया ?

(उत्तर कुमार आता है)

कु०—देव, आपकी आज्ञानुसार सब कुछ प्रस्तुत है, अब आप रथ पर विराजिए।

अ०—(शस्त्र बाँधकर रथ पर चढ़ना नाट्य करता है)

अमा०—(विस्मय से अर्जुन को देखकर)

रनभूषन भूषित सुनर, गतदूषन सब गात।
सरद सूर सम घन-रहित सूर प्रचंड लखात॥

(नायक से)

दच्छिन खुर महि मरदि हय गरजहिं मेघ-समान।
उड़ि रथ-धुज आगे बढ़हिं तुव बस विजय-निसान॥

अ०—अमात्य ! अब हम लोग गऊ छुड़ाने जाते हैं। आप नगर में जाकर गोहरण से व्याकुल नगरवासियों को धीरज दीजिए।

अमा०—महाराज जो आज्ञा। [जाता है।

अ०—(कुमार से) देखो, गऊ दूर न निकल जाने पावें, घोड़ों को कसके हांको।

कु०— (रथ हाँकना नाट्य करता है)

अ०—(रथ का वेग देखकर)

लोकहु नहिं लखि परत चक्र की, ऐसे धावत।
दूर रहत तरु वृंद छनक में आगे आवत॥
जदपि वाय-बल पाइ धूरि आगे गति पावत।
पै हय, निज-खुर-वेग पीछहीं मारि गिरावत॥
खुर-मरदित महि चूमहिं मनहु धाइ चलहिं जब बेगि गति।
मनु होइ जीत-हित चरन सों आगेहि मुख बढ़ि जात अति॥

(नेपथ्य की ओर देखकर) अरे अरे अहीरो! सोच मत करो, क्योंकि—

जब लौ बछरा करुना करि महि तृन नहिं खैहैं।
जब लौ जननी बाट देखिकै नहिं डकरैहैं॥
जब लौं पय पीवन हित वे नहिं व्याकुल ह्वैहैं।
ताके पहिलेहि गाय जीतिकै हम ले ऐहैं॥

(नेपथ्य में) बड़ी कृपा है।

कु०— महाराज! अब ले लिया है कौरवों की सेना को, क्योंकि—

हय-खुर-रज सों नभ छयो वह आगे दरसात।
मनु प्राचीन कपोत गल सांद्र सुरुचि सरसात॥
करिवर मद-धारा तिया रमत रसिक जो पौन।
सोई केलिमद गंध लै, करत इतैही गौन॥

अ०—वह देखो कौरवों की सेना दिखा रही है।

चपल चवँर चहुँ ओर चलहिं सित छत्र फिराहीं।
उड़हिं गीधगन गगन जबै भाले चमकाहीं॥
घोर संख के शब्द भरत बन मृगन डरावति।
यह देखौ कुरुसैन सामने धावति आवति॥

(बाँह की ओर देखकर उत्साह से)

बन-बन धावत सदा धूर धूसर जो सोहीं।
पंचाली-गल-मिलन-हेतु अब लौं ललचौहीं॥
जो जुवती-जन-बाहु बलय मिलि नाहिं लजाहीं।
रिपुगन! ठाढ़े रहौ सोई मम भुज फरकाहीं॥

(नेपथ्य में)

फेरत धनु टंकारि दरप शिव-सम दरसावत।
साहस को मनु रूप काल-सम दुसह लखावत॥
जय-लक्ष्मी सम वीर धनुष धरि रोष बढ़ावत।
को यह जो कुरुपतिहि गिनत नहिं इतही आवत॥

(दोनों कान लगाकर सुनते हैं)

कु०—महाराज! यह किसके बड़े गंभीर वचन हैं!

अ०—हमारे प्रथम गुरु कृपाचार्य के।

(फिर नेपथ्य में)

शिव-तोषन खांडव-दहन सोई पांडवनाथ।
धनु खींचत घट्टा पड़े दूजे काके हाथ॥
छूटि गए सब शस्त्र तबौ धीरज उर धारे।
बाहु-मात्र अवशेष दुगुन हिय क्रोध पसारे॥
जाहि देखि निज कपट भूलि है प्रगट पुरारी।
साहस पै बहु रीझि रहे अपुनपौ हारी॥

अरे यह निश्चय अर्जुन ही है, क्योंकि—

सागर परम गँभीर नध्यो गोपद-सम छिन मैं।
सीता-बिरह-मिटावन की अद्भुत मति जिन मैं॥
जारी जिन तृन फूस हूस सी लंका सारी।
रावन गरब मिटाइ हने निसिचर-बल भारी॥
श्रीराम प्रान-सम, बीर-वर, भक्तराज, सुग्रीव-प्रिय।
सोइ वायुतनय धुज बैठि कै गरजि डरावत शत्रु-हिय॥

(दोनों सुनते हैं)

कु०—आयुष्मान्,

भरी बीर रस सों कहत चतुर गूढ़ अति बात।
पच्छपात सुत सों करत को यह तुम पैं तात॥

अ०—कुमार! यह तो ठीक ही है, पुत्र से पक्षपात करता है, यह क्यों कहते हो! मैं आचार्य्य का तो पुत्र ही हूँ।

(नेपथ्य में)

करन! गहौ धनु वेग, जाहु कृप! आगे धाई।
द्रोन! अस्त्र भृगुनाथ-लहे सब रहौ चढ़ाई॥
अश्वत्थामा! काज सबै कुरुपति को साधहु।
दुरमुख! दुस्सासन! विकर्ण! निज ब्यूहन बाँधहु॥
गंगासुत शांतनु-तनय बर भीष्म क्रोध सों धनु गहत।
लखि शिव-शिखिन रिपु सामुहें तानि बान छोड़ो चहत॥

अ०—(आनंद से) अहा! यह कुरुराज अपनी सैन्य को बढ़ावा दे रहा है।

कु०—देव! मैं कौरव योधाओं का स्वरूप और बल जानना चाहता हूँ।

अ०—देखो इसके ध्वजा के सर्प के चिह्न ही से इसकी टेढ़ाई प्रगट होती है।

चंद्र-वंश को प्रथम कलह-अंकुर एहि मानो।
जाके चित सौजन्य भाव नहिं नेकु लखानो॥
विष जल अगिन अनेक भाँति हमको दुख दीनो।
सो यह आवत ढीठ लखौ कुरुपति मतिहीनो॥

कु०—और यह उसके दाहिनी ओर कौन है ?

अ०—(आश्चर्य से)

जिन हिडंब-अरि रिसि भरे लखत लाज-भय खोय।
कृष्णा-पट खींच्यौ निलज यह दुस्सासन सोय॥

कु०—अब इससे बढ़कर और क्या साहस होगा ?

अ०—इधर देखो (हाथ जोड़कर प्रणाम करके)

कंचन-वेदी बैठि बड़ापन प्रगट दिखावत।
सूरज को प्रतिबिंब जाहि मिलि जाल तनावत॥
अस्त्र उपनिषद भेद जानि भय दूर भजावत।
कौरव-कुल-गुरु पूज्य द्रोन आचारज आवत॥

कु०—यह तो बड़े महानुभाव से जान पड़ते हैं।

अ०—इधर देखो।

सिर पैं बाँकी जटा-जूट-मंडित, छबि धारी।
अस्त्र-रूप मनु आप, दूसरो दुसह पुरारी॥
सत्रुन कों नित अजय मित्र को पूरनकामा।
गुरु-सुत मेरो मित्र लखौ यह अश्वत्थामा॥

कु०—हाँ और बताइए।

अ०—धनुर्वेद को सार जिन घट भरि पूरि प्रताप।
कनक-कलस धरि धुज धर्‌यौ, सो कृप कुरु-गुरु आप॥

कु०—और यह कुरुराज के सामने लड़ाई के हेतु फेंट कसे कौन खड़ा है ?

अ०—(क्रोध से)

सब कुरुगन को अनय-बीज धनुचित अभिमानी।
भृगुपति छलि लहि अस्त्र वृथा गरजत अघखानी॥
सूत-सुअन लखु बात दरप अपनो प्रगटावत।
इंद्रशक्ति लहि गर्व-भरो रन को इत आवत॥

कु०—(हँसकर) इनका सब प्रभाव घोष-यात्रा में प्रगट हो चुका है। (दूसरी ओर दिखाकर) यह किसका ध्वज है?

अ०—(प्रणाम करके)

परतिय जिन कबहूँ न लखी निज ब्रतहिं दृढ़ाई।
श्वेत केस मिस सों कीरति मनु तन लपटाई॥
परशुराम को तोष भयो जा सर के त्यागे।
तौन पितामह भीष्म लखौ यह आवत आगे॥
सूत! घोड़ों को बढ़ाओ।

(नेपथ्य में)

समर बिलोकन कों जुरे, चढ़ि बिमान सुर धाइ।
निज-बल बाहु-विचित्रता, अरजुन देहु दिखाइ॥

(इंद्र, विद्याधर और प्रतिहारी आते हैं)

इंद्र—आश्चर्य से

बातहु सों झगरैं बलो तौ निबलन भय होय।
तो यह दारुन युद्ध लखि, क्यों न डरैं जिय खोय॥
एक रथी इक ओर उत बती रथी समुदाय।
तोहू सुत तू धन्य अरि इकलो देत भजाय॥

कु०—(आगे देखकर) देव, कौरव-राज यह चले आते हैं।

अ०—तो सब मनोरथ पूरे हुए।

(रथ पर बैठा दुर्योधन आता है)

दु०—(अर्जुन को देखकर क्रोध से)

बहु दुख सहि बनवास करि, जीवन सों अकुलाय।
मरन-हेतु आयो इतै इकलो गरब बढ़ाय॥

अ०—(हँसकर)

कालकेय बधि कै, निवात-कवचन कहँ मारयौ।
इकले खांडव दाहि, उमापति जुद्ध प्रचारयौ॥
इकले ही बल कृष्ण लखत भगिनी हरि लीनी।
अरजुन की रन नाहिं नई इकली गति लीनी॥

दु०—अब हँसने का समय नहीं है; क्योंकि अंधाधुंध घोर संग्राम का समय है।

अ०—(हँसकर)

दूर रहौ कुरुनाथ नाहिं यह छल जूआ इत।
पापीगन मिलि द्रौपदि को दासी कीनी जित॥
यह रन-जूआ जहाँ बान-पासे हम डारैं।
रिपुगन सिर की गोंट जीति अपुने बल मारैं॥

दु०—(क्रोध से)

चूड़ी पहिरन सों गयो, तेरो सर-अभ्यास।
नर्त्तनसाला जाव किन, इत पौरुष परकास॥

कु०—(मुँह चिढ़ाकर) आर्य ! यह आप ठीक कहते हैं कि इनका बहुत दिन से धनुष चलाने का अभ्यास छूट गया है।

जब बन मैं गंधर्व-गनन तुम कों कसि बांध्यौ।
तब करि अग्रज-नेह गरजि जिन तहँ सर सांध्यौ।
लीन्हें तुम्हैं छुड़ाइ जीति सुरगन छिन माहीं।
तब तुम सर-अभ्यास लख्यो बिह्वल ह्वै नाहीं॥

विद्या०—देव ! यह बालक बड़ा ढीठा है।

इंद्र—क्यों न हो ! राजा का लड़का है।

दु०—सुन ! ब्राह्मणों की भाँति इस कोरी बकवाद से फल क्या है ? यह पृथ्वी ऊँची-नीची है इससे तुम अब समान पृथ्वी पर रथ ले चलो।

अ०—जो कुरुराज की इच्छा। (दोनों रथ जाते हैं)

विद्या०—(अर्जुन का रथ देखकर) देव !

तुव सुत-रथ-हय-खुर बढ़ी, समय-धूरि नभ जौन ॥
अरि-अरनी मंथन अगिनि-धूम-लेख सी तौन ॥

इंद्र—क्यों न हो तुम महाकवि हो।

विद्या०—देव ! देखिए अर्जुन के पास पहुँचते ही कौरवों में कैसा कोलाहल पड़ गया, देखिए —

हय हिनहिनात अनेक गज सर खाइ घोर चिकारहीं।
बहु बजहिं बाजे मारु धरु धुनि दपटि वीर उचारहीं ॥
टंकार धनु की होत घंटा बजहिं सर संचारहीं।
सुनि सबद रन को बरन पति सुरबधू तन सिंगारहीं ॥

प्रति०—देव ! केवल कोलाहल ही नहीं हुआ वरन् आपके पुत्र के उधर जाते ही सब लोग लड़ने को भी एक संग उठ दौड़े। देव ! देखिए, अर्जुन ने कान तक खींच-खींचकर जो बान चलाए हैं, उनसे कौरव-सेना में किसी के अंग-भंग हो गए हैं, किसी के धनुष दो टुकड़े हो गए हैं, किसी के सिर कट गए हैं, किसी की आँखें फूट गई हैं, किसी की भुजा टूट गई है, किसी की छाती घायल हो रही है।

इंद्र—(हर्ष से) वाह बेटा ! अब ले लिया है।

विद्या०—देव ! देखिये देखिये।

गज-जूथ सोई घन-घटा मद-धार-धारा सरत जे।
तरवार-चमकनि बीजु की दमकनि, गरज बाजन बाजे ॥

गोली चलें जुगनू सोई, बकवृन्द धुज बहु सोहई।
कातर बियोगिन दुखद रन की भूमि पावस नभ भई॥
तुव सुत-सर सहि, मद-गलित दंत केतकी खोय।
धावत गज जिनके लखे; हथिनी को भ्रम होय॥

इंद्र—(संतोष से)

हर-सिच्छित सर-रीति जिन कालकेय दिय दाहि।
जो जदुनाथ सनाथ कह कौरव जीतन ताहि॥

प्रति०—महाराज देखें।

कटे कुंड सुंडन के रुंड मैं लगाय तुंड,
झुंड मुंड पान करैं लोहू भूत चेटी हैं।
हाड़न चबाइ, चरबीन सों अघाय, मेटी
भूख सब मरे मुरदान मैं समेटी हैं॥
लाल अंग कीने सीस हाथन मैं लीने अस्थि,
भूखन नवीने आँत जिन पै लपेटी हैं।
हरष बढ़ाय आँगुरीन को नचाय पियैं,
सोनित-पियासी सी पिसाचन की बेटी हैं।

विद्या०—देव! देखिये—

हिलन धुजा सिर साम चमक मिलिकै व्यूह लखात।
तुव सुत-सर लगि घूमि जब गज-गन मंडल खात॥

इंद्र—(आनन्द से देखता है)

प्रति०—देव, देखिये! देखिये! आपके पुत्र के धनुष से छूटे हुए बानों से मनुष्य और हाथियों के अंग कटने से जो लहू की धारा निकलती है उसे पी-पीकर यह जोगिनियाँ आपके पुत्र ही की जीत मनाती हैं।

इंद्र—तो जय ही है, क्योंकि इनकी असीस सच्ची है।

विद्या०—(देखकर) देव ! अब तो बड़ा ही घोर युद्ध हो रहा है। देखिए—

विरचि नला गजसुंड की काटि काटि भट सीस।
रुधिर पान करि जोगिनी विजयहि देहिं असीस॥
टूटि गई दोउ भौंह स्वेद सों तिलक मिटाए।
नयन पसारे लाल क्रोध सों ओठ चबाए॥
कटे कुंडलन मुकुट बिना ओहत दरसाए।
वायु वेग बस केस मूछ दाढ़ी फहराए॥
तुव तनय-बान लगि बैरि-सिर एहि विधि सों नभ में फिरत।
तिन संग काक अरु कंक बहु रंक भए धावत गिरत॥

(बड़े आश्चर्य से इधर-उधर देखकर) देव ! देखिए—

सीस कटे भट सोहहीं नैन जुगल बल लाल।
बरहिं तिनहिं नाचहिं हँसहिं गावहिं नभ सुरबाल॥

इंद्र—(हर्ष से) मैं क्या-क्या देखूँ ? मेरा जी तो बावला हो रहा है।

इत लाखन कुरु सँग लरत इकलो कुंतीनंद।
उत बीरन कों बरन कों लरहिं अप्सरावृंद॥

विद्या०—ठीक है (दूसरी ओर देखकर) देव ! इधर देखिए—

लपटि दपटि चहुँ दिसन बाग बन जीव जरावत।
ज्वाला-माला लोल लहर धुज सी फहरावत॥
परम भयानक प्रगट प्रलय सम समय लखावत।
गंगा-सुत कृत अगिन-अस्त्र उमग्यो ही आवत॥

प्रति०—देव ! मुझे तो इस कड़ी आँच से डर लगता है।

विद्या—भद्र ! व्यर्थ क्यों डरता है, भला अर्जुन के आगे यह क्या है ! देख—

अर्जुन ने यह बरुन अस्त्र जो बेगि चलायो।
तासों नभ में घोर घटा को मंडल छायो॥
उमड़ि उमड़ि करि गरज बीजुरी चमकि डरायो।
मुसलधार जल बरसि छिनक मैं ताप बुझायो॥

इंद्र—बालक बड़ा ही प्रतापी है।

प्रति०—देव! राधेय ने यह भुजंगास्त्र छोड़ा है. देखिए अपने मुखों से आग सा विष उगलते हुए, अपने सिर के मणियों से चमकते हुए इंद्रधनुष से पृथ्वी को व्याकुल करते हुए, देखने ही से वृक्षों को जलाते हुए, ये कैसे-कैसे डरावने साँप निकले चले आते हैं।

विद्या०—दुष्ट मनोरथ सरिस लसैं लाँबे दुखदाई।
टेढ़े जिमि खल-चित्त भयानक रहत सदाई॥
वमत बदन विष निंदक सों मुख कारिख लाए।
अहिगन नभ मैं लखहु धाइ कै चहुँ दिस छाए॥

इंद्र—क्या खांडव वन का बैर लेने आते हैं?

विद्या०—आप शोच क्यों करते हैं; देखिए, अर्जुन ने गारुड़ास्त्र छोड़ा है।

निज कुल गुरु तुव पुत्र सारथिहि तोष बढ़ावत।
झपटि दपटि गहि अहिन टूक करि नास मिलावत॥
बादर से उड़ि खींचि खींचि दोउ पंख हिलावत।
गरुड़न को घन गगन छयो अहि हियो डरावत॥

इंद्र—(हर्ष से) हाँ तब।

प्रति०—देखिए, यह दुर्योधन के वाक्य से पीड़ित होकर द्रोणाचार्य ने आपके पुत्र पर मारणास्त्र छोड़ा है।

विद्या०—(देखकर) वैनायक-अस्त्र चल चुका, देखिए—

रँगे गंड सिंदूर सों, घहरत घंटा घोर।
निज मद सों सींचत धरनि, गरजि चिकारहिं जोर॥
धुँड़ फिरावत सीकरन धावत भरे उमंग।
छावत आवत घन सरिस मरदत मनुज मतंग॥

इंद्र—तब, तब।

विद्या०—तब अर्जुन ने नरसिंहास्त्र छोड़ा है, देखिए—

गरजि गरजि जिन छिन में गर्भिनि गर्भ गिरायो।
काल सरिस मुख खोलि दाँत बाहर प्रगटायो॥
मारि थपेड़न गंड सुंड को माँस चबायो।
उदर फारि चिक्कार रुधिर पोखरा चलायो॥
करि नैन अगिनि सम मोछ फहराइ पोंछ टेढ़ो करत।
गल-केसर लहरावत चल्यो क्रोधि सिंह-दल दल दलत।

इंद्र—तो अब जय होने में थोड़ी ही देर है।

विद्या०—देव! कहिए कि कुछ भी देर नहीं है।

गंगा-सुत के बधि तुरग, द्रोन-सूत हति खेत।
करन-रथहि करि खंड बहु, कृप कहँ कियो अचेत॥
और भजाई सैन सब, द्रोनसुवन-धनु काट।
तुव सुत जोहत अब खड़ो, दुरजोधन की बाट॥

प्रति०—दुर्योधन का तो बुरा हुआ।

विद्या—नहीं।

व्याकुल तुव सुत-बान सों विमुख भयो रन-काज।
मुकुट गिरन सों क्रोध करि फिर्यो फेर कुरुराज॥

(नेपथ्य में)

सुन-सुन कर्ण के मित्र!

सभा माँहि लखि द्रौपदिहिं क्रोध अतिहि जिय लेत।
अग्रज परतिज्ञा करी तुव उरु तोड़न हेत॥

ताही सों तोहि नहिं बध्यो, न तरु अबै कुरु-ईस ।
जा सर सों तोरयो मुकुट तासों हरतो सीस ॥

प्रति०—देव अपने पुत्र का वचन सुना ?

इंद्र—(विस्मय से)

दैव भए अनुकूल तें सब ही करत सहाय।
भीम-प्रतिज्ञा सों बच्यो अनायास कुरुराय ॥

विद्या०—देव! दुर्योधन के मुकुट गिरने से सब कौरवों ने क्रोधित होकर अर्जुन को चारों ओर से घेर लिया है।

इंद्र—तो अब क्या होगा ?

विद्या०—देव अब आपके पुत्र ने प्रस्वापनास्त्र चलाया है।

नाक बोलावत, धनु किए तकिया, मूँदे नैन।
सब अचेत सोए, भई मुरदा सी कुरु सैन ॥

इंद्र—युद्ध से थके लोगों को सोना योग्य ही है। हाँ फिर—

विद्या०—एक पितामह छोड़ि कै सबको नागो कीन।

बाँधि अँधेरो आँख मैं, मूँड़ि तिलक सिर दीन ॥
अब जागे भागे लखौ रह्यो न कोऊ खेत।
गोधन लै तुव सुत अबै ग्वालन देखौ देत ॥
शत्रु जीति निज मित्र को काज साधि सानंद।
पुरजन सों पुजित लखौ पुर प्रविसत तुव नंद ॥

इंद्र—जो देखना था वह देखा।

(रथ पर बैठ अर्जुन और कुमार आते हैं)

अ०—(कुमार से) कुमार!

जो मो कहँ आनँद भयो करि कौरव बिनु सेस।
तुव तन को बिनु घाव लखि तासों मोद बिसेस ॥

कु०—जब आप सा रक्षक हो तो यह कौन बड़ी बात है।

इंद्र—(आनंद से) जो देखना था वह देख चुके।

(विद्याधर और प्रतिहारी समेत जाता है)

अ०— (संतोष से) कुमार !

करी बसन बिनु द्रौपदी इन सब सभा बुलाय।
सो हम इनको वस्त्र हरि बदलो लीन्ह चुकाय॥

कु०—आपने सब बहुत ठीक ही किया क्योंकि—

बरु रन में मरनो भलो पाके सब सुख सींव।
निज अरि सों अपमान हिय खटकत जब लौं जीव॥

अ०—(आगे देखकर) अरे अपने भाइयों और राजा विराट समेत आर्य धर्मराज इधर ही आते हैं।

(तीनों भाई समेत धर्मराज और विराट आते हैं)

धर्म०—मत्स्यराज ! देखिए—

धूर धूसरित अलक सब मुख श्रमकन झलकात।
असम समर करि थकित पै, जय सोभा प्रगटात॥

विरा०—सत्य है।

द्विज सोहत विद्या पढ़ें, छत्री रन जय पाय।
लक्ष्मी सोहत दान सों, तिमि कुलबधू लजाय॥

अ०—(घबड़ाकर) अरे क्या भैया आ गए? (रथ से उतरकर दंडवत् करता है)

सब—(आनंद से एक ही साथ) कल्याण हो—जीते रहो !

धर्म०—

इकले सिव रिपुपुर दह्यो, निसचर मारे राम।
तुम इकले जीत्यो कुरुन, नहिं अब चौथे नाम॥

अ०—(सिर झुकाकर हाथ जोड़कर) यह केवल आपकी कृपा है।

विरा०—(नेपथ्य की ओर हाथ से दिखाकर) राजपुत्र ! देखो।

मिलि बछरन सों धेनु सब श्रवहिं दूध की धार।
तुव उज्जल कीरति मनहुँ फैलत नगर मँझार॥

और,

खींच्यो कृष्णाकेस जो सभा माँहि कुरुराज।
सो तुम मुकुट गिराइ कै बदलो लीन्हो आज॥

भीम०—(सुनकर क्रोध से) राजन्! अभी बदला नहीं चुका, क्योंकि—

तोरि गदा सों हृदय दुष्ट दुस्सासन केरो।
तासों ताजो सद्य रुधिर करि पान घनेरो॥
ताही कर सों कृष्णा को बेनी बँधवाई।
भीमसेन हो सो बदलो लैहै चुकवाई॥

धर्म०—बेटा, तुम्हारे आगे यह क्या बड़ी बात है।

सौगंधिक तोर्यो कनक, कियो हिडंबहि घात।
हत्यौ बकासुर जिन सहज, तेहि केती यह बात॥

भीम०—(विनय से) महाराज सुनिए, अब हम क्षमा नहीं कर सकते।

धर्म०—बेटा, क्षमा के दिन गए, युद्ध के दिन आए, अब इतना मत घबड़ाओ।

विरा०—(युधिष्ठिर से)

तुव सरूप जाने बिना लियो अनेकन काज।
जोग अजोग अनेक विधि सो छमिए महराज॥

अ०—राजन्! यह उपकार ही हुआ, अपकार कभी नहीं हुआ। क्योंकि—

जो अजोग करते न हम सेवा है तुव दास।
तो कोउ विधि छिपतो न यह मम अज्ञात निवास॥

विरा०—(अर्जुन से) राजपुत्र!

सात चरनहू सँग चले मित्र भए हम दोय।
तासों माँगत उत्तरा पुत्रबधू तुव होय॥

अ०—आपकी जो इच्छा। क्योंकि—

आपु आवती लच्छमी को मूरख नहिं लेत।
सोऊ बिन माँगे मिलै तो केवल हरि हेत॥

विरा०—और भी मैं आपका कुछ प्रिय कर सकता हूँ?

अ०—अब इससे बढ़ कर क्या होगा?

शत्रु सुजोधन सों लही करन सहित रन जीत।
गाय फेरि लाए सबै पायो तुम सो मीत॥
लही बधू सुत-हित भयो सुख अज्ञात निवास।
तौ अब का नहिं हम लह्यो जाकी राखैं आस॥
तौ भी यह भरतवाक्य सत्य हो—

राजवर्ग मद छोड़ि निपुन विद्या में होई।
आलस मूरखतादि तजैं भारत* सब कोई॥
पंडितगन पर कृति लखि कै मति दोष लगावैं।
छुटै राज-कर, मेघ समै पै जल बरसावैं॥
कजरी ठुमरिन सों मोरि मुख सत कविता सब कोउ कहै।
हिय भोगवती सम गुप्त हरि प्रेम धार नितही बहै†॥

और भी

"सौजन्यामृतसिन्धवः परहितप्रारब्धवीरव्रताः
वाचालाः परवर्णने निजगुणालापे च मौनव्रताः।

---

*पाठा० श्री हरिपद मैं भक्ति करैं छल बिनु।

†पाठा० यह कविबानी बुध बदन मैं रवि ससि लौं प्रगटित रहै।

आपत्स्वप्यविलुप्तधैर्यनिचया सम्पत्स्वनुत्सेकिनो
मा भूवन् खलवक्त्रनिर्गतविषम्लानाननाः सज्जनाः"* ॥

विद०—तथास्तु।

(सब जाते हैं)

---

*सौजन्य रूपी अमृत के समुद्र, दूसरे की भलाई में दृढ़व्रती, दूसरे की प्रशंसा में बकवादी पर अपनी प्रशंसा करने में मौनी बाबा, कष्ट में धैर्य के समूह को न छोड़ने वाले और सम्पत्ति काल में नम्र जो सज्जन हैं, वे दुष्टों के मुख से निकले विष भरी बातों से उदास मुख न हों।

सत्यहरिश्चंद्र

नाटक

संवत् १९३१

उपक्रम

मेरे मित्र बाबू बालेश्वरप्रसाद बी० ए० ने मुझसे कहा कि आप कोई ऐसा नाटक भी लिखें जो लड़कों के पढ़ने-पढ़ाने के योग्य हों, क्योंकि शृङ्गाररस के आपने जो नाटक लिखे हैं, वे बड़े लोगों के पढ़ने के हैं, लड़कों को उनसे कोई लाभ नहीं। उन्हीं के इच्छानुसार मैंने यह सत्यहरिश्चन्द्र नामक रूपक लिखा है। इसमें सूर्यकुल-संभूत राजा हरिश्चन्द्र की कथा है। राजा हरिश्चन्द्र सूर्यवंश का अट्ठाइसवाँ राजा रामचंद्र से ३१ पीढ़ी पहले त्रिशंकु का पुत्र था। इसने शौभपुर नामक एक नगर बसाया था और बड़ा ही दानी था। इसकी कथा शास्त्रों में बहुत प्रसिद्ध है और संस्कृत में राजा महिपालदेव के समय में आर्य क्षेमीश्वर कवि ने चंडकौशिक नामक नाटक इन्हीं हरिश्चन्द्र के चरित्र में बनाया है। अनुमान होता है कि इस नाटक को बने चार सौ बरस से ऊपर हुए क्योंकि विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्य-ग्रंथ में इसका नाम लिखा है। कौशिक विश्वामित्र का नाम है। हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र दोनों शब्द व्याकरण की रीति से स्वयंसिद्ध हैं। विश्वामित्र कान्यकुब्ज का क्षत्रिय राजा था। यह एक बेर संयोग से वशिष्ठ के आश्रम में गया और जब वशिष्ठ ने सैनसमेत उसकी जाफत अपनी शबला नाम की कामधेनु गऊ के प्रताप से बड़े धूमधाम से की तो विश्वामित्र ने वह कामधेनु लेनी चाही। जब हजारों हाथी, घोड़े और ऊँट के बदले भी वशिष्ठ ने गऊ न दी तो विश्वामित्र ने गऊ छीन लेनी चाही। वशिष्ठ की आज्ञा से कामधेनु ने विश्वामित्र की सब सेना का

नाश कर दिया और विश्वामित्र के सौ पुत्र भी वशिष्ठ ने शाप से जला दिए। विश्वामित्र इस पराजय से उदास होकर तप करने लगे और महादेवजी से वरदान में सब अस्त्र पाकर फिर वशिष्ठ से लड़ने आए। वशिष्ठ ने मंत्र के बल से एक ऐसा ब्रह्मदंड खड़ा कर दिया कि विश्वामित्र के सब अस्त्र निष्फल हुए। हारकर विश्वामित्र ने सोचा कि अब तप करके ब्राह्मण होना चाहिए और तप करके अंत में ब्राह्मण और ब्रह्मर्षि हो गए। यह वाल्मीकीय रामायण के बालकांड* के ५२ से ६० सर्ग तक सविस्तर वर्णित है।

जब हरिश्चन्द्र के पिता त्रिशंकु ने इसी शरीर से स्वर्ग जाने के हेतु वशिष्ठजी से कहा तो उन्होंने उत्तर दिया कि वह अशक्य काम हम से न होगा। तब त्रिशंकु वशिष्ठ के सौ पुत्रों के पास गया और जब उनसे भी कोरा जवाब पाया तब कहा कि तुम्हारे पिता और तुम लोगों ने हमारी इच्छा पूरी नहीं की और हमको कोरा जवाब दिया इससे अब हम दूसरा पुरोहित करते हैं। वशिष्ठ के पुत्रों ने इस बात से रुष्ट होकर त्रिशंकु को शाप दिया कि तू चांडाल हो जा। बिचारा त्रिशंकु चांडाल बनकर विश्वामित्र के पास गया और दुखी होकर अपना सब हाल वर्णन किया। विश्वामित्र ने अपने पुराने वैर का बदला लेने का अच्छा अवसर सोचकर राजा से प्रतिज्ञा किया कि इसी देह से तुमको स्वर्ग भेजेंगे और सब मुनियों को बुलाकर यज्ञ करना चाहा। सब ऋषि तो आये, पर वशिष्ठ के सौ पुत्र नहीं आए और कहा कि जहाँ चांडाल यजमान और क्षत्रिय पुरोहित हो वहाँ कौन जाय। क्रोधी विश्वामित्र ने इस बात से रुष्ट होकर शाप से वशिष्ठ के उन सौ पुत्रों को

* अयोध्याकांड यहाँ भूल से छपा था।

भस्म कर दिया। यह देखकर और बिचारे ऋषि मारे डर के यज्ञ करने लगे। जब मंत्रों से बुलाने से देवता लोग यज्ञ-भाग लेने न आए तो विश्वामित्र ने क्रोध से श्रुवा उठाकर कहा कि त्रिशंकु! यज्ञ से कुछ काम नहीं, तुम हमारे तपोबल से स्वर्ग जाओ। त्रिशंकु इतना कहते ही आकाश की ओर उड़ा। जब इंद्र ने देखा कि त्रिशंकु सशरीर स्वर्ग में आया चाहता है तो पुकारा कि अरे तू यहाँ आने के योग्य नहीं है, नीचे गिर। त्रिशंकु यह सुनते ही उलटा होकर नीचे गिरा और विश्वामित्र को त्राहि-त्राहि पुकारा। विश्वामित्र ने तप-बल से उसको वहीं बीच ही में स्थिर रखा। कर्मनाशा नामक नदी त्रिशंकु के ही लार से बनी है। फिर देवताओं पर क्रोध करके विश्वामित्र ने सृष्टि ही दूसरी करनी चाही। दक्षिणध्रुव के समीप सप्तर्षि और नक्षत्र इन्होंने नए बनाए और बहुत से जीव-जन्तु-फल-मूल बनाकर जब इंद्रादिक देवता भी दूसरे बनाने चाहे तब देवता लोग डरकर इनसे क्षमा माँगने गए। इन्होंने अपनी बनाई सृष्टि स्थिर रखकर और दक्षिणाकाश में त्रिशंकु को ग्रह की भाँति प्रकाशमान स्थिर रख क्षमा किया। यह सब भी रामायण ही में है। फिर एक बेर पानी नहीं बरसा, इससे बड़ा काल पड़ा। विश्वा-मित्र एक चांडाल के घर भीख माँगने गए और जब कुत्ते का मांस पाया तो उसी से देवताओं को बलि दिया। देवता लोग इनके भय से काँप गए और इंद्र ने उस समय पानी बरसाया। यह प्रसंग महाभारत के शांतिपर्व्व के १४१ अध्याय में है। फिर हरिश्चन्द्र की विपत्ति सुनकर क्रोध से वशिष्ठजी ने उनको शाप दिया कि तुम बकुला हो जाओ और विश्वामित्र ने यह

सुनकर वशिष्ठ को शाप दिया कि तुम आड़ी * हो जाओ। पक्षी बनकर दोनों ने बड़ा घोर युद्ध किया, जिससे त्रैलोक्य काँप गया। अंत में ब्रह्मा ने दोनों से मेल कराया। यह उपाख्यान मार्कंडेय पुराण के नवें अध्याय में है। इनकी उत्पत्ति यों है—भृगु ने जब अपने पुत्र च्यवन ऋषि को ब्याह किए देखा तो बड़े प्रसन्न हुए और बेटा-बहू देखने को उनके घर आए। उन दोनों ने पिता की पूजा की और हाथ जोड़कर सामने खड़े हो गए। भृगु ने बहू से कहा कि बेटी, वर माँग। सत्यवती ने यह वर माँगा कि मुझे तो वेदशास्त्र जाननेवाला और मेरी माता को युद्धविद्या-विशारद पुत्र हो। भृगु ने एवमस्तु कहकर ध्यान दे प्राणायाम किया और उनके श्वास से दो चरु उत्पन्न हुए। भृगु ने वह बहू को देकर कहा कि यह लाल चरु तो तुम्हारी माता प्रति ऋतु समय में अश्वत्थ का आलिंगन करके खाय और तुम यह सफेद चरु उसी भाँति उदुंबर का आलिंगन करके खाना। भृगु के वाक्यानुसार सत्यवती ने कन्नौज के राजा गाधि की स्त्री अपनी माता से सब कहा। उसकी माता ने यह समझकर कि ऋषि ने अपनी पतोहू को अच्छा बालक होने को चरु दिया होगा, जब ऋतु-काल आया तब लाल चरु तो कन्या को खिलाया और सफेद आप खाया। भगवान् भृगु ने तपोबल से जब यह बात जानी तो आकर बहू से कहा कि तुमने चरु को उलट-पुलट किया इससे तुम्हारा लड़का ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियकर्मा होगा और तुम्हारा भाई क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मण हो जायगा। सत्यवती ने जब ससुर से इस अपराध की क्षमा चाही तब उन्होंने कहा कि अच्छा तुम्हारे पुत्र के बदले पौत्र क्षत्रियकर्म्मा होगा।

* किसी जाति का गिद्ध।

वही राजा गाधि को तो विश्वामित्र हुए और च्यवन को जमदग्नि और जमदग्नि को परशुराम हुए। यह उपाख्यान कालिकापुराण के ८४ अध्याय में स्पष्ट है।

इन उपाख्यानों के जानने से इस नाटक के पढ़नेवालों को बड़ी सहायता मिलेगी। इस भारतवर्ष में उत्पन्न और इन्हीं हम लोगों के पूर्व पुरुष महाराज हरिश्चन्द्र भी थे। यह समझकर इस नाटक के पढ़नेवाले कुछ भी अपना चरित्र सुधारेंगे तो कवि का परिश्रम सुफल होगा।

समर्पण

नाथ !

यह एक नया कौतुक देखो। तुम्हारे सत्यपथ पर चलनेवाले कितना कष्ट उठाते हैं, यही इसमें दिखाया है। भला हम क्या कहें ? जो हरिश्चन्द्र ने किया वह तो अब कोई भी भारतवासी न करेगा, पर उस वंश ही के नाते इनको भी मानना। हमारी करतूत तो कुछ भी नहीं, पर तुम्हारी तो बहुत कुछ है। बस, इतना ही सही। लो सत्यहरिश्चन्द्र तुम्हें समर्पित है, अंगीकार करो। छल मत समझना। सत्य का शब्द साथ है, कुछ पुस्तक के बहाने समर्पण नहीं है।

तुम्हारा

हरिश्चन्द्र

सत्यहरिश्चन्द्र

—:o:—

मंगलाचरण

दोहा

सत्यासक्त दयाल द्विज प्रिय अघहर सुखकंद ।
जनहित कमलातजन जय शिव नृप कवि हरिचन्द * ॥

(नांदी के पीछे सूत्रधार † आता है)

सूत्र०—अहा ! आज की संध्या भी धन्य है कि इतने गुणज्ञ और रसिक लोग एकत्र हैं और सबकी इच्छा है कि हिन्दी भाषा का कोई नवीन नाटक देखें । धन्य है विद्या का प्रकाश कि जहाँ के लोग नाटक किस चिड़िया का नाम है इतना भी नहीं जानते थे, भला वहाँ अब लोगों की इच्छा इधर प्रवृत तो हुई । परन्तु हा ! शोच की बात है कि जो बड़े-बड़े लोग हैं और जिनके किए कुछ

---

* यह श्लेष शिवजी, राजा हरिश्चन्द्र, श्रीकृष्ण, चन्द्रमा और कवि पाँच का वर्णन करता है ।

† सूत्रधार हरे वा नीले रंग की साटन का क़ामदार जाँघिया पहिने, उसके आगे पटुके की तरह कमरबन्द के दोनों किनारे नीचे-ऊपर लटकते हुए, गले में चुस्त सामने बुताम की मिरजई, ऊपर माला वगैरह और सब गहने, सिर पर टिपारा, पैर में घुँघरू, हाथ में छड़ी, सिर पर मुकुट ।

हो सकता है वे ऐसी अंध-परम्परा में फँसे हैं और ऐसे बेपरवाह और अभिमानी हैं कि सच्चे गुणियों को कहीं पूछ ही नहीं है। केवल उन्हीं की चाह और उन्हीं की बात है जिन्हें झूठी खैरखाही दिखाना या लम्बा-चौड़ा गाल बजाना आता है। (कुछ सोचकर) क्या हुआ, ढंग पर चला जायगा तो यों भी बहुत कुछ हो रहेगा। काल बड़ा बली है, धीरे-धीरे सब आप ही कर देगा। पर भला आज इन लोगों को लीला कौनसी दिखाऊँ। (सोचकर) अच्छा, उनसे भी तो पूछ लें ? ऐसे कौतुकों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की बुद्धि विशेष लड़ती है। (नेपथ्य की ओर देखकर) मोहना ! अपनी भाभी को जरा इधर तो भेजना।

(नेपथ्य में से, 'मैं तो आप ही आती थी' कहती हुई नटी * आती है)

नटी—मैं तो आप ही आती थी। वह एक मनिहारिन आ गई थी, उसी के बखेड़े में लग गई, नहीं तो अब तक कभी की आ चुकी होती। कहिए, आज जो लीला करनी हो वह पहिले ही से जानी रहे तो मैं और सभों से कह के सावधान कर दूँ।

सूत्र०—आज का नाटक तो हमने तुम्हारी ही प्रसन्नता पर छोड़ दिया है।

नटी—हम लोगों को तो सत्यहरिश्चन्द्र आजकल अच्छी तरह याद है और उसका खेल भी सब छोटे-बड़े को मँज रहा है।

* महाराष्ट्री वेष, कमर पर पेटा कसे व मर्दाना कपड़ा पहिने पर जेवर सब जनाने।

सूत्र०—ठीक है, यही हो। भला इससे अच्छा और कौन नाटक होगा। एक तो इन लोगों ने उसे अभी देखा नहीं है, दूसरे आख्यान भी करुणा-पूर्ण राजा हरिश्चन्द्र का है, तीसरे उसका कवि भी हम लोगों का एकमात्र जीवन है।

नटी—(लम्बी साँस लेकर) हा! प्यारे हरिश्चन्द्र का संसार ने कुछ भी गुण-रूप न समझा। क्या हुआ "कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे प्यारे हरिश्चन्द्र की कहानी रहि जायगी"।

सूत्र०—इसमें क्या सन्देह है। काशी के पंडितों ही ने कहा है—

सब सज्जन के मान को कारन इक हरिश्चन्द्र।
जिमि सुभाव दिन रैन को, कारन नित हरि-चन्द्र ॥†

नटी—और फिर उनके मित्र पंडित शीतलाप्रसादजी ने इस नाटक के नायक से उनको समता भी की है इससे उनके बनाए नाटकों में भी सत्यहरिश्चन्द्र ही आज खेलने को जी चाहता है।

नटी—कैसी समता, मैं भी सूनूँ।

सूत्र०—जो गुन नृप हरिचंद मैं, जग हित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचंद मैं, लखहु प्रतच्छ सुजान* ॥ २ ॥

(नेपथ्य में)

अरे!

यहाँ सत्य-भय एक के, काँपत सब सुरलोक।
यह दूजो हरिचंद को, करन इंद्र उर सोक ॥

---

† विद्वज्जनप्रतिष्ठाकारणमेको हरिश्चन्द्रः।
स्वभावगत्या दिनरात्र्योर्वा हरिश्चन्द्रः ॥

सूत्र०—(सुनकर और नेपथ्य की ओर देखकर) यह देखो ! हम लोगों को बात करते देर न हुई कि मोहना इन्द्र बन कर आ पहुँचा, तो अब चलो हम लोग तैयार हों।

(दोनों जाते हैं)

इति प्रस्तावना

---

*"श्रूयंते ये हरिश्चन्द्रे जगदह्लादिनो गुणाः।"
दृश्यंते ते हरिश्चन्द्रे चन्द्रवत्प्रियदर्शने ॥"

प्रथम अंक

(जवनिका उठती है)

स्थान—इंद्रसभा

(बीच में गद्दी तकिया धरा हुआ, घर सजा हुआ, इंद्र* आता है)

(इंद्र "यहाँ सत्य-भय एक के" यह दोहा फिर से पढ़ता हुआ इधर-उधर घूमता है)

(द्वारपाल † आता है)

द्वार०—महाराज ! नारदजी आते हैं ।

इंद्र—आने दो, अच्छे अवसर पर आए ।

द्वार०—जो आज्ञा । [जाता है

इंद्र—(आप ही आप) नारदजी सारी पृथ्वी पर इधर-उधर फिरा करते हैं, इनसे सब बातों का पक्का पता लगेगा। हमने माना कि राजा हरिश्चंद्र को स्वर्ग लेने की इच्छा न हो, तथापि उसके धर्म्म को एक बेर परीक्षा तो लेनी चाहिए ।

---

*जामा, किरीट, कुंडल और गहने पहने हुए, हाथ में वज्र (कई फल का छोटा भाला) लिए हुए ।

†छज्जेदार पगड़ा, चपकन, घेरदार पाजामा पहने, कमरबंद कसे और हाथ में भाला लिए हुए ।

(नारदजी* आते हैं)

इंद्र—(हाथ जोड़कर दंडवत् करता है) आइए आइए, धन्य भाग्य, आज किधर भूल पड़े !

नारद—हमें और भी कोई काम है ? केवल यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ; यही हमें है कि और भी कुछ ?

इंद्र—साधु स्वभाव ही से परोपकारी होते हैं, विशेष करके आप ऐसे जो हमारे से दीन गृहस्थों को घर बैठे दर्शन देते हैं। क्योंकि जो लोग गृहस्थ और कामकाजी हैं वे स्वभाव ही से गृहस्थी के बंधनों से ऐसे जकड़ जाते हैं कि साधुसंगम तो उनको सपने में भी दुर्लभ हो जाता है, न वे अपने प्रबंधों से छुट्टी पावेंगे न कहीं जायँगे।

नारद—आपको इतना शिष्टाचार नहीं सोहता। आप देवराज हैं और आपके संग की तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि इच्छा करते हैं, फिर आपको सत्संग कौन दुर्लभ है ? केवल जैसा राजा लोगों में एक सहज मुँहदेखा व्यापार होता है वैसी ही बातें आप इस समय कर रहे हैं।

इंद्र—हमको बड़ा शोच है कि आपने हमारी बात को शिष्टाचार समझा। क्षमा कीजिए, आपसे हम बनावट नहीं करते। भला विराजिए तो सही, ये बातें तो होती ही रहेंगी।

---

*धोती की लाँग कसे, गाँती बाँधे, सिर से पाँव तक चन्दन का खौर दिए, पैर में घुँघरू, सिर के बाल छुटे और हाथ में बीन लिए हुए। आने और जाने के समय "रामकृष्ण गोविंद" की ध्वनि नेपथ्य में हो।

नारद—विराजिए। (दोनों बैठते हैं)

इंद्र—कहिए, इस समय कहाँ से आना हुआ ?

नारद—अयोध्या से। अहा! राजा हरिश्चंद्र धन्य है। मैं तो उसके निष्कपट और अकृत्रिम स्वभाव से बहुत ही संतुष्ट हुआ। यद्यपि इसी सूर्य्य-कुल में अनेक बड़े-बड़े धार्म्मिक हुए पर हरिश्चंद्र तो हरिश्चंद्र ही है।

इंद्र—(आप ही आप) यह भी तो उसी का गुण गाते हैं।

नारद—महाराज! सत्य की तो मानो हरिश्चंद्र मूर्त्ति है। निस्संदेह ऐसे मनुष्यों के उत्पन्न होने से भारतभूमि का सिर केवल इनके स्मरण से उस समय भी ऊँचा रहेगा जब यह पराधीन होकर हीनावस्था को प्राप्त होगी।

इंद्र—(आप ही आप) अहा! हृदय भी ईश्वर ने क्या ही वस्तु बनाई है! यद्यपि इसका स्वभाव सहज ही गुणग्राही हो, तथापि दूसरों की उत्कट कीर्त्ति से इसमें ईर्षा होती है, उसमें भी जो जितने बड़े हैं उनकी ईर्षा उतनी ही बड़ी है। हमारे ऐसे बड़े पदाधिकारियों को शत्रु उतना संताप नहीं देते जितना दूसरों की संपत्ति और कीर्त्ति।

नारद—आप क्या सोच रहे हैं ?

इंद्र—कुछ नहीं। योंही, मैं यह सोचता था कि हरिश्चंद्र की कीर्त्ति आजकल छोटे-बड़े सबके मुँह से सुनाई पड़ती है, इससे निश्चय होता है कि नहीं, हरिश्चंद्र निस्संदेह बड़ा मनुष्य है।

नारद—क्यों नहीं, बड़ाई उसी का नाम है जिसे छोटे-बड़े सब मानें और फिर नाम भी तो उसी का रह जायगा जो ऐसा दृढ़ होकर धर्म्म साधन करेगा। (आप ही आप) और उसकी बड़ाई का यह भी तो एक बड़ा प्रमाण है

कि आप ऐसे लोग उससे बुरा मानते हैं, क्योंकि जिससे बड़े-बड़े लोग डाह करें, पर उसका कुछ बिगाड़ न सकें, वह निस्संदेह बहुत बड़ा मनुष्य है।

इंद्र—भला! उसके गृह चरित्र कैसे हैं?

नारद—दूसरों के लिये उदाहरण बनाने के योग्य। भला पहले जिसने अपने निज के और अपने घर के चरित्र ही नहीं शुद्ध किए हैं उसकी और बातों पर क्यों विश्वास हो सकता है। शरीर में चरित्र ही मुख्य वस्तु है। वचन से उपदेशक और क्रियादिक से कैसा भी धर्म्मनिष्ठ क्यों न हो, पर यदि उसके चरित्र शुद्ध नहीं हैं तो लोगों में वह टकसाल न समझा जायगा और उसकी बातें प्रमाण न होंगी। महात्मा और दुरात्मा में इतना ही भेद है कि उनके मन, वचन और कर्म्म एक रहते हैं, इनके भिन्न-भिन्न। निस्संदेह हरिश्चन्द्र महाशय हैं। उसके आशय बहुत उदार हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

इंद्र—भला! आप उदार वा महाशय किसको कहते हैं?

नारद—जिसका भीतर-बाहर एक सा हो और विद्यानुरागिता, उपकारप्रियता आदि गुण जिसमें सहज हों, अधिकार में क्षमा, विपत्ति में धैर्य, संपत्ति में अनभिमान और युद्ध में जिसकी स्थिरता है, वह ईश्वर की सृष्टि का रत्न है और उसी की माता पुत्रवती है। हरिश्चन्द्र में ये सब बातें सहज हैं। दान करके उसको प्रसन्नता होती है और कितनी भी दे पर संतोष नहीं होता, यही समझता है कि अभी कुछ नहीं दिया।

इंद्र—(आप ही आप) हृदय ! पत्थर के होकर तुम यह सब कान खोल के सुनो।

नारद—और इन गुणों पर ईश्वर की निश्चला भक्ति उसमें ऐसी है जो सबका भूषण है, क्योंकि उसके बिना किसी की शोभा नहीं। फिर इन सब बातों पर विशेषता यह है कि राज्य का प्रबंध ऐसा उत्तम और दृढ़ है कि लोगों को संदेह होता है कि इन्हें राजकाज देखने की छुट्टी कब मिलती है। सच है, छोटे जी के लोग थोड़े ही कामों में ऐसे घबड़ा जाते हैं मानो सारे संसार का बोझ इन्हीं पर है, पर जो बड़े लोग हैं उनके सब काम महारंभ होते हैं तब भी उनके मुख पर कहीं से व्याकुलता नहीं झलकती, क्योंकि एक तो उनके उदार चित्त में धैर्य और अवकाश बहुत है, दूसरे उनके समय व्यर्थ नहीं जाते और ऐसे यथायोग्य बँटे रहते हैं जिससे उन पर कभी भीड़ पड़ती ही नहीं।

इंद्र—भला महाराज ! यह ऐसे दानी हैं तो उनकी लक्ष्मी कैसे स्थिर है ?

नारद—यही तो हम कहते हैं। निस्संदेह वह राजा कुल का कलंक है, जिसने बिना पात्र विचारे दान देते-देते सब लक्ष्मी का क्षय कर दिया, आप कुछ उपार्जन किया ही नहीं, जो था वह नाश हो गया और जहाँ प्रबंध है वहाँ धन की क्या कमती है। मनुष्य कितना धन देगा और याचक कितना लेंगे ?

इंद्र—पर यदि कोई अपने वित्त के बाहर माँगे या ऐसी वस्तु माँगे जिससे दाता की सर्वस्व-हानि होती हो, तो वह दे कि नहीं ?

नारद—क्यों नहीं। अपना सर्वस्व वह क्षण भर में दे सकता है, पात्र चाहिए। जिसको धन पाकर सत्पात्र में उसके त्याग की शक्ति नहीं है वह उदार कहाँ हुआ!

इंद्र—(आप ही आप) भला देखेंगे न।

नारद—राजन्! मानियों के आगे प्राण और धन तो कोई वस्तु ही नहीं है। वे तो अपने सहज सुभाव ही से सत्य और विचार तथा दृढ़ता में ऐसे बँधे हैं कि सत्पात्र मिलने या बात पड़ने पर उनको स्वर्ण का पर्वत भी तिल-सा दिखाई देता है। और उसमें भी हरिश्चंद्र—जिसका सत्य पर ऐसा स्नेह है जैसा भूमि, कोष, रानी और तलवार पर भी नहीं है। जो सत्यानुरागी ही नहीं है, भला उससे न्याय कब होगा, और जिसमें न्याय नहीं है, वह राजा ही काहे का है! कैसो भी विपत्ति या संकट पड़े और कैसी ही हानि वा लाभ हो, पर न्याय न छोड़े, वही धीर और वही राजा। और उस न्याय का मूल सत्य है।

इंद्र—तो भला वह जिसे जो देने को कहेगा देगा वा जो करने को कहेगा वह करेगा?

नारद—क्या आप उसका परिहास करते हैं? किसी बड़े के विषय में ऐसी शंका ही उसकी निंदा है। क्या आपने उसका यह सहज साभिमान वचन नहीं सुना है?

चंद टरै सूरज टरै, टरै जगत ब्यौहार।
पै दृढ़ श्री हरिचंद को, टरै न सत्यविचार॥

इंद्र—(आप ही आप) तो फिर इसी सत्य के पीछे नाश भी होंगे, हमको भी अच्छा उपाय मिला। (प्रगट)

हाँ, पर आप यह भी जानते हैं कि क्या वह यह सब धर्म स्वर्ग लेने को करता है ?

नारद—वाह ! भला जो ऐसे हैं उनके आगे स्वर्ग क्या वस्तु है ? क्या बड़े लोग धर्म स्वर्ग पाने को करते हैं ? जो अपने निर्मल चरित्र से संतुष्ट हैं उनके आगे स्वर्ग कौन वस्तु है ? फिर भला जिनके शुद्ध हृदय और सहज व्यवहार हैं, वे क्या यश वा स्वर्ग की लालच से धर्म करते हैं ? वे तो आपके स्वर्ग को सहज में दूसरे को दे सकते हैं और जिन लोगों को भगवान के चरणारविंद में भक्ति है वे क्या किसी कामना से धर्माचरण करते हैं ? यह भी तो एक क्षुद्रता है कि इस लोक में एक देकर परलोक में दो की आशा रखना।

इंद्र—(आप ही आप) हमने माना की उसको स्वर्ग लेने की इच्छा ना हो, तथापि अपने कर्मों से वह स्वर्ग का अधिकार तो हो जायगा।

नारद—और जिनको अपने किए शुभ अनुष्ठानों से आप संतोष मिलता है उनके उस असीम आनंद के आगे आपको स्वर्ग का अमृतपान और अप्सरा तो महातुच्छ हैं। क्या अच्छे लोग कभी किसी शुभ कृत्य का बदला चाहते हैं ?

इंद्र—तथापि एक बेर उनके सत्य की परीक्षा होती तो अच्छा होता।

नारद—राजन् ! आपको यह सब सोचना बहुत अयोग्य है। ईश्वर ने आपको बड़ा किया है, तो आपको दूसरों की उन्नति और उत्तमता पर संतोष करना चाहिए। ईर्षा करना तो क्षुद्राशयों का काम है। महाशय वही है जो दूसरों की बड़ाई से अपनी बड़ाई समझे।

इंद्र—(आप ही आप) इनसे काम न होगा। (बात बहलाकर प्रगट) नहीं नहीं, मेरी यह इच्छा थी कि मैं भी उनके गुणों को अपनी आँखों से देखता। भला मैं ऐसी परीक्षा थोड़े लेना चाहता हूँ जिससे उन्हें कुछ कष्ट हो।

नारद—(आप ही आप) अहा ! बड़ा पद मिलने से कोई बड़ा नहीं होता। बड़ा वही है जिसका चित्त बड़ा है। अधिकार तो बड़ा है, पर चित्त में सदा क्षुद्र और नीच बातें सूझा करती हैं, वह आदर के योग्य नहीं है ; परन्तु जो कैसा भी दरिद्र है पर उसका चित्त उदार और बड़ा है वही आदरणीय है।

(द्वारपाल आता है)

द्वार०—महाराज ! विश्वामित्रजी आए हैं।

इंद्र—(आप ही आप) हाँ, इनसे यह काम होगा। अच्छे अवसर पर आए। जैसा काम हो वैसे ही स्वभाव के लोग भी चाहिएँ। (प्रगट) हाँ हाँ, लिवा लाओ।

द्वार०—जो आज्ञा। [जाता है

(विश्वामित्रजी* आते हैं)

इंद्र—(प्रणामादि शिष्टाचार करके) आइए भगवन्, विराजिए।

(विश्वामित्र नारदजी को प्रणाम करके और इंद्र को आशीर्वाद देकर बैठते हैं)

नारद—तो अब हम जाते हैं, क्योंकि पिता के पास हमें किसी आवश्यक काम को जाना है।

---

* मृगचर्म, दाढ़ी, जटा, हाथों में पवित्री और कमंडल, खड़ाऊँ पर चढ़े।

विश्वा०—यह क्या ? हमारे आते ही आप चले, भला ऐसी रुष्टता किस काम की ?

नारद—हरे हरे ! आप ऐसी बात सोचते हैं—राम-राम, भला आपके आने से हम क्यों जायँगे ? मैं तो जाने ही को था कि इतने में आप आ गए।

इंद्र—(हँसकर) आपकी जो इच्छा।

नारद—(आप ही आप) हमारी इच्छा क्या, अब तो आप ही की यह इच्छा है कि हम जायँ, क्योंकि अब आप तो विश्व के अमित्रजी से राजा हरिश्चन्द्र को दुःख देने की सलाह कीजिएगा, तो हम उसके बाधक क्यों हों ? पर इतना निश्चय रहे कि सज्जन को दुर्जन लोग जितना कष्ट देते हैं, उतनी ही उनकी सत्य कीर्त्ति तपाए सोने की भाँति और भी चमकती है, क्योंकि विपत्ति बिना सत्य की परीक्षा नहीं होती। (प्रगट) यद्यपि "जो इच्छा" आपने सहज भाव से कहा है तथापि परस्पर में ऐसे उदासीन वचन नहीं कहते, क्योंकि इन वाक्यों से रूखापन झलकता है। मैं कुछ इसका ध्यान नहीं करता, केवल मित्रभाव से कहता हूँ। लो, जाता हूँ और यही आशीर्वाद देकर जाता हूँ कि तुम किसी को कष्टदायक मत होओ, क्योंकि अधिकार पाकर कष्ट देना यह बड़ों की शोभा नहीं, सुख देना शोभा है।

(इंद्र कुछ लज्जित होकर प्रणाम करता है। नारदजी जाते हैं)

विश्वा०—यह क्यों ? आज नारद भगवान ऐसी जली-कटी क्यों बोलते थे ? क्या तुमने कुछ कहा था ?

इंद्र—नहीं तो, राजा हरिश्चन्द्र का प्रसंग निकला था सो उन्होंने उसकी बड़ी स्तुति की और हमारा उच्चपद का आदरणीय

स्वभाव उस परकीर्त्ति को सहन न कर सका. इसमें कुछ बात ही बात ऐसा संदेह होता है कि वे रुष्ट हो गए।

विश्वा०—तो हरिश्चन्द्र में कौन से ऐसे गुण हैं ?

(सहज ही भृकुटी चढ़ जाती है)

इंद्र—(ऋषि का भ्रूभंग देखकर चित्त में संतोष करके उनका क्रोध बढ़ाता हुआ) महाराज ! सिपारसी लोग चाहे जिसको बढ़ा दें, चाहे घटा दें। भला सत्यधर्म-पालन क्या हँसी-खेल है ? यह आप ऐसे महात्माओं ही का काम है, जिन्होंने घरबार छोड़ दिया है। भला राज करके और घर में रहके मनुष्य क्या धर्म का हठ करेगा ! और फिर कोई परीक्षा लेता तो मालूम पड़ती। इन्हीं बातों से तो नारदजी बिना बात ही अप्रसन्न हुए।

विश्वा०—मैं अभी देखता हूँ न। जो हरिश्चन्द्र को तेजोभ्रष्ट न किया तो मेरा नाम विश्वामित्र नहीं। भला मेरे सामने वह क्या सत्यवादी बनेगा और क्या दानीपने का अभिमान करेगा !

(क्रोधपूर्वक उठकर चला चाहते हैं कि परदा गिरता है)

द्वितीय अंक

स्थान—राजा हरिश्चन्द्र का राजभवन

(रानी शैव्या * बैठी हैं और एक सहेली† बगल में खड़ी है)

रानी—अरी ! आज मैंने ऐसे बुरे-बुरे सपने देखे हैं कि जब से सोके उठी हूँ कलेजा काँप रहा है । भगवान् कुशल करें ।

सखी—महाराज के पुण्य-प्रताप से सब कुशल ही होगा, आप कुछ चिंता न करें । भला क्या सपना देखा है, मैं भी सुनूँ ।

रानी—महाराज को तो मैंने सारे अंग में भस्म लगाए देखा है और अपने को बाल खोले, और (आँखों में आँसू भरकर) रोहिताश्व को देखा है कि उसे साँप काट गया है ।

सखी—राम ! राम ! भगवान् सब कुशल करेगा । भगवान् करे रोहिताश्व जुग-जुग जिए और जब तक गंगा-यमुना में पानी है, आपका सोहाग अचल रहे । भला आपने इसकी शांति का भी कुछ उपाय किया है ?

---

* लहँगा, साड़ी, सब जनाना गहिना, बेंदी, बेना इत्यादि ।

† साड़ी, सादा सिंगार ।

रानी—हाँ, गुरुजी से तो सब समाचार कहला भेजा है। देखो, वह क्या करते हैं।

सखी—हे भगवान्! हमारे महाराज, महारानी, कुँवर सब कुशल से रहें, मैं आँचल पसार के यह वरदान माँगती हूँ।

(ब्राह्मण * आता है)

ब्रा०—(आशीर्वाद देता है)

स्वस्त्यस्तु ते कुशलमस्तु चिरायुरस्तु
गोवाजिहस्तिधनधान्यसमृद्धिरस्तु।
ऐश्वर्यमस्तु कुशलोऽस्तु रिपुक्षयोऽस्तु
संतानवृद्धि सहिता हरिभक्तिरस्तु॥

(रानी हाथ जोड़कर प्रमाण करती है)

ब्रा०—महाराज! गुरुजी ने यह अभिमंत्रित जल भेजा है। इसे महारानी पहले तो नेत्रों से लगा लें और फिर थोड़ा सा पान भी कर लें और यह रक्षाबंधन भेजा है, इसे कुमार रोहिताश्व की दहनी भुजा पर बाँध दें, फिर इस जल से मैं मार्जन करूँगा।

रानी—(नेत्रों में जल लगाकर और कुछ मुँह फेरकर आचमन करके) मालती! यह रक्षाबंधन तू सम्हाल के अपने पास रख, जब रोहिताश्व मिले उसके दहिने हाथ पर बाँध दीजिओ।

सखी—जो आज्ञा। (रक्षाबंधन अपने पास रखती है)

ब्रा०—तो अब आप सावधान हो जायँ, मैं मार्जन कर लूँ।

रानी—(सावधान होकर) जो आज्ञा।

---

* धोती, उपरना, सिर पर चुंदी वा सिर पर बाल, डाढ़ी, हाथों में पवित्री, तिलक, खड़ाऊँ।

ब्रा०—(दूर्वा से मार्जन करता है)

देवास्त्वामभिषिञ्चन्तु ब्रह्माविष्णुशिवादयः ।
गन्धर्वाः किन्नरा नागा रक्षां कुर्वन्तु ते सदा ॥
पितरो गुह्यका यक्षा देव्यो भूताश्च मातरः ।
सर्वे त्वामभिषिञ्चन्तु रक्षां कुर्वन्तु ते सदा ॥
भद्रमस्तु शिवश्चास्तु महालक्ष्मीः प्रसीदतु ।
पतिपुत्रयुता साध्वी जीव त्वं शरदां शतम् ॥

(मार्जन का जल पृथ्वी पर फेंककर)

यत्पापं रोगमशुभं तद्दूरे प्रतिहतमस्तु ।

फिर रानी पर मार्जन करके

यन्मङ्गलं शुभं सौभाग्यं धनधान्यमारोग्यमबहुपुत्रत्वं तत्सर्वमीशप्रसाद त् ब्राह्मणवचनात् त्वय्यस्तु ॥

(मार्जन करके फूल-अक्षत रानी के हाथ में देता है)

रानी—(हाथ जोड़कर ब्राह्मण को दक्षिणा देती है) महाराज, गुरूजी से मेरी ओर से विनती करके दंडवत् कह दीजिएगा ।

ब्रा०—जो आज्ञा । [आशीर्वाद देकर जाता है

रानी—आज महाराज अब तक सभा में नहीं आए ?

सखी—अब आते होंगे, पूजा में कुछ देर लगी होगी ।

(नेपथ्य में वैतालिक गाते हैं)

[राग भैरव]

प्रगटहु रवि-कुल-रवि निसि बीती प्रजा-कमल-गन फूले ।
मंद परे रिपुगन तारा सम जन-भय-तम उनमूले ॥
नसे चोर लंपट खल लखि जग तुव प्रताप प्रगटायो ।
मागध - बंधी - सूत - चिरैयन मिलि कल रोर मचायो ॥

तुव जस सीतल-पौन परसि चटकी गुलाब की कलियाँ।
अति सुख पाइ असीस देत सोइ करि अँगुरिन चट अलियाँ॥
भए धरम मैं थित सब द्विजजन प्रजा काज निज लागे।
रिपु-जुवती-मुख-कुमुद मंद, जन-चक्रवाक अनुरागे॥
अरघ सरिस उपहार लिए नृप ठाढ़े तिन कहँ तोखौ।
न्याय कृपा सों ऊँच नीच सम समुझि परसि कर पोखौ॥

(नेपथ्य में से बाजे की धुनि सुन पड़ती है)

रानी—महाराज ठाकुरजी के मंदिर से चले, देखो बाजों का शब्द सुनाई देता है और बंदी लोग भी गाते आते हैं।

सखी—आप कहती हैं चले? वह देखिए आ पहुँचे, कि चले?

(रानी घबड़ाकर आदर के हेतु उठती है)

(* परिकर-सहित महाराज हरिश्चन्द्र † आते हैं। रानी प्रणाम करती है और सब लोग यथास्थान बैठते हैं)

हरि०—(रानी से प्रीतिपूर्वक) प्रिये! आज तुम्हारा मुखचंद्र मलिन क्यों हो रहा है?

रानी—पिछली रात मैंने कुछ दुःस्वप्न ऐसे देखे हैं जिनसे चित्त व्याकुल हो रहा है।

---

* राजा के परिकर में प्रथम मंत्री नीमा, पैजामा कमरबंद, दुशाला, पगड़ी सिरपेच सजे। दो मुसाहिब साधारण सभ्यों के वेष में। एक निशानवाला सेवक के भेष में। निशान पर सूर्य्य के नीचे "सत्ये नास्ति भयं क्वचित्" लिखा हुआ। चार शस्त्रधारी अंगरक्षक, दो सेवक।

† सफ़ेद वा केसरी जामा, पैजामा, कमरबंद, मर्दाना सब गहना, सिर पर किरीट व पगड़ी, सिर्पेच, तुर्रा, हाथ में तलवार, दुशाला या कोई चमकता रुमाल ओढ़े।

हरि०—प्रिये ! यद्यपि स्त्रियों का स्वभाव सहज ही भीरु होता है, पर तुम तो वीर-कन्या, वीर-पत्नी और वीर माता हो, तुम्हारा स्वभाव ऐसा क्यों ?

रानी—नाथ ! मोह से धीरज जाता रहता है।

हरि०—तो गुरुजी से कुछ शांति करने को नहीं कहलाया !

रानी—महाराज ! शांति तो गुरुजी ने कर दी है।

हरि०—तब क्या चिन्ता है ? शास्त्र और ईश्वर पर विश्वास रक्खो, सब कल्याण होगा। सदा सर्वदा सहज मंगल-साधन करते भी जो आपत्ति आ पड़े तो उसे निरी ईश्वर की इच्छा ही समझ के संतोष करना चाहिए।

रानी—महाराज ! स्वप्न के शुभाशुभ का विचार कुछ महाराज ने ग्रंथों में देखा है।

हरि०—(रानी की बात अनसुनी करके) स्वप्न तो कुछ हमने भी देखा है। (चिन्तापूर्वक स्मरण करके) हाँ, यह देखा है कि एक क्रोधी ब्राह्मण विद्यासाधन करने को सब दिव्य महाविद्याओं को खींचता है और तब मैं स्त्री जानकर उनको बचाने गया हूँ तो वह मुझी से रुष्ट हो गया है और फिर जब बड़े विनय से मैंने उसे मनाया है तो उसने मुझसे मेरा सारा राज्य माँगा है, मैंने उसे प्रसन्न करने को अपना सब राज्य दे दिया।

(इतना कहकर अत्यंत व्याकुलता से नाट्य करता है।)

रानी—नाथ ! आप एक साथ ऐसे व्याकुल क्यों हो गए ?

हरि०—मैं यह सोचता हूँ कि अब मैं उस ब्राह्मण को कहाँ पाऊँगा और बिना उसकी थाती उसे सौंपे भोजन कैसे करूँगा ?

रानी—नाथ ! क्या स्वप्न के व्यवहार को भी आप सत्य मानिएगा ?

हरि०—प्रिये ! हरिश्चंद्र की अर्द्धांगिनी होकर तुम्हें ऐसा कहना उचित नहीं है। हा ! भला तुम ऐसी बात मुँह से निकालती हो ! स्वप्न किसने देखा है ? मैंने न। फिर क्या ? स्वप्नसंसार अपने काल में असत्य है, इसका कौन प्रमाण है ? और जो अब असत्य कहो, तो मरने के पीछे तो यह संसार भी असत्य है, फिर उसमें परलोक के हेतु लोग धर्माचरण क्यों करते हैं ? दिया सो दिया, क्या स्वप्न में, क्या प्रत्यक्ष ?

रानी—(हाथ जोड़कर) नाथ ! क्षमा कीजिए, स्त्री की बुद्धि ही कितनी !

हरि—(चिंता करके) पर मैं अब करूँ क्या ! अच्छा ! प्रधान ! नगर में डौंड़ी पिटवा दो कि राज्य को सब लोग आज से अज्ञातनाम-गोत्र ब्राह्मण का समझें, उसके अभाव में हरिश्चंद्र उसके सेवक की भाँति उसकी थाती समझ के राजकार्य्य करेगा और दो मुहर राजकाज के हेतु बनवा लो, एक पर "अज्ञातनाम-गोत्र ब्राह्मण महाराज का सेवक हरिश्चंद्र" और दूसरे पर "राजाधिराज अज्ञात-नाम-गोत्र ब्राह्मण महाराज" खुदा रहे और आज से राज-काज के सब पत्रों पर भी यही नाम रहे। देश के राजाओं और बड़े-बड़े कार्य्याधीशों को भी आज्ञापत्र भेज दो कि महाराज हरिश्चंद्र ने स्वप्न में अज्ञातनाम-गोत्र ब्राह्मण को पृथ्वी दी है, इससे आज से उसका राज्य हरिश्चंद्र मंत्री की भाँति सँभालेगा।

(द्वारपाल आता है)

द्वार०—महाराजाधिराज ! एक बड़ा क्रोधी ब्राह्मण दरवाजे पर खड़ा है और व्यर्थ हम लोगों को गाली देता है।

हरि०—(घबड़ाकर) अभी आदरपूर्वक ले आओ।

द्वार०—जो आज्ञा। [जाता है

हरि०—यदि ईश्वरेच्छा से यह वही ब्राह्मण हो तो बड़ी बात है।

(द्वारपाल के साथ विश्वामित्र * आते हैं)

हरि०—(आदरपूर्वक आगे से लेकर और प्रणाम करके) महाराज ! पधारिए, यह आसन है।

विश्वा०—बैठे, बैठे, बैठ चुके, बोल, अभी तैंने मुझे पहिचाना कि नहीं ?

हरि०—(घबड़ाकर) महाराज ! पूर्वपरिचित तो आप ज्ञात होते हैं।

विश्वा०—(क्रोध से) सच है रे क्षत्रियाधम ! तू काहे को पहिचानेगा। सच है रे सूर्यकुलकलंक ! तू क्यों पहिचानेगा, धिक्कार है तेरे मिथ्या-धर्माभिमान को, ऐसे ही लोग पृथ्वी को अपने बोझ से दबाते हैं। अरे दुष्ट ! तैं भूल गया ; कल पृथ्वी किसको दान दी थी ? जानता नहीं कि मैं कौन हूँ ?

"जातिस्वयंग्रहणदुर्ललितैकविप्रं
दृप्यद्वशिष्ठसुतकाननधूमकेतुम्।
सर्गान्तरोहरणभीतजगत्कृतान्त
चाण्डालयाजिनमवैषि न कौशिकं माम्॥"

*जटा और डाढ़ी बढ़ाए, खड़ाऊँ पहने, गले में मृगछाला बाँधे धोती पर बाघ की मोरी करधनी, एक हाथ में कुश और कमंडल।

हरि०—(पैरों पर गिरके बड़े विनय से) महाराज! भला आपको त्रैलोक्य में ऐसा कौन है जो न जानेगा?

"अन्नत्तयाशिषु तथा विहितात्मवृत्ति
राजर्षिविग्रहमपाङ्कुश्यमानमं त्वाम्।
[illegible] कांचनगौरकांति
कल्मषाणां च तपसां च निधिं न वेत्ति ॥"

विश्वा०—(क्रोध से) सच है रे पापी पामर, इक्ष्वाकुकुलांगार! तू क्यों न मुझे "[illegible]" कहेगा, क्योंकि तेरे सा [illegible] पृथ्वी [illegible] हो है। ठहर, ठहर मूर्ख, इस झूठ का [illegible] अभिमान है। हा! इसे देखकर क्रोध से जैसे मेरा कलेजा [illegible] उठता है [illegible] सम्हाल [illegible] [illegible] ब्रह्मा [illegible] चाहता है। (क्रोध से [illegible] और [illegible]) अरे ब्रह्मा! सम्हाल अपनी सृष्टि को, नहीं तो परम तेजपुंज दीर्घ-तपोवर्द्धित मेरे आज इस असह्य क्रोध से सारा संसार नाश हो जायगा, अथवा संसार के नाश ही से क्या? ब्रह्मा का तो गर्व उसी दिन मैंने चूर्ण किया जिस दिन दूसरी सृष्टि बनाई, आज इस राजकुलांगार का अभिमान चूर्ण करूँगा जो मिथ्या अहंकार के बल से जगत् में दानी प्रसिद्ध हो रहा है।

हरि०—(पैरों पर गिरके) महाराज! क्षमा कीजिए, मैंने इस बुद्धि से नहीं कहा था, सारी पृथ्वी आपकी, मैं आपका, भला आप ऐसी क्षुद्र बात मुँह से निकालते हैं! (ईषत् क्रोध से) और आप बारंबार मुझे झूठा न कहिए। सुनिए, यह मेरी प्रतिज्ञा है —

'चंद टरै सूरज टरै, टरै जगत ब्यौहार।
पै दृढ़ श्री हरिचंद को, टरै न सत्य विचार॥"

विश्वा०—(क्रोध और अनादरपूर्वक हँसकर) हहहह ! सच है, सच है रे मूढ़। क्यों नहीं, आखिर सूर्यवंशी है। तो दे हमारी पृथ्वी।

हरि०—लीजिए, इसमें विलंब क्या है। मैंने तो आपके आगमन के पूर्व ही से अपना अधिकार छोड़ दिया है। (पृथ्वी की ओर देखकर)

जेहि पाली इक्ष्वाकु सों अबलों रवि-कुल-राज।
ताहि देत हरिचंद नृप विश्वामित्रहिं आज॥
बसुधे! तुम बहु सुख कियो मम पुरुषन को होय।
धरमबद्ध हरिचंद को छमहु सु परबस जोय॥

विश्वा०—(आप ही आप) अच्छा! अभी अभिमान दिखा ले। तो मेरा नाम विश्वामित्र नहीं, जो तुझको सत्य-भ्रष्ट करके न छोड़ा और लक्ष्मी से तो हो ही चुका है। (प्रगट) स्वस्ति, अब इस महादान की दक्षिणा कहाँ है?

हरि०—महाराज! जो आज्ञा हो दक्षिणा अभी आती है।

विश्वा०—भला दस सहस्र स्वर्णमुद्रा से कम इतने बड़े दान की दक्षिणा क्या होगी!

हरि०—जो आज्ञा। (मंत्री से) मंत्री! दस हजार स्वर्ण मुद्रा अभी लाओ।

विश्वा—(क्रोध से) "मंत्री! दस हजार स्वर्णमुद्रा अभी लाओ।" मंत्री कहाँ से लावेगा? क्या अब खजाना तेरा है? झूठा कहीं का! देना नहीं था तो मुँह से कहा क्यों? चल, मैं नहीं लेता ऐसे मनुष्य की दक्षिणा।

हरि०—(हाथ जोड़ कर विनय से) महाराज, ठीक है। खजाना अब सब आपका है, मैं भूला, क्षमा कीजिए। क्या हुआ खजाना नहीं है तो मेरा शरीर तो है।

विश्वा०—एक महीने में जो मुझे दक्षिणा न मिलेगी तो मैं तुझ पर कठिन ब्रह्मदंड गिराऊँगा। देख, केवल एक मास की अवधि है।

हरि०—महाराज, मैं ब्रह्मदंड से उतना नहीं डरता जितना सत्य-दंड से। इससे—

बेंचि देह दारा सुअन, होइ दास हू मंद।
रखिहै निज बच सत्य करि अभिमानी हरिचंद॥

(आकाश से फूल की वृष्टि और बाजे के साथ जयध्वनि होती है)

(जवनिका गिरती है)

———

तृतीय अंक में अंकावतार

स्थान—वाराणसी का बाहरी प्रांत तालाब

(पाप * आता है)

पाप—(इधर-उधर दौड़ता और हाँफता हुआ) मरे रे मरे ! जले रे जले !! कहाँ जायँ, सारी पृथ्वी तो हरिश्चंद्र के पुण्य से ऐसी पवित्र हो रही है कि कहीं हम ठहर ही नहीं सकते। सुना है कि राजा हरिश्चंद्र काशी गए हैं, क्योंकि दक्षिणा के वास्ते विश्वामित्र ने कहा कि सारी पृथ्वी तो हमको तुमने दान दे दी है, इससे पृथ्वी में जितना धन है सब हमारा हो चुका और तुम पृथ्वी में कहीं भी अपने को बेचकर हमसे उऋण नहीं हो सकते। यह बात जब हरिश्चंद्र ने सुनी तो बहुत ही घबराए और सोच-विचारकर कहा कि बहुत अच्छा महाराज, हम काशी में अपना शरीर बेचेंगे, क्योंकि शास्त्रों में लिखा है कि काशी पृथ्वी के बाहर शिव के त्रिशूल पर है। यह सुनकर हम भी दौड़े कि चलो हम भी काशी चलें, क्योंकि जहाँ हरिश्चंद्र का राज्य न होगा वहाँ हमारे प्राण बचेंगे, सो यहाँ और भी उत्पात हो रहा है। जहाँ देखो वहाँ स्नान, पूजा, जप, पाठ, दान, धर्म, होम इत्यादि

---

* काजल सा रंग, लाल नेत्र, महाकुरूप, हाथ में नंगी तलवार लिए, नीला काछा काछे।

में लोग ऐसे लगे रहते हैं कि हमारी मानो जड़ ही खोद डालेंगे। रात-दिन शंख, घंटा की घनघोर ध्वनि के साथ वेद की धुनि मानो ललकार-ललकार के हमारे शत्रु धर्म की जय मनाती है और हमारे ताप से कैसा भी मनुष्य क्यों न तपा हो, भगवती भागीरथी के जलकण मिले वायु से उसका हृदय एक साथ ही शीतल हो जाता है। इसके उपरांत शिशिशि........ध्वनि अलग मारे डालती है। हाय! कहाँ जायँ क्या करें? हमारी तो संसार से मानो जड़ ही कटा जाता है, यों तो और जगह तो कुछ हमारी चलती भी है, पर यहाँ तो मानो हमारा राज ही नहीं, कैसा भी बड़ा पापी क्यों न हो यहाँ आया कि गति भई।

(नेपथ्य में)

सच है "येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः"।

पाप—अरे रे! यह कौन महा भयंकर भेष अंग में भभूत पोते, एड़ी तक जटा लटकाए, लाल-लाल आँख निकाले साक्षात् काल की भाँति त्रिशूल घुमाता चला आता है। प्राण! तुम्हें जो अपनी रक्षा करनी हो तो भागो पाताल में, अब इस समय भूमंडल में तुम्हारा ठिकाना लगना कठिन ही है।

(भागता हुआ जाता है)

(भैरव* आते हैं)

भैरव—सच है "येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः"। देखो इतना बड़ा पुण्यशील राजा हरिश्चंद्र भी अपनी

*महादेवजी का सा सिंगार, तीन नेत्र, नीला रंग, एक हाथ में त्रिशूल, दूसरे में प्याला।

आत्मा और पुत्र बेचने को यहीं आता है! अहा! धन्य है सत्य! आज जब भगवान् भूतनाथ राजा हरिश्चंद्र का वृत्तांत भवानी से कहने लगे तो उनके तीनों नेत्र अश्रु से पूर्ण हो गए और रोमांच होने से सब शरीर के भस्मकण अलग-अलग हो गए। मुझको आज्ञा भी हुई है कि अलक्ष रूप से तुम सर्वदा राजा हरिश्चंद्र की अंगरक्षा करना; इससे चलूँ मैं भी भेष बदलकर भगवान् की आज्ञापालन में प्रवृत्त होऊँ।

(जाते हैं। जवनिका गिरती है)

तृतीय अंक

स्थान—काशी के घाट-किनारे की सड़क

(महाराज हरिश्चंद्र घूमते हुए दिखाई पड़ते हैं)

हरि०—देखो काशी भी पहुँच गए। अहा! धन्य है काशी! भगवति वाराणसि! तुम्हें अनेक प्रणाम है। अहा! काशी की कैसी अनुपम शोभा है!

"चारहु आश्रम बर्न बसैं मनि
कंचन धाम अकासबिभासिका।
सोभा नहीं कहि जाय कछू बिधिनै
रची मानो पुरीन की नासिका॥
आपु बसैं 'गिरिधारन जू' तट
देवनदी बर बारि बिलासिका।
पुन्य-प्रकासिका पाप-बिनासिका
हीय-हुलासिका सोहत कासिका॥"

"बसैं बिंदुमाधव बिसेसरादि देव सबै
दरसन ही ते लागै जममुख मसी है।
तीरथ अनादि पंचगंगा मनिकर्निकादि
सात आवरन मध्य पुन्यरूपी धसी है॥
'गिरिधरदास' पास भागीरथी सोभा देत
जाकी धार तोरैं आसु कर्मरूप रसी है।
ससी सम जसी असी बरना में बसी पाप
खसी हेतु असी ऐसी लसी बारानसी है।"

"रचित प्रभा सी भासी अवलि मकानन की
जिनमें अकासी फबै रतन-नकासी है।
फिरैं दास-दासी बिप्र गृही औ संन्यासी लसैं
बर गुनरासी देवपुरी हू न जासी है॥
'गिरिधरदास' बिस्व कीरति बिलासी रमा
हासी लौं उजासी जाकी जगत हुलासी है।
खासी परकासी पुनवासी चंद्रिका सी जाके
बासी अबिनासी अघनासी ऐसी कासी है॥"

देखो! जैसा ईश्वर ने यह सुंदर अँगूठी के नगीने सा नगर बनाया है वैसी ही नदी भी इसके लिये दी है। धन्य गंगे!

"जम की सब त्रास बिनास करी मुख ते निज नाम उचारन में।
सब पाप प्रतापहिं दूर दर्‌यो तुम आपन आप निहारन में॥
अहो गंग अनंग के शत्रु करे बहु, नेकु जलै मुख डारन में।
'गिरिधारनजू' कितने बिरचे गिरिधारन धारन धारन में॥"

कुछ महात्म ही पर नहीं, गंगाजी का जल भी ऐसाही उत्तम और मनोहर है! अहा!

नव उज्ज्वल जलधार, हार हीरक सी सोहति।
बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता-मनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पैं इक इमि आवत।
जिमि नर-गन मन बिबिध मनोरथ करत मिटावत॥
सुभग-स्वर्ग-सोपान-सरिस सबके मन भावत।
दरसन मज्जन पान त्रिबिध भय दूर मिटावत॥
श्रीहरिपद-नख-चंद्रकांत-मनि-द्रवित सुधारस।
ब्रह्म-कमंडल-मंडन, भव-खंडन सुर-सरबस॥
शिव-सिर-मालति-माल, भगीरथ-नृपति-पुन्य-फल।
ऐरावत-गज गिरि-पति-हिम-नग-कंठहार कल॥

सगर-सुवन सठ सहस परस जल मात्र उधारन।
अगनित धारा रूप धारि सागर संचारन॥
कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यौ जग धाई।
सपने हू नहिं तजी, रही अंकम लपटाई॥
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर-सम सोहत।
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत॥
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा पताका।
घहरत घंटा धुनि धमकत धौंसा करि साका॥
मधुरी नौबत बजत, कहूँ नारी-नर गावत।
वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत॥
कहुँ सुंदरी नहात नीर कर-जुगल उछारत।
जुग अंबुज मिलि मुक्तगुच्छ मनु सुच्छ निकारत॥
धोवत सुंदरि बदन करन अति ही छबि पावत।
वारिधि नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत॥
सुंदरि-ससि-मुख-नीर मध्य इमि सुंदर सोहत।
कमलबेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत॥
दीठि जहीं जहँ जात रहत तितही ठहराई।
गंगा छबि हरिचंद कछू बरनी नहिं जाई॥

(कुछ सोचकर) पर हा! जो अपना जी दुखी होता है तो संसार सूना जान पड़ता है।

"अशनं वसनं वासो येषां चैवाविधानतः।
मगधेन समा काशी गंगाप्यंगारवाहिनी॥"

विश्वामित्र को पृथ्वी दान करके जितना चित्त प्रसन्न नहीं हुआ उतना अब बिना दक्षिणा दिए दुखी होता है। हा! कैसे कष्ट की बात है, राज-पाट, धन-धाम सब छूटा, अब दक्षिणा कहाँ से देंगे। क्या करें! हम सत्य-

धर्म कभी छोड़ेंगे नहीं और मुनि ऐसे क्रोधी हैं कि बिना दक्षिणा मिले शाप देने को तैयार होंगे और जो वह शाप न भी देंगे तो क्या? हम ब्राह्मण का ऋण चुकाए बिना शरीर भी तो नहीं त्याग सकते। क्या करें? कुबेर को जीतकर धन लावें! पर कोई शस्त्र भी तो नहीं है; तो क्या किसी से माँगकर दें? पर क्षत्रिय का तो धर्म नहीं कि किसी के आगे हाथ पसारे. फिर ऋण काढ़ें? पर देंगे कहाँ से? हा! देखो, काशी में कैसे कैसे लोग संसार के बंधन से छूटते हैं, पर हमको यहाँ भी हाय-हाय मची है। हा! पृथ्वी! तू फट क्यों नहीं जाती कि मैं अपना कलंकित मुँह फिर किसी को न दिखाऊँ! (आतंक से) पर यह क्या! सूर्यवंश में उत्पन्न होकर हमारे से काम हो कि ब्राह्मण का ऋण दिए बिना पृथ्वी में समा जाना सोचें। (कुछ सोचकर) हमारी भी इस समय कुछ बुद्धि ही नहीं काम करती। क्या करें! हमें तो संसार सूना देख पड़ता है। (चिंता करके एक साथ प्रसन्न होके) वाह! भार्या तो स्त्री, पुत्र और हम तीन-तीन मनुष्य तैयार हैं। क्या हम लोगों के बिकने से दस सहस्र स्वर्णमुद्रा भी न मिलेगी। तब फिर किस बात का इतना सोच? न जाने बुद्धि इतनी देर तक कहाँ सोई थी; हमने तो पहले ही विश्वामित्र से कहा था—

बेचि देह दारा सुअन, होय दास हूँ मंद।
रखिहै निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचंद॥

(नेपथ्य में) तो क्यों नहीं जल्दी अपने को बेचता? क्या हमें और काम नहीं है कि तेरे पीछे-पीछे दक्षिणा के वास्ते लगे फिरें?

हरि०—अरे मुनि तो आ पहुँचे। क्या हुआ आज उनसे एक-दो दिन की अवधि और लेंगे।

(विश्वामित्र आते हैं)

विश्वा०—(आप ही आप) हमारी विद्या सिद्ध हुई सो इसी दुष्ट के कारण सब बहक गई। कुछ इंद्र के कहने ही पर नहीं, हमारा इस पर स्वतः भी क्रोध है, पर क्या करें, इसके सत्य, धैर्य और विनय के आगे हमारा क्रोध कुछ काम नहीं करता। यद्यपि यह राज्यभ्रष्ट हो चुका, पर जब तक इसे सत्यभ्रष्ट न कर लूँगा तब तक मेरा संतोष न होगा। (आगे देखकर) अरे! यही दुरात्मा (कुछ रुककर) वा, महात्मा हरिश्चंद्र है? (प्रगट) क्यों रे! आज महीने में कै दिन बाकी हैं? बोल कब दक्षिणा देगा?

हरि०—(घबड़ाकर) अहा! महात्मा कौशिक भगवान्! प्रणाम करता हूँ। (दंडवत् करता है)

विश्वा०—हुई प्रणाम, बोल तैने दक्षिणा देने का क्या उपाय किया? आज महीना पूरा हुआ, अब मैं एक क्षण भर भी न मानूँगा। दे अभी, नहीं तो—(शाप के वास्ते कमंडल से जल हाथ में लेते हैं)

हरि०—(पैरों पर गिरकर) भगवन्! क्षमा कीजिए। यदि आज सूर्यास्त के पहिले मैं न दूँ तो जो चाहे कीजिएगा। मैं अभी अपने को बेचकर मुद्रा ले आता हूँ।

विश्वा०—(आप ही आप) वाह रे महानुभावता (प्रगट) अच्छा आज साँझ तक और सही। साँझ को न देगा तो मैं शाप ही न दूँगा, वरंच त्रैलोक्य में आज ही विदित कर दूँगा कि हरिश्चंद्र सत्य-भ्रष्ट हुआ।

[जाते हैं

हरि०—भला किसी तरह मुनि से प्राण बचे। अब चलें अपना शरीर बेचकर दक्षिणा देने का उपाय सोचें। हा! ऋण भी कैसी बुरी वस्तु है, इस लोक में वही मनुष्य कृतार्थ है जिसने ऋण चुका देने को कभी क्रोधी और क्रूर लहनदार की लाल-लाल आँखें नहीं देखी हैं। (आगे चलकर) अरे क्या बाजार में आ गए, अच्छा, (सिर पर तृण* रखकर) अरे सुनो भाई सेठ, साहूकार, महाजन, दूकानदारो, हम किसी कारण से अपने को पाँच हजार मोहर पर बेचते हैं, किसी को लेना हो तो लो। (इसी तरह कहता हुआ इधर-उधर फिरता है) देखो कोई दिन वह था कि इसी मनुष्य-विक्रय को अनुचित जानकर हम दूसरे को दंड देते थे पर आज वही कर्म हम आप करते हैं। दैव बली है। ('अरे सुनो भाई' इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर फिरता है। ऊपर देखकर) क्या कहा? "क्यों तुम ऐसा दुष्कर कर्म करते हो?" आर्य यह मत पूछो, यह सब कर्म की गति है। (ऊपर देखकर) क्या कहा? "तुम क्या कर सकते हो, क्या समझते हो, और किस तरह रहोगे?" इसका क्या पूछना है। स्वामी जो कहेगा वह करेंगे; समझते सब कुछ हैं, पर इस अवसर पर समझना कुछ काम नहीं आता, और जैसे स्वामी रखेगा वैसे रहेंगे। जब अपने को बेच ही दिया तब इसका क्या विचार है। (ऊपर देखकर) क्या कहा? "कुछ दाम काम करो।" आर्य हम लोग तो क्षत्रिय हैं, हम दो बात कहाँ से जानें। जो कुछ ठीक था कह दिया।

---

*उस काल में जब कोई दास्य स्वीकार करता था तो सिर पर तृण रखता था।

(नेपथ्य में से)

आर्यपुत्र ! ऐसे समय में हमको छोड़े जाते हो ! तुम दास होगे तो मैं स्वाधीन रहके क्या करूँगी ? स्त्री को अर्द्धांगिनी कहते हैं, इससे पहिले बायाँ अंग बेच लो तब दाहिना अंग बेचना।

हरि०—(सुनकर बड़े शोक से) हा ! बालक की यह दशा इन आँखों से कैसे देखी जायगी !

(फाटक पर शैव्या और बालक फिरते हुए दिखाई पड़ते हैं)

शैव्या—कोई महात्मा कृपा करके हमको मोल ले तो बड़ा उपकार हो।

बालक—हमको भी कोई मोल ले तो बड़ा उपकार हो।

शैव्या—(आँखों में आँसू भरकर) पुत्र ! चन्द्र-कुल-भूषण महाराज वीरसेन का नाती और सूर्यकुल की शोभा महाराज हरिश्चन्द्र का पुत्र होकर तू क्यों ऐसे कातर वचन कहता है ? मैं अभी जीती हूँ। (रोती है)

बालक—(माँ का आँचल पकड़ के) माँ ! तुमको कोई मोल लेगा तो अमको बी मोल लेगा। आँ आँ माँ लोती काए को औ। (कुछ रोना सा मुँह बनाकर शैव्या का आँचल पकड़ के झूलने लगता है)

शैव्या—(आँसू पोंछकर) मेरे भाग्य से पुत्र।

हरि०—अहह ! भाग्य ! यह भी तुम्हें देखना था ? हा ! अयोध्या की प्रजा रोती रह गई, हम उनको कुछ धीरज भी न दे आए। उनकी अब कौन गति होगी। हा ! यह नहीं कि राज छूटने पर भी छुटकारा हो। अब यह देखना पड़ा। हृदय ! तुम इस चक्रवर्त्ती की सेवायोग्य बालक और स्त्री

को बिकता देखकर टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ? (बारंबार लंबी साँस लेकर आँसू बहाता है)

शैव्या—('कोई महात्मा' इत्यादि कहती हुई ऊपर देखकर) क्या कहा ? "क्या-क्या करोगी ?" पर पुरुष से संभाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़कर और सब सेवा करूँगी । (ऊपर देखकर) क्या कहा ? "इतने मोल पर कौन लेगा ?" आर्य ! कोई साधु ब्राह्मण महात्मा कृपा करके ले ही लेंगे ।

(उपाध्याय और बटुक आते हैं)

उपा०—क्यों रे कौंडिन्य, सच ही दासी बिकती है ?

बटु०—हाँ गुरुजी, क्या मैं झूठ कहूँगा ! आप ही देख लीजिएगा ।

उपा०—तो चल, आगे-आगे भीड़ हटाता चल । देख, धारा-प्रवाह की भाँति कैसे सब काम काजी लोग इधर से उधर फिर रहे हैं, भीड़ के मारे पैर धरने की जगह नहीं है । और मारे कोलाहल के कान नहीं दिया जाता ।

बटु०—(आगे-आगे चलता हुआ) हटो भाई हटो । (कुछ आगे बढ़कर) गुरुजी, यह जहाँ भीड़ लगी है वहीं होगी ।

उप०—(शैव्या को देखकर) अरे यही दासी बिकती है ?

(शैव्या 'अरे कोई हमको मोल ले' इत्यादि कहती और रोती है । बालक भी माता की भाँति तोतली बोली से कहता है)

उपा०—पुत्री ! कहो तुम कौन-कौन सेवा करोगी ?

शैव्या—पर-पुरुष से संभाषण और उच्छिष्ट-भोजन छोड़कर और जो-जो कहियेगा, सब सेवा करूँगी ।

उपा०—वाह ! ठीक है । अच्छा, लो यह सुवर्ण । हमारी ब्राह्मणी अग्निहोत्र की अग्नि की सेवा से घर के कामकाज नहीं कर सकती सो तुम सम्हालना ।

शैव्या—(हाथ फैलाकर) महाराज ! आपने बड़ा उपकार किया।

उपा०—(शैव्या को भली भाँति देखकर आप ही आप) अहा ! यह निसंदेह किसी बड़े कुल की है। इसका मुख सहज लज्जा से ऊँचा नहीं होता और दृष्टि बराबर पैर ही पर है। जो बोलती है वह धीरे-धीरे और बहुत सम्हाल के बोलती है। हा ! इसकी यह गति क्यों हुई ! (प्रगट) पुत्री ! तुम्हारे पति हैं न ?

(शैव्या राजा की ओर देखती है)

हरि०(आप ही आप दुःख से) अब नहीं हैं। पति के होते भी ऐसी स्त्री की यह दशा हो !

उपा०--(राजा को देखकर आश्चर्य से) अरे यह विशालनेत्र, प्रशस्त वक्षःस्थल, और संसार की रक्षा करने के योग्य लंबी-लंबी भुजावाला कौन मनुष्य है, और मुकुट के योग्य सिर पर तृण क्यों रखा है ! (प्रगट) महात्मा तुम हमको अपने दुख का भागी समझो और कृपापूर्वक अपना सब वृत्तांत कहो।

हरि०—भगवन् ! और तो विदित करने का अवसर नहीं है, इतना ही कह सकता हूँ कि ब्राह्मण के ऋण के कारण यह दशा हुई।

उपा०—तो हमसे धन लेकर आप शीघ्र ही ऋण-मुक्त हूजिए !

हरि०—(दोनों कानों पर हाथ रखकर) राम-राम ! यह तो ब्राह्मण की वृत्ति है। आपसे धन लेकर हमारी कौन गति होगी !

उपा०—तो पाँच हजार मोहर पर आप दोनों में से जो चाहे सो हमारे संग चले।

शैव्या—(राजा से हाथ जोड़कर) नाथ ! हमारे आकृत आप मत बिकिए, जिसमें हमको अपनी आँख से यह न देखना पड़े, हमारी इतनी विनती मानिए। (रोती है)

हरि०—(आँसू रोककर अच्छा ! तुम्हीं जाओ। (आप ही आप). हा ! यह वज्रहृदय हरिश्चंद्र ही का है कि अब भी नहीं विदीर्ण होता !

शैव्या—(राजा के कपड़े में सोना बाँधती हुई) नाथ ! अब तो दर्शन भी दुर्लभ होंगे। (रोती हुई उपाध्याय से) आर्य्य ! आप क्षण भर क्षमा करें तो मैं आर्य्यपुत्र का भली भाँति दर्शन कर लूँ। फिर यह मुख कहाँ और मैं कहाँ।

उपा०—हाँ ! हाँ मैं जाता हूँ। कौण्डिन्य यहाँ है, तुम उसके साथ आना। [जाता है

शैव्या—(रोकर) नाथ ! मेरे अपराधों को क्षमा करना।

हरि०—(अत्यंत घबड़ाकर) अरे अरे विधाता ! तुझे यही करना था ! (आप ही आप) हा ! पहिले महारानी बना कर अब दैव ने इसे दासी बनाया। यह भी देखना बदा था। हमारी इस दुर्गति से आज कुलगुरु भगवान् सूर्य का भी मुख मलिन हो रहा है। (रोता हुआ) (प्रगट रानी से) प्रिये ! सर्व भाव से उपाध्याय को प्रसन्न रखना और सेवा करना।

शैव्या—(रोकर) नाथ ! जो आज्ञा।

बटु०—उपाध्यायजी गए, अब चलो जल्दी करो।

हरि०—(आँखों में आँसू भरके) देवी ! (फिर रुककर अत्यंत सोच से आप ही आप) हाय ! अब मैं देवी क्यों कहता हूँ, अब तो विधाता ने इसे दासी बनाया। (धैर्य से) देवी, उपाध्याय

की आराधना भली भाँति करना और उनके सब शिष्यों से भी सुहृद्-भाव रखना, ब्राह्मण की स्त्री की प्रीतिपूर्वक सेवा करना, बालक का यथासंभव पालन करना और धर्म और प्राण की रक्षा करना विशेष हम क्या समझावें, जो-जो दैव दिखावे उसे धीरज से देखना। (आँसू बहते हैं)

शैव्या—जो आज्ञा। (राजा के पैरों पर गिर के रोती है)

हरि०—(धैर्यपूर्वक) प्रिये, देर मत करो, बटुक घबड़ा रहे हैं।

(शैव्या उठकर रोती और राजा की ओर देखती हुई धीरे-धीरे चलती है)

बालक—(राजा से) पिता, मा कआँ जाती पँ ?

हरि०—(धैर्य से आँसू रोककर) जहाँ हमारे भाग्य ने उसे दासी बनाया है।

बालक—(बटुक से) अले मा को मत ले जा। (माँ का आँचल पकड़के खींचता है)

बटु०—(बालक को ढकेलकर) चल-चल देर होती है।

(बालक ढकेलने से गिरकर रोता हुआ उठकर अत्यंत क्रोध और करुणा से माता-पिता की ओर देखता है)

हरि०—ब्राह्मण देवता, बालकों के अपराध से नहीं रुष्ट होना चाहिये। (बालक को उठाकर धूर पोंछ के मुँह चूमता हुआ) पुत्र, मुझ चांडाल का मुख इस समय ऐसे क्रोध से क्यों देखता है? ब्राह्मण का क्रोध तो सभी दशा में सहना चाहिए। जाओ माता के संग, मुझ भाग्यहीन के साथ रहकर क्या करोगे? (रानी से) प्रिये, धैर्य धरो। अपना कुल और जाति स्मरण करो। अब जाओ, देर होती है।

(रानी और बालक रोते हुए बटुक के साथ जाते हैं)

हरि०—धन्य हरिश्चद्र ! तुम्हारे सिवाय और ऐसा कठोर हृदय किसका होगा ? संसार में धन और जन छोड़कर लोग स्त्री की रक्षा करते हैं, पर तुमने उसका भी त्याग किया।

(विश्वामित्र आते हैं और हरिश्चन्द्र पैर पर गिरकर प्रणाम करता है)

विश्वा०—ला, दे दक्षिणा ! अब साँझ होने में कुछ देर नहीं है।

हरि०—(हाथ जोड़ कर) महाराज, आधी लीजिए आधी अभी देता हूँ। (सोना देता है)

विश्वा०—हम आधी दक्षिणा लेके क्या करें, दे चाहे जहाँ से सब दक्षिणा।

(नेपथ्य में)

धिक् तपो धिक् व्रतमिदं धिक् ज्ञानं धिक् बहुश्रुतम्।
नीतवानसि यद्ब्रह्मन् हरिश्चंद्रमिमां दशाम्॥

विश्वा०—(बड़े क्रोध से) आः हमको धिक्कार देने वाला यह कौन दुष्ट है ? (ऊपर देखकर) अरे विश्वेदेवा, (क्रोध से जल हाथ में लेकर) अरे क्षत्रिय के पक्षपातियो, तुम अभी विमान से गिरो और क्षत्रिय के कुल में तुम्हारा जन्म हो और वहाँ भी लड़कपन ही में ब्राह्मण के हाथ मारे जाओ*। (जल छोड़ते हैं)

(नेपथ्य में हाहाकार के साथ बड़ा शब्द होता है)

(सुनकर और ऊपर देखकर आनंद से) हहहह ! अच्छा हुआ ! यह देखो, किरीट-कुंडल बिना मेरे क्रोध से विमान से छूटकर विश्वेदेवा उलटे हो होकर नीचे गिरते हैं। और हमको धिक्कार रहे हैं।

---

*यही पाँचो विश्वदेवा विश्वामित्र के शाप से द्वापर में द्रौपदी के पाँच पुत्र हुए थे, जिन्हें अश्वत्थामा ने बालकपन ही में मार डाला।

हरि०—(ऊपर देखकर भय से) वाह रे तप का प्रभाव ! (आप ही आप) तब तो हरिश्चंद्र को अब तक शाप नहीं दिया है यह बड़ा अनुग्रह है ! (प्रगट) भगवन्, स्त्री बेचकर यह आधा धन पाया है सो लें, और आधा हम अपने को बेचकर अभी देते हैं ।

(नेपथ्य में)

अरे, अब तो नहीं सही जाती ।

विश्वा०—हम आधा न लेंगे, चाहे जहाँ से अभी सब दे ।

(हरिश्चन्द्र 'अरे सुनो भाई सेठ साहूकार' इत्यादि पुकारता हुआ घूमता है । चांडाल के वेष में धर्म और सत्य आते हैं *)

धर्म—(आप ही आप)

हम प्रतच्छ हरिरूप जगत हमरे बल चालत ।
जल-थल-नभ थिर मो प्रभाव मरजाद न टालत ॥
हमहीं नर के मीत सदा साँचे हितकारी ।
इक हमहीं सँग जात, तजत जब पितु सुत नारी ॥
सो हम नित थित सत्य में जाके बल सब जग जियो ।
सोइ सत्य-परिच्छन नृपति को आजु भेष हम यह कियो ॥

(आश्चर्य से आप ही आप) सचमुच इस राजर्षि के समान दूसरा आज त्रिभुवन में नहीं है ।

(आगे बढ़कर प्रगट) अरे ! हरजनवाँ ! मोहर का संदूक ले आवा है न ?

सत्य—क चौधरी ! मोहर ले के का करबो ?

धर्म—तोह से काम पूछै से ?

---

* काँछा काछे, काला रंग, लाल नेत्र, सिर पर छोटे-छोटे घुँघराले बाल और शरीर नंगा, बातों से मतवालापन झलकता हुआ ।

(दोनों आगे बढ़ते हुए फिरते हैं)

हरि०—('अरे सुनो भाई सेठ साहूकार' इत्यादि दो-तीन बेर पुकार के इधर-उधर घूमकर) हाय ! कोई नहीं बोलता और कुलगुरु भगवान् सूर्य भी आज हमसे रुष्ट होकर शीघ्र ही अस्ताचल जाया चाहते हैं। (घबराहट दिखाता है)

धर्म—(आप ही आप) हाय हाय ! इस समय इस महात्मा को बड़ा ही कष्ट है। तो अब चलें आगे। (आगे बढ़कर) अरे ! अरे ! हम तुमको मोल लेंगे, लेव यह पचास सौ मोहर लेव।

हरि०—(आनंद से आगे बढ़कर) वाह कृपानिधान ! बड़े अवसर पर आए। लाइए ! (उसको पहिचान कर) आप मोल लेंगे ?

धर्म—हाँ, हम मोल लेंगे। (सोना देना चाहता है)

हरि—आप कौन हैं ?

धर्म—

हम चौधरी डोम सरदार। अमल हमारा दोनों पार ॥
सब मसान पर हमरा राज। कफन माँगने का है काज ॥
फूलमती देवी* के दास। पूजें सती मसान निवास ॥
धनतेरस औ रात दिवाली। बलि चढ़ाय के पूजें काली ॥
सो हम तुमको लेंगे मोल। देंगे मुहर गाँठ से खोल ॥

(मत्त की भाँति चेष्टा करता है)

हरि०—(बड़े दुःख से) अहह ! बड़ा दारुण व्यसन उपस्थित हुआ। (विश्वामित्र से) भगवान् ! मैं पैर पड़ता हूँ, मैं

*प्राचीन काल में चांडालों की कुलदेवी चंडकात्यायनी थी, परन्तु इस काल में फूलमती इन लोगों की कुलदेवी हैं।

जन्म भर आपका दास होकर रहूँगा, मुझे चांडाल होने से बचाइए।

विश्वा०—छिः मूर्ख ! भला हम दास लेके क्या करेंगे ? "स्वयं दासास्तपस्विनः"।

हरि०—(हाथ जोड़कर) जो आज्ञा कीजिएगा हम सब करेंगे।

विश्वा०—सब करेगा न ! (ऊपर हाथ उठाकर) धर्म के साक्षी देवता लोग सुनें, यह कहता है कि जो आप कहेंगे मैं सब करूँगा।

हरि०—हाँ हाँ, जो आप आज्ञा कीजिएगा सब करूँगा।

विश्वा०—तो इसी गाहक के हाथ अपने को बेचकर अभी हमारी शेष दक्षिणा चुका दे।

हरि०—जो आज्ञा। (आप ही आप) अब कौन सोच है। (प्रगट धर्म से) तो हम एक नियम पर बिकेंगे !

धर्म—वह कौन ?

हरि०—भीख असन कंबल बसन, रखिहैं दूर निवास।
जो प्रभु आज्ञा होइहै, करिहैं सब है दास॥

धर्म—ठीक है, लेव सोना। (दूर से राजा के आँचल में मोहर देता है)

हरि०—(लेकर हर्ष से आप ही आप)

ऋण छूट्यो पूर्यो बचन, द्विजहु न दीनो साप।
सत्य पालि चंडाल हू होइ आजु मोहि दाप॥

(प्रगट विश्वामित्र से) भगवन्, लीजिए यह मोहर।

विश्वा०—(मुँह चिढ़ाकर) सचमुच देता है !

हरि०—हाँ हाँ, यह लीजिए ! (मोहर देते हैं)

विश्वा०—(लेकर) स्वस्ति। (आप ही आप) बस अब चलो. बहुत परीक्षा हो चुकी। (जाना चाहते हैं)

हरि०—(हाथ जोड़कर) भगवन्! दक्षिणा देने में देर होने का अपराध क्षमा हुआ न?

विश्वा०—हाँ, क्षमा हुआ। अब हम जाते हैं।

हरि०—भगवन्! प्रणाम करता हूँ।

(विश्वामित्र आशीर्वाद देकर जाते हैं)

हरि०—अब चौधरीजी, (लज्जा से रुककर) स्वामी की जो आज्ञा हो वह करें।

धर्म—(मत्त की भाँति नाचता हुआ)

जावो अभी दक्खिनी मसान। लेव वहाँ कफन का दान॥
जो कर तुमको नहीं चुकावे। सो किरिया करने नहिं पावे॥
चलो घाट पर करो निवास। भए आज से हमरे दास॥

हरि०—जो आज्ञा।

(जवनिका गिरती है)

चतुर्थ अंक

स्थान—दक्षिण श्मशान

[नदी, पीपल का बड़ा पेड़, चिता, मुरदे,
कौए, सियार, कुत्ते, हड्डी इत्यादि]

(कंबल ओढ़े और एक मोटा लट्ठ लिए हुए
राजा हरिश्चंद्र दिखाई पड़ते हैं)

हरि०—(लंबी साँस लेकर) हाय ! अब जन्म भर यही दुःख भोगना पड़ेगा।

जाति दास चंडाल को, घर घनघोर मसान।
कफन खसोटी को करम, सब ही एक समान॥

न जानें विधाता का क्रोध इतने पर भी शांत हुआ कि नहीं। बड़ों ने सच कहा है कि दुःख से दुःख जाता है। दक्षिणा का ऋण चुका, तो यह कर्म करना पड़ा। हम क्या सोचें ? अपनी अनाथ प्रजा को, या दीन नातेदारों को, या अशरण नौकरों को, या रोती हुई दासियों को, या सूनी अयोध्या को, या दासी बनी महारानी को, या उस अनजान बालक को, या अपने ही इस चांडालपने को। हा ! बटुक के धक्के से गिरकर रोहिताश्व ने क्रोध-भरी और रानी ने जाते समय करुणा-भरी दृष्टि से जो मेरी ओर देखा था वह अब तक नहीं भूलती। (घबड़ाकर) हा देवी ! सूर्यकुल की बहू और चंद्रकुल की बेटी

होकर तुम बेची गई और दासी बनीं। हा! तुम अपने जिन सुकुमार हाथों से फूल की माला भी नहीं गूँथ सकती थीं उनसे बरतन कैसे माँजोगी? (मोह प्राप्त होने चाहता है पर सम्हलकर) अथवा क्या हुआ? यह तो कोई न कहेगा कि हरिश्चंद्र ने सत्य छोड़ा।

बेचि देह दारा सुअन, होइ दास हू मंद।
राख्यो निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचंद॥

(आकाश से पुष्पवृष्टि होती है)

अरे यह असमय में पुष्पवृष्टि कैसी? किसी पुण्यात्मा का मुरदा आया होगा। तो हम सावधान हो जायँ। [लट्ठ कंधे पर रख कर फिरता हुआ] खबरदार! खबरदार! बिना हमसे कहे और बिना हमें आधा कफन दिए कोई संस्कार न करे। [यही कहता हुआ निर्भय मुद्रा से इधर-उधर देखता फिरता है। नेपथ्य में कोलाहल सुन कर] हाय-हाय! कैसा भयंकर श्मशान है! दूर से मंडल बाँध-बाँधकर चोच बाए, डैना फैलाए, कंगालों की तरह मुर्दों पर गिद्ध कैसे गिरते हैं और कैसा मांस नोच-नोचकर आपस में लड़ते और चिल्लाते हैं। इधर अत्यंत कर्णकटु अमंगल के नगाड़े की भाँति एक के शब्द की लाग से दूसरे सियार कैसे रोते हैं। उधर चिराइन फैलाती हुई चट-चट करती चिताएँ कैसी जल रही हैं, जिनमें कहीं से मांस के टुकड़े उड़ते हैं, कहीं लोहू वा चरबी बहती है। आग का रंग मांस के संबंध से नीला-पीला हो रहा है, ज्वाला घूम-घूमकर निकलती है, कभी एक साथ धधक उठती है, कभी मंद हो जाती है। धुआँ चारों ओर छा रहा है। [आगे देखकर आदर से] अहा! यह बीभत्स व्यापार भी बड़ाई के योग्य है। शव!

तुम धन्य हो कि इन पशुओं के इतने काम आते हो; अतएव कहा है—

"मरनो भलो विदेश को, जहाँ न अपुनो कोय।
माटी खाँय जनावरां, महा महोच्छव होय।"

अहा! देखो।

सिर पै बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहि स्यार अतिहि आनंद उर धारत॥
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि कै मांस उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि काटि कै खान बिचारत॥
बहु चील नोचि लै जात तुच मोद मढ़्यो सबको हियो।
मनु ब्रह्मभोज जिजमान कोउ आजु भिखारिन कहँ दियो॥

अहा! शरीर भी कैसी निस्सार वस्तु है!

सोई मुख सोई उदर, सोई कर पद होय।
भयो आजु कछु और ही, परसत जेहि नहिं कोय॥
हाड़ माँस लाला रकत, बसा तुचा सब सोय।
छिन्न भिन्न दुर्गंध-मय, मरे मनुस के होय॥
कादर जेहि लखि कै डरत, पंडित पावत लाज।
अहो! व्यर्थ संसार को, विषय वासना साज॥

अहो! मरना भी क्या वस्तु है।

सोई मुख जेहि चंद बखान्यो।
सोई अंग जेहि प्रिय करि जान्यो॥
सोई भुज जे प्रिय गर डारे।
सोई भुज जिन नर बिक्रम पारे॥
सोई पद जिहि सेवक बंदत।
सोई छबि जेहि देखि अनंदत॥

सोइ रसना जहँ अमृत बानी।
जेहि सुन के हिय नारि जुड़ानी॥
सोइ हृदय जहँ भाव अनेका।
सोई सिर जहँ निज बच टेका॥
सोई छबि-मय अंग सुहाए।
आज जीव बिनु धरनि सुहाए॥
कहाँ गई यह सुंदर सोभा।
जीवत जेहि लखि सब मन लोभा॥
प्रानहुँ ते बढ़ि जा कहँ चाहत।
ता कहँ आजु सबै मिलि दाहत॥
फूल बोझ हू जिन न सम्हारे।
तिन पै बोझ काठ बहु डारे॥
सिर पीड़ा जिनकी नहिं हेरी।
करत कपाल-क्रिया तिन केरी॥
छिनहूँ जे न भए कहुँ न्यारे।
तेउ बंधुगन छाड़ि सिधारे॥
जो दृगकोर महीप निहारत।
आजु काक तेहि भोज बिचारत॥
भुजबल जे नहिं भुवन समाए।
ते लखियत मुख कफन छिपाए॥
नरपति प्रजा भेद बिनु देखे।
गने काल सब एकहि लेखे॥
सुभग कुरूप अमृत विष साने।
आजु सबै इक भाव बिकाने॥
पुरु दधीच कोऊ अब नाहीं।
रहे नामही ग्रंथन माहीं॥

अहा ! देखो वही सिर, जिस पर मंत्र से अभिषेक होता था, कभी नवरत्न का मुकुट रखा जाता था, जिसमें इतना अभिमान था कि इंद्र को भी तुच्छ गिनता था, और जिसमें बड़े-बड़े राज जीतने के मनोरथ भरे थे, आज पिशाचों का गेंद बना है और लोग उसे पैर से छूने में भी घिन करते हैं। (आगे देखकर) अरे यह श्मशान-देवी हैं। अहा ! कात्यायनी को भी कैसा बीभत्स उपचार प्यारा है ? यह देखो, डोम लोगों ने सूखे गले सड़े फूलों की माला गंगा में से पकड़-पकड़कर देवी को पहिना दी है और कफन की ध्वजा लगा दी है। मरे बैल और भैंसों के गले के घंट पीपल की डार में लटक रहे हैं, जिनमें लोलक की जगह नली की हड्डी लगी है। घंट के पानी से चारों ओर से देवी का अभिषेक होता है और पेड़ के खंभे में लोहू के थापे लगे हैं। नीचे जो उतारों की बलि दी गई है उसके खाने को कुत्ते और सियार लड़-लड़कर कोलाहल मचा रहे हैं। (हाथ जोड़कर)

"भगवति ! चंडि ! प्रेते ! प्रेतविमाने ! लसत्प्रेते ! प्रेतास्थिरौद्ररूपे ! प्रेताशिनि ! भैरवि ! नमस्ते" ॥

(नेपथ्य में)

राजन् ! हम केवल चांडालों के प्रणाम के योग्य हैं। तुम्हारे प्रणाम से हमें लज्जा आती है। माँगो क्या वर माँगते हो ?

हरि०—(सुनकर आश्चर्य से) भगवति ! यदि आप प्रसन्न हैं तो हमारे स्वामी का कल्याण कीजिए।

(नेपथ्य में)

साधु महाराज हरिश्चंद्र साधु !

हरि०—(ऊपर देखकर) अहा ! स्थिरता किसी को भी नहीं है। जो सूर्य उदय होते ही पद्मिनीवल्लभ और लौकिक वैदिक दोनों कर्म का प्रवर्त्तक था, जो दोपहर तक अपना प्रचंड प्रताप क्षण-क्षण बढ़ाता गया, जो गगनांगन का दीपक और कालसर्प का शिखामणि था, वह इस समय परकटे गिद्ध की भाँति अपना सब तेज गँवाकर देखो समुद्र में गिरा चाहता है।

अथवा

साँझ सोई पट लाल कसे कटि सूरज खप्पर हाथ लह्यो है।
पच्छिन के बहु शब्दन के मिस जीव उचाटन मंत्र कह्यो है॥
मद्य भरी नरखोपरी सो ससि को नव बिंबहु धाइ गह्यो है।
दै बलि जीव पसू यह मत्त ह्वै काल-कपालिक नाचि रह्यो है॥
सूरज धूम बिना की चिता सोई अंत में लै जल माँहि बहाई।
बोलैं घने तरु बैठि बिहंगम रोअत सो मनु लोग-लोगाई॥
धूम अँधार, कपाल निसाकर, हाड़ नछत्र लहू सी ललाई।
आनँद हेतु निशाचर के यह काल मसान सो साँझ बनाई॥

अहा ! यह चारों ओर से पक्षी सब कैसा शब्द करते हुए अपने-अपने घोंसलों की ओर चले आते हैं। वर्षा से नदी का भयंकर प्रवाह, साँझ होने से श्मशान के पीपल पर कौओं का एक संग अमंगल शब्द के काँव-काँव करना और रात के आगमन से सन्नाटे का समय चित्त में कैसी उदासी और भय उत्पन्न करता है। अंधकार बढ़ता ही जाता है। वर्षा के कारण इन श्मशानवासी मंडूकों का टर-टर करना भी कैसा डरावना मालूम होता है।

रुरुआ चहुँ दिसि ररत डरत सुनि के नर-नारी।
फटफटाइ दोउ पंख उलूकहु रटत पुकारी॥

अंधकारबस गिरत काक अरु चील करत रव।
गिद्ध-गरुड़-हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद रव॥
रोअत सियार, गरजत नदी, स्वान भूँकि डरपावहीं।
सँग दादुर झींगुर रुदन-धुनि मिलि स्वर तुमुल मचावहीं॥

इस समय ये चिता भी कैसी भयंकर मालूम पड़ती हैं। किसी का सिर चिता के नीचे लटक रहा है, कहीं आँच से हाथ-पैर जलकर गिर पड़े हैं, कहीं शरीर आधा जला है, कहीं बिलकुल कच्चा है, किसी को वैसे ही पानी में बहा दिया है, किसी को किनारे ही छोड़ दिया है, किसी का मुँह जल जाने से दाँत निकला हुआ भयंकर हो रहा है और कोई आग में ऐसा जल गया है कि कहीं पता भी नहीं है। वाह रे शरीर, तेरी क्या-क्या गति होती है!! सचमुच मरने पर इस शरीर को चटपट जला ही देना योग्य है, क्योंकि ऐसे रूप और गुण जिस शरीर में थे उसको कीड़ों वा मछलियों से नुचवाना और सड़ाकर दुर्गंधमय करना बहुत ही बुरा है। न कुछ शेष रहेगा न दुर्गति होगी। हा! चलो आगे चलें।

(खबरदार इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर घूमता है)

(पिशाच और डाकिनीगण परस्पर आमोद करते और गाते-बजाते हुए आते हैं)

पि०—और डा०—हैं भूत प्रेत हम, डाइन हैं छमाछम,
हम सेवैं मसान शिव को भजैं बोलैं बम बम बम।

पि०—हम कड़ कड़ कड़ कड़ कड़ कड़ हड्डी को तोड़ेंगे।
हम भड़ भड़ धड़ धड़ पड़ पड़ सिर सबका फोड़ेंगे।

डा०—हम घुट घुट घुट घुट घुट घुट लोहू पिलावेंगी॥
हम चट चट चट चट चट चट ताली बजावेंगी॥

सब—हम नाचें मिलकर थेई थेई थेई थेई कूदें धम् धम्
धम्। हैं भूत०—

पि०—हम काट काट कर शिर का गेंदा उछालेंगे।
हम खींच खींच कर चरबी पंशाखा बालेंगे॥

डा०—हम माँग में लाल-लाल लोहू का सेंदुर लगावेंगी।
हम नस के तागे चमड़े का लहँगा बनावेंगी॥

सब—हम धज से सज के बज के चलेंगे चमकेंगे चम
चम चम।

पि०—लोहू का मुँह से फर फर फुहारा छोड़ेंगे।
माला गले पहिरने को अँतड़ी का जोड़ेंगे॥

डा०—हम लाद के औंधे मुरदे चौका बनावेंगी।
कफन बिछा के लड़कों को उस पर सुलावेंगी॥

सब—हम सुख से गावेंगे ढोल बजावेंगे ढम ढम ढम ढम।

(वैसे ही कूदते हुए एक ओर से चले जाते हैं)

हरि०—(कौतुक से देखकर) पिशाचों की क्रीड़ा-कुतूहल भी देखने योग्य है। अहा! यह कैसे काले-काले झाड़ से सिर के बाल खड़े किए लंबे-लंबे हाथ-पैर विकराल दाँत, लंबी जीभ निकाले इधर-उधर दौड़ते और परस्पर किलकारी मारते हैं; मानो भयानक रस की सेना मूर्तिमान होकर यहाँ स्वच्छंद विहार कर रही है। हाय-हाय! इनका खेल और सहज व्योहार भी कैसा भयंकर है। कोई कटाकट हड्डी चबा रहा है, कोई खोपड़ियों में लहू भर-भर करके पीता है, कोई सिर का गेंद बनाकर खेलता है, कोई अँतड़ी निकाल गले में डाले है और चंदन की भाँति चरबी और लहू शरीर में पोत रहा है, एक दूसरे से मांस छीन ले भागता है, एक जलता मांस मारे

तृष्णा के मुँह में रख लेता है, पर जब गरम मालूम पड़ता है तो थू थू करके थूक देता है, और दूसरा उसी को फिर झट से खा जाता है। हा! देखो यह चुड़ैल एक स्त्री की नाक नथ समेत नोच लाई है, जिसे देखने को चारों ओर से सब भुतने एकत्र हो रहे हैं और सभों को इसका बड़ा कौतुक हो गया है। हँसी में परस्पर लोहू का कुल्ला करते हैं और जलती लकड़ी और मुरदों के अंगों से लड़ते हैं और उनको ले-लेकर नाचते हैं। यदि तनिक भी क्रोध में आते हैं तो श्मशान के कुत्तों को पकड़-पकड़कर खा जाते हैं। अहा! भगवान् भूतनाथ ने बड़े कठिन स्थान पर योगसाधन किया है। (खबरदार इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर फिरता है। ऊपर देखकर) आधी रात हो गई, वर्षा के कारण अँधेरी बहुत ही छा रही है, हाथ से हाथ नहीं सूझता! चांडाल कुल की भाँति श्मशान पर तम का भी आज राज हो रहा है। (स्मरण करके) हा! इस दुःख की दशा में भी हमसे प्रिया अलग पड़ी है। कैसी भी हीन अवस्था हो, पर अपना प्यारा जो पास रहे तो कुछ कष्ट नहीं मालूम पड़ता। सच है—

"टूट टाट घर टपकत खटियौ टूट।
पिय कै बाँह उसिसवाँ सुख कै लूट॥"

विधना ने इस दुःख पर भी वियोग दिया। हा! यह वर्षा और यह दुःख! हरिश्चंद्र का तो ऐसा कठिन कलेजा है कि सब सहेगा, पर जिसने सपने में भी दुःख नहीं देखा वह महारानी किस दशा में होगी। हा देवि! धीरज धरो, धीरज धरो! तुमने ऐसे ही

भाग्यहीन मे स्नेह किया है, जिसके साथ सदा दुःख ही दुःख है। (ऊपर देखकर) पानी बरसने लगा। अरे ! (धोती भली भाँति ओढ़कर) हमको तो यह वर्षा और श्मशान दोनों एक ही मे दिखलाई पड़ते हैं। देखो—

चपला की चमक चहूँधा सों लगाई चिता
    चिनगी चिलक पटबीजना चलायो है।
हेनी बगमाल स्याम बादर सु भूमि कारी
    बीरबधू लहूबूँद भुव लपटायो है॥
'हरीचंद' नीर-धार आँसू-सी परत जहाँ
    दादुर को सोर रोर दुखिन मचायो है।
दाहन बियोग दुखियान को मरे हूँ यह
    देखो पापी पावस मसान बनि आयो है॥

(कुछ देर तक चुप रहकर) कौन है ? (खबरदार इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर फिर कर)

इंद्र काल हू सरिस जो आयसु लाँघै कोय।
यह प्रचंड भुजदंड मम प्रति भट ताको होय॥

अरे कोई नहीं बोलता। (कुछ आगे बढ़कर) कौन है ?

(नेपथ्य में)

हम हैं।

हरि०—अरे हमारी बात का यह उत्तर कौन देता है ? चलें, जहाँ से आवाज आई है वहाँ चलकर देखें। (आगे बढ़कर नेपथ्य की ओर देखकर) अरे यह कौन है ?

चिता-भस्म सब अंग लगाए। अस्थि-अभूषन विविध बनाए॥
हाथ कपाल मसान जगावत। को यह चल्यो रुद्र सम आवत॥

(कापालिक के वेष में धर्म* आता है)

धर्म—अरे; हम हैं।

वृत्ति अयाचित आत्म-रति करि जग के सुख त्याग।
फिरहिं मसान मसान हम धारि अनंद बिराग ॥

(आगे बढ़कर महाराज हरिश्चंद्र को देखकर आप ही आप)

हम प्रतच्छ हरि-रूप जगत हमरे बल चालत।
जल-थल-नभ थिर मम प्रभाव मरजाद न टालत ॥
हमहीं नर के मीत सदा साँचे हितकारी।
इक हमहीं सँग जात तजत जब पितु सुत नारी ॥
सो हम नित थित इक सत्य में जाके बल सब जग जियो।
सोइ सत्य-परिच्छन नृपति को आजु भेष हम यह कियो ॥

(कुछ सोचकर) राजर्षि हरिश्चंद्र की दुःख-परंपरा अत्यंत शोचनीय और इनके चरित्र अत्यंत आश्चर्य के हैं। अथवा महात्माओं का यह स्वभाव ही होता है।

सहत बिबिध दुख मरि मिटत, भोगत लाखन सोग।
पै निज सत्य न छाँड़हीं, जे जग साँचे लोग ॥
बरु सूरज पच्छिम उगै, बिंध्य तरै जल माहिं।
सत्यबीर जन पै कबहुँ निज बच टारत नाहिं ॥

अथवा उनके मन इतने बड़े हैं कि दुःख को दुःख सुख को सुख गिनते ही नहीं। चलें उनके पास चलें। (आगे बढ़कर और देखकर) अरे! यही महात्मा हरिश्चंद्र हैं? (प्रगट) महाराज, कल्याण हो।

---

* गेरुए वस्त्र का काछा काछे, गेरुआ कफनी पहिने, सिर के बाल खोले, सेंदुर का अर्द्धचंद्र किए, नंगी तलवार गले में लटकती हुई, एक हाथ में खप्पड़ बलता हुआ, दूसरे हाथ में चिमटा, अंग में भभूत पोते, नशे से आँखें लाल, लाल फूल की माला और हड्डी के आभूषण पहिने।

हरि०—(प्रणाम करके) आइए योगिराज !

धर्म—महाराज, हम अर्थी हैं।

(हरिश्चंद्र लज्जा और विकलता नाट्य करता है)

धर्म—महाराज ! आप लज्जा मत कीजिए। हम लोग योग-बल से सब कुछ जानते हैं। आप इस दशा पर भी हमारा अर्थ पूर्ण करने के लिये बहुत हैं। चंद्रमा राहु से ग्रसा रहता है तब भी दान दिलवाकर भिक्षुकों का कल्याण करता है।

हरि०—हमारे योग्य जो कुछ हो आज्ञा कीजिए।

धर्म—अंजन, गुटिका, पादुका, धातु-भेद, बैताल।
वज्र, रसायन, जोगिनी, मोहि सिद्ध यहि काल*॥

हरि०—तो मुझे जो आज्ञा हो वह करूँ।

धर्म—आज्ञा यही है कि यह सब मुझे सिद्ध हो गए हैं, पर विघ्न इसमें बाधक होते हैं, सो विघ्नों का निवारण कर दीजिए।

हरि०—आप जानते हैं कि मैं पराया दास हूँ इससे जिसमें मेरा धर्म न जाय वह मैं करने को तैयार हूँ।

धर्म—(आप ही) राजन् ! जिस दिन तुम्हारा धर्म जायगा

*अंजनसिद्धि से जमीन में गड़े खजाने देख पड़ते हैं। गुटिका मुँह में रखकर वा पादुका पहिनकर चाहे जहाँ अलक्ष्य चला जाय। धातुभेद से औषध मात्र सिद्ध होती हैं। बैताल बस में होकर यथेच्छ काम देता है। वज्र सिद्ध होने से जहाँ गिराओ वहाँ गिरता है। रसायन सिद्ध होने से चाँदी-सोना बनता है। जोगिनी सिद्ध होने से भूत-भविष्यत् का वृत्तांत कह देती है और सब इच्छा पूर्ण करती है। ये ही आठो सिद्धियाँ है।

उस दिन पृथ्वी किसके बल से ठहरेगी? (प्रत्यक्ष) महाराज! इसमें धर्म न जायगा, क्योंकि स्वामी की आज्ञा तो आप उल्लंघन करते ही नहीं। सिद्धि का आकर इसी श्मशान के निकट ही है और मैं अब पुरश्चरण करने जाता हूँ, आप विघ्नों का निषेध कर दीजिए।

[जाता है

हरि०—(ललकार कर) हटो रे हटो विघ्नो! चारों ओर से तुम्हारा प्रचार हमने रोक दिया।

(नेपथ्य में)

महाराजाधिराज! जो आज्ञा। आपसे सत्य वीर की आज्ञा कौन लाँघ सकता है!

खुल्यो द्वार कल्यान को, सिद्ध जोग तप आज।
निधि सिधि विद्या सब करहिं अपुने मन को काज॥

हरि०—(हर्ष से) बड़े आनंद की बात है कि विघ्नों ने हमारा कहना मान लिया।

(विमान पर बैठी हुई तीनों महाविद्याएँ* आती हैं)

महावि०—महाराज हरिश्चंद्र! बधाई है। हमी लोगों को सिद्ध करने को विश्वामित्र ने बड़ा परिश्रम किया था, तब देवताओं ने माया से आपको स्वप्न में हमारा रोना सुनाकर हमारा प्राण बचाया।

हरि०—(आप ही आप) अरे यही सृष्टि की उत्पन्न, पालन और नाश करनेवाली महाविद्याएँ हैं, जिन्हें विश्वामित्र भी

---

*ब्रह्मा, विष्णु, महेश के वेश में पर स्त्री का शृंगार। खेलने में चित्रपट द्वारा परदे के ऊपर इनको दिखलावेंगे और इनकी ओर से बोलने वाला नेपथ्य में से बोलेगा।

न सिद्ध कर सके। (प्रगट हाथ जोड़कर) त्रिलोक-विजयिनी महाविद्याओं को नमस्कार है।

महावि०—महाराज! हम लोग तो आपके वश में हैं। हमारा ग्रहण कीजिए।

हरि०—देवियो, यदि हम पर प्रसन्न हो तो विश्वामित्र मुनि की वशवर्त्तिनी हो, उन्होंने आप लोगों के वास्ते बड़ा परिश्रम किया है।

महावि०—धन्य महाराज! धन्य! जो आज्ञा। [जाती हैं

(धर्म एक बैताल के सिर पर पिटारा रखवाए हुए आता है)

धर्म—महाराज का कल्याण हो, आपकी कृपा से महानिधान* सिद्ध हुआ। आपको बधाई है। अब लीजिए इस रसेंद्र को।

याही के परभाव सों अमर देव-सम होइ।
जोगी जन विहरहिं सदा मेरु-शिखर भय खोइ॥

हरि०—(प्रणाम करके) महाराज! दासधर्म के यह विरुद्ध है। इस समय स्वामी से कहे बिना मेरा कुछ भी लेना स्वामी को धोखा देना है।

धर्म—(आश्चर्य से आप ही आप) वाह रे महानुभावता! (प्रगट) तो इससे स्वर्ण बनाकर आप अपना दास्य छुड़ा लें।

हरि०—यह ठीक है, पर मैंने तो बिनती की न कि जब मैं दूसरे का दास हो चुका तो इस अवस्था में मुझे जो कुछ मिले सब स्वामी का है। क्योंकि मैं तो देह के साथ

*महानिधान बुभुक्षित धातुभेदी पारा, जिसे बावन तोला पाव रत्ती कहते हैं।

ही अपना स्वत्वमात्र बेच चुका, इससे आप मेरे बदले कृपा करके मेरे स्वामी ही को यह रसेंद्र दीजिए।

धर्म—(आश्चर्य से आप ही आप) धन्य हरिश्चंद्र ! धन्य तुम्हारा धैर्य ! धन्य तुम्हारा विवेक ! और धन्य तुम्हारी महानुभावता ! या—

चलै मेरु बरु प्रलय जल पवन झकोरन पाय।
पै बीरन के मन कबहुँ चलहिं नहीं ललचाय ॥

तो हमें भी इसमें कौन हठ है। (प्रत्यक्ष) बैताल ! जाओ, जो महाराज की आज्ञा है वह करो।

बैताल—जो रावलजी की आज्ञा। [जाता है

धर्म—महाराज ! ब्राह्ममुहूर्त्त निकट आया, अब हमको भी आज्ञा हो।

हरि०—योगिराज ! हमको भूल न जाइएगा, कभी-कभी स्मरण कीजिएगा।

धर्म—महाराज ! बड़े-बड़े देवता आपका स्मरण करते हैं और करेंगे, मैं क्या कहूँ। [जाता है

हरि०—क्या रात बीत गई ! आज तो कोई भी मुरदा नया नहीं आया। रात के साथ ही श्मशान भी शांत हो चला, भगवान् नित्य ही ऐसा करे।

(नेपथ्य में घंटा नूपुरादि का शब्द सुनकर)

अरे ! यह बड़ा कोलाहल कैसा हुआ ?

(विमान पर अष्ट महासिद्धि, नव निधि और बारहों प्रयोग आ देवता* आते हैं)

हरि०—(आश्चर्य से) अरे ये कौन देवता बड़े प्रसन्न होक श्मशान पर एकत्र हो रहे हैं ?

देवता—महाराज हरिश्चन्द्र की जय हो। आपके अनुग्रह हम लोग विघ्नों से छूटकर स्वतंत्र हो गए, अब ह आपके वश में हैं। जो आज्ञा हो, करें। हम लोग अ महासिद्धि, नव निधि और बारह प्रयोग सब आप हाथ में हैं।

हरि०—(प्रणाम करके) यदि हम पर आप लोग प्रसन्न ह तो महासिद्धि योगियों के, निधि सज्जनों के और प्रयो साधकों के पास जाओ।

देवता—(आश्चर्य से) धन्य राजर्षि हरिश्चंद्र ! तुम्हारे बि और ऐसा कौन होगा जो घर आई लक्ष्मी का त्या करे। हमी लोगों की सिद्धि को बड़े-बड़े योगी मुनि प मरते हैं। पर तुमने तृण की भाँति हमारा त्याग कर जगत् का कल्याण किया।

हरि०—आप लोग मेरे सिर आँखों पर हैं पर मैं क्या क क्योंकि मैं पराधीन हूँ। एक बात और भी निवेदन है

---

* साधारण देवी-देवताओं के वेश में। अष्ट महासिद्धि, यथा—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व औ वशित्व। नवनिधि, यथा—पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुंद कुंद, नील और वर्चस्। बारह प्रयोग, यथा—मारण, मोहन, उच्चाटन कीलन, विद्वेषण और कामनाशन—ये छः बुरे और स्तंभन, वशीकरण आकर्षण, बंदीमोचन, कामपूरण और वाक्‌प्रसारण—ये छः अच्छे। ये भी चित्रपट में दिखलाए जायँगे।

वह यह कि कुः अच्छे प्रयोगों की तो हमारे समय में सद्यः-सिद्धि होय पर बुरे प्रयोगों को सिद्धि विलंब से हो।

देवता—महाराज ! जो आज्ञा। हम लोग जाते हैं। आज आपके सत्य ने शिवजी के कीलन* को भी शिथिल कर दिया। महाराज का कल्याण हो। [जाते हैं

(नेपथ्य में इस भाँति मानो राजा हरिश्चंद्र नहीं सुनता)

(एक स्वर से) तो अप्सरा को भेजें। (दूसरे स्वर से) छिः मूर्ख ! जिसको अष्ट सिद्धि नव निधियों ने नहीं डिगाया उसको अप्सरा क्या डिगावेगी ? (एक स्वर से) तो अब अंतिम उपाय किया जाय ? (दूसरे स्वर से) हाँ, तक्षक को आज्ञा दें। अब और कोई उपाय नहीं है !

हरि०—अहा ! अरुण उदय हुआ चाहता है। पूर्व दिशा ने अपना मुँह लाल किया। (साँस लेकर)

"वा चकई को भयो चित चीतो चितोति चहूँ दिसि चाय सों नाँची।
ह्वै गई छीन कलाधर की कला जामिनि जोति मनों जम जाँची॥
बोलत बैरी बिहंगम 'देव' सँजोगिन को भई संपति काँची।
लोहू पियो जो बियोगिन को सो कियो मुख लाल पिशाचिनि प्राची॥"

हा ! प्रिये ! इन बरसात की रातों को तुम रो-रो के बिताती होगी ! हा! वत्स रोहिताश्व, भला हम लोगों ने तो अपना शरीर बेचा तब दास हुए, तुम बिना बिके ही क्यों दास बन गए ?

---

* शिवजी ने साधनमात्र को कील दिया है जिसमें जल्दी न सिद्ध हो। सो राजा हरिश्चंद्र ने विघ्नों को जो रोक दिया इसमें वह कीलन भी शिवजी की इच्छापूर्वक उस समय दूर हो गया था, क्योंकि यह भी तो एक सबमें बड़ा विघ्न था।

जेहि सहसन परिचारिका राखत हाथहिं हाथ।
सो तुम लोटत धूर में दास-बालकन साथ॥
जाको आयसु जग नृपति सुनतहि धारत सीस।
तेहि द्विज-बटु आज्ञा करत, अहह कठिन अति ईस॥
बिनु तन बेचे बिनु दिए, बिनु जग ज्ञान बिवेक।
दैव-सर्प दंशित भए, भोगत कष्ट अनेक॥

(घबड़ाकर) नारायण! नारायण! मेरे मुख से क्या निकल गया! देवता उसकी रक्षा करें। (बाईं आँख का फड़कना दिखाकर) इसी समय में यह महा अपशकुन क्यों हुआ? (दाहिनी भुजा का फड़कना दिखाकर) अरे और साथ ही यह मंगल-शकुन भी! न जाने क्या होनहार है! वा अब क्या होनहार है! जो होना था सो हो चुका। अब इससे बढ़कर और कौन दशा होगी? अब केवल मरणमात्र बाकी है। इच्छा तो यही है कि सत्य छूटने और दीन होने के पहले ही शरीर छूटे, क्योंकि इस दुष्ट चित्त का क्या ठिकाना है, पर वश क्या है?

(नेपथ्य में)

पुत्र हरिश्चंद्र! सावधान। यही अंतिम परीक्षा है। तुम्हारे पुरुषा इक्ष्वाकु से लेकर त्रिशंकु पर्य्यंत आकाश में नेत्र भरे खड़े एकटक तुम्हारा मुख देख रहे हैं। आज तक इस वंश में ऐसा कठिन दुःख किसी को नहीं हुआ था। ऐसा न हो कि इनका सिर नीचा हो। अपने धैर्य का स्मरण करो।

हरि०—(घबड़ाकर ऊपर देखकर) अरे यह कौन है? कुल-गुरु भगवान् सूर्य अपना तेज समेटे मुझे अनुशासन कर रहे हैं। (ऊपर देखकर) पितः, मैं सावधान हूँ। सब दुःखों को फूल की माला की भाँति ग्रहण करूँगा।

(नेपथ्य में रोने की आवाज सुन पड़ती है)

हरि०—अरे अब सबेरा होने के समय मुरदा आया ! अथवा चांडाल कुल का सदा कल्याण हो, हमें इससे क्या ?

(खबरदार इत्यादि कहता हुआ फिरता है।)

(नेपथ्य में)

हाय ! कैसी भई ! हाय बेटा ! हमें रोती छोड़ के कहाँ चले गए ! हाय-हाय रे !

हरि०—अहह ! किसी दीन स्त्री का शब्द है, और शोक भी इसको पुत्र का है। हाय हाय हमको भी भाग्य ने क्या ही निर्दय और बीभत्स कर्म सौंपा है ! इससे भी वस्त्र माँगना पड़ेगा।

(रोती हुई शैव्या रोहिताश्व का मुरदा लिए आती है)

शैव्या—(रोती हुई) हाय बेटा ! जब बाप ने छोड़ दिया, तब तुम भी छोड़ चले ! हाय ! हमारी विपत और बुढ़ौती की ओर भी तुमने न देखा ! हाय ! हाय रे ! अब हमारी कौन गति होगी ! (रोती है)

हरि०—हाय-हाय ! इसके पति ने भी इसको छोड़ दिया है। हा ! इस तपस्विनी को निष्करुण विधि ने बड़ा ही दुःख दिया है।

शैव्या—(रोती हुई) हाय बेटा ! अरे आज मुझे किसने लूट लिया ! हाय मेरी बोलती चिड़िया कहाँ उड़ गई ! हाय, अब मैं किसका मुँह देख के जीऊँगी ! हाय, मेरी अंधी की लकड़ी कौन छीन ले गया ! हाय, मेरा ऐसा सुंदर खिलौना किसने तोड़ डाला ! अरे बेटा, तैं तो मरे पर भी सुंदर लगता है ! हाय रे ! अरे बोलता क्यों नहीं ! बेटा जल्दी बोल, देख, मा कब की पुकार रही है ! बच्चा

तू तो एक ही दफे पुकारने में दौड़ कर गले से लपट जाता था, क्यों नहीं बोलता ? (शव को बार-बार गले लगाती, देखती और चूमती है)

हरि०—हाय-हाय ! इस दुखिया के पास तो खड़ा नहीं हुआ जाता।

शैव्या—(पागल की भाँति) अरे यह क्या हो रहा है ? बेटा, कहाँ गये हो ? आओ जल्दी। अरे अकेले इस मसान में मुझे डर लगता है, यहाँ मुझको कौन ले आया है रे ? बेटा। जल्दी आओ ! अरे क्या कहते हो, मैं गुरु को फूल लेने गया था, वहाँ काले साँप ने मुझे काट लिया। हाय ! हाय रे !! अरे कहाँ काट लिया ? अरे कोई दौड़ के किसी गुनी को बुलाओ जो जिलावे बच्चे को। अरे वह साँप कहाँ गया, हमको क्यों नहीं काटता ? काट रे काट, क्या उस सुकुँआर बच्चे ही पर बल दिखाना था ? हमें काट। हाय ! हमको नहीं काटता। अरे यहाँ तो कोई साँप-बाँप नहीं है। मेरे लाल झूठ बोलना कब से सीखे ? हाय-हाय ! मैं इतना पुकारती हूँ और तुम खेलना नहीं छोड़ते ? बेटा, गुरुजी पुकार रहे हैं, उनके होम की बेला निकली जाती है। देखो, बड़ी देर से वह तुम्हारे आसरे बैठे हैं। दो जल्दी उनको दूब और बेलपत्र। हाय ! हमने इतना पुकारा, तुम कुछ नहीं बोलते ! (जोर से) बेटा, साँझ भई, सब विद्यार्थी लोग घर फिर आए; तुम अब तक क्यों नहीं आए ? (आगे शव देखकर) हाय-हाय रे ! अरे मेरे लाल को साँप ने सचमुच डस लिया ! हाय लाल ! हाय रे ! मेरे आँखों के उजियाले को कौन ले गया ! हाय मेरा बोलता

हुआ सुग्गा कहाँ उड़ गया! बेटा! अभी तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया! हाय मेरा बसा घर आज किसने उजाड़ दिया! हाय मेरी कोख में किसने आग लगा दी! हाय, मेरा कलेजा किसने निकाल लिया! (चिल्ला-चिल्लाकर रोती है) हाय, लाल कहाँ गये? अरे! अब मैं किसका मुँह देखके जिऊँगी रे? हाय! अब मा कहके मुझको कौन पुकारेगा? अरे आज किस बैरी की छाती ठंढी भई रे? अरे, तेरे सुकुँआर अंगों पर भी काल को तनिक दया न आई! अरे बेटा! आँख खोलो। हाय! मैं सब बिपत तुम्हारा ही मुँह देख कर सहती थी, सो अब कैसे जीती रहूँगी। अरे लाल! एक बेर तो बोलो! (रोती है)

हरि०—न जाने क्यों इसके रोने पर मेरा कलेजा फटा जाता है।

शैव्या—(रोती हुई) हा नाथ! अरे अपने गोद के खेलाए बच्चे की यह दशा क्यों नहीं देखते? हाय! अरे तुमने तो इसको हमें सौंपा था कि इसे अच्छी तरह पालना, सो हमने इसकी यह दशा कर दी। हाय! अरे ऐसे समय में भी आकर नहीं सहाय होते! भला एक बार लड़के का मुँह तो देख जाओ! अरे मैं अब किसके भरोसे जीऊँगी!

हरि०—हाय-हाय! इसकी बातों से तो प्राण मुँह को चले आते हैं और मालूम होता है कि संसार उलटा जाता है। यहाँ से हट चलें। (कुछ दूर हट कर उसकी ओर देखता खड़ा हो जाता है)

शैव्या—(रोती हुई) हाय! यह बिपत का समुद्र कहाँ से उमड़ पड़ा। अरे छलिया मुझे छल कर कहाँ भाग गया! (देखकर) अरे आयुष की रेखा तो इतनी लंबी है,

फिर अभी से यह वज्र कहाँ से टूट पड़ा। अरे ऐसा सुंदर मुँह, बड़ी-बड़ी आँख, लंबी-लंबी भुजा, चौड़ी छाती, गुलाब सा रंग! हाय, मरने के तुझमें कौन लच्छन थे जो भगवान् ने तुझे मार डाला! हाय लाल! अरे, बड़े-बड़े जोतसी गुनी, लोग तो कहते थे कि तुम्हारा बेटा बड़ा प्रतापी चक्रवर्ती राजा होगा, बहुत दिन जिएगा सो सब झूठ निकला! हाय! पोथी, पत्रा, पूजा, पाठ, दान, जप, होम कुछ भी काम न आया! हाय! तुम्हारे बाप का कठिन पुण्य भी तुम्हारा सहाय न हुआ और तुम चल बसे! हाय!

हरि०—अरे! इन बातों से तो मुझे बड़ी शंका होती है! (शव को ली भाँति देखकर) अरे! इस लड़के में तो सब लच्छण चक्रवर्ती के से दिखाई पड़ते हैं! हाय न-जाने किस बड़े कुल का दीपक आज इसने बुझाया है, और न जाने किस नगर को आज इसने अनाथ किया है। हाय! रोहिताश्व भी इतना बड़ा हुआ होगा। (बड़े सोच से) हाय! हाय! मेरे मुँह से क्या अमंगल निकल गया! नारायण! (सोचता है)

शैव्या—भगवन् विश्वामित्र! आज तुम्हारे सब मनोरथ पूरे हुए! हाय!

हरि०—(घबराकर) हाय-हाय! यह क्या? (भली भाँति देखकर रोता हुआ) हाय! अब तक मैं संदेह ही में पड़ा हूँ! अरे! मेरी आँखें कहाँ गई थीं, जिनने अब तक पुत्र रोहिताश्व को न पहिचाना, और कान कहाँ गए थे जिनने अब तक महारानी की बोली न सुनी! हा पुत्र! हा लाल! हा सूर्यवंश के अंकुर! हा हरिश्चंद्र की विपत्ति के एक-

मात्र अवलंब ! हाय ! तुम ऐसे कठिन समय में दुखिया मा को छोड़कर कहाँ गए ? अरे ! तुम्हारे कोमल अंगों को क्या होगया ? तुमने क्या खेला, क्या खाया, क्या सुख भोगा कि अभी से चल बसे ! पुत्र ! स्वर्ग ऐसा ही प्यारा था तो मुझसे कहते, मैं अपने बाहुबल से तुमको इसी शरीर से स्वर्ग पहुँचा देता। अथवा अब इस अभिमान से क्या ? भगवान् इस अभिमान का फल यह सब दे रहा है। हाय पुत्र ! (रोता है)

आह ! मुझसे बढ़ कर और कौन मंदभाग्य होगा ! राज्य गया, धन-जन-कुटुंब सब छूटा, उस पर भी यह दारुण पुत्रशोक उपस्थित हुआ। भला अब मैं रानी को क्या मुँह दिखाऊँ ? निस्संदेह मुझसे अधिक अभागा और कौन होगा ? न-जाने हमारे किस जन्म के पाप उदय हुए हैं ! जो कुछ हमने आज तक किया, वह यदि पुण्य होता तो हमें यह दुःख न झेलना पड़ता। हमारा धर्म का अभिमान सब झूठा था, क्योंकि कलियुग नहीं है कि अच्छा करते बुरा फल मिले। निस्संदेह मैं महा-अभागा और बड़ा पापी हूँ। (रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है और नेपथ्य में शब्द होता है) क्या प्रलयकाल आ गया ! नहीं, यह बड़ा भारी असगुन हुआ है, इसका फल कुछ अच्छा नहीं; वा अब बुरा होना ही क्या बाकी रह गया है जो होगा ! हा ! न जाने किस अपराध से दैव इतना रूठा है। (रोता है) हा, सूर्य्य-कुल-आल-बाल-प्रवाल ! हा हरिश्चंद्र-हृदयानंद ! हा शैव्या-वलंब ! हा वत्स रोहिताश्व ! हा मातृ-पितृ-विपत्ति-सहचर ! तुम हम लोगों को इस दशा में छोड़कर कहाँ गए ! आज हम सचमुच चांडाल हुए। लोग कहेंगे कि इसने न-जाने

कौन दुष्कर्म किया था कि पुत्रशोक देखा। हाय! हम संसार को क्या मुँह दिखावेंगे! (रोता है) वा संसार में इस बात के प्रगट होने के पहले ही हम भी प्राणत्याग करें? हा निर्लज्ज प्राण! तुम अब भी क्यों नहीं निकलते? हा वज्र-हृदय! इतने पर भी तू क्यों नहीं फटता? अरे नेत्रो! अब और क्या देखना बाकी है कि तुम अब तक खुले हो? या इस व्यर्थ प्रलाप का फल ही क्या है, समय बीता जाता है। इसके पूर्व कि किसी से सामना हो, प्राणत्याग करना ही उत्तम बात है। (पेड़ के पास जाकर फाँसी देने के योग्य डाल खोजकर उससे दुपट्टा बाँधता है) धर्म! मैंने अपने जान सब अच्छा ही किया, परंतु न-जाने किस कारण मेरा सब आचरण तुम्हारे विरुद्ध पड़ा सो मुझे क्षमा करना! (दुपट्टे की फाँसी गले में लगाना चाहता है कि एक साथ चौंक कर) गोविंद! गोविंद! यह मैंने क्या अनर्थ अधर्म विचारा! भला मुझ दास को अपने शरीर पर क्या अधिकार था कि मैंने प्राण-त्याग करना चाहा! भगवान् सूर्य इसी क्षण के हेतु अनुशासन करते थे। नारायण नारायण! इस इच्छा-कृत मानसिक पाप से कैसे उद्धार होगा? हे सर्वांतर्यामी जगदीश्वर! क्षमा करना। दुःख से मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। अब तो मैं चांडाल कुल का दास हूँ। न अब शैव्या मेरी स्त्री है और न रोहिताश्व मेरा पुत्र! चलूँ, अपने स्वामी के काम पर सावधान हो जाऊँ, वा देखूँ, अब दुःखिनी शैव्या क्या करती है! (शैव्या के पीछे जाकर खड़ा होता है)

शैव्या—(पहले की तरह बहुत रोकर) हाय! अब मैं क्या करूँ! अब मैं किसका मुँह देखकर संसार में जीऊँगी! हाय!

मैं आज से निपूती भई! पुत्रवती स्त्रियाँ अपने बालकों पर अब मेरी छाया न पड़ने देंगी! हा! नित्य सबेरे उठाकर अब मैं किसको चिंता करूँगी। खाने के समय मेरी गोद में बैठकर और मुझसे माँग-माँगकर अब कौन खायगा। मैं परोसी थाली सूनी देख कर कैसे आगा रखूँगी! (रोती है) हाय! खेलते-खेलते आकर मेरे गले में कौन लपट जायगा और मा-मा कहकर तनक-तनक बातों पर कौन हठ करेगा! हाय! मैं अब किसको अपने आँचल से मुँह की धूल पोंछकर गले लगाऊँगी और किसके अभिमान से विपत्ति में भी फूली-फूली फिरूँगी! (रोती है) या जब रोहिताश्व ही नहीं तो मैं ही जीके क्या करूँगी! (छाती पीटकर) हाय प्राण! तुम अब भी क्यों नहीं निकलते? हाय! मैं ऐसी स्वारथी हूँ कि आत्महत्या के नरक के भय से अब भी अपने को नहीं मार डालती! नहीं-नहीं, अब मैं न जीऊँगी। या तो इस पेड़ में फाँसी लगाकर मर जाऊँगी या गंगा में कूद पड़ूँगी। (उन्मत्ता की भाँति उठकर दौड़ना चाहती है)

हरि०—(आड़ में से)

तनहिं बेचि दासी कहवाई।
मरत स्वामि-आयसु बिनु पाई॥
करु न अधर्म सोच जिय माहीं।
"पराधीन सपने सुख नाहीं"॥

शैब्या—(चौकन्नी होकर) अहा! यह किसने इस कठिन समय में धर्म का उपदेश किया। सच है, मैं अब इस देह की कौन हूँ जो मर सकूँ! हाय दैव! तुझसे यह भी न देखा

गया कि मैं मर कर भी सुख पाऊँ ! (कुछ धीरज धरकर) तो त्यूँ छाती पर वज्र धरके अब लोकरीति करूँ । (रोती और लकड़ी चुनकर चिता बनाती हुई) हाय ! जिन हाथों से ठोंक ठोंक कर रोज सुलाती थी, उन्हीं हाथों से आज चिता पर कैसे रखूँगी, जिसके मुँह में छाला पड़ने के भय से कभी मैंने गरम दूध भी नहीं पिलाया उसे—(बहुत ही रोती है)

हरि०—धन्य देवी. आखिर तो चंद्र-सूर्यकुल की स्त्री हो, तुम न धीरज धरोगी तो कौन धरेगा ।

(शैव्या चिता बनाकर पुत्र के पास आकर उठाना चाहती और रोती है)

हरि०—तो अब चलें उससे आधा कफन मांगें । (आगे बढ़कर और बलपूर्वक आँसुओं को रोक कर शैव्या से) महाभागे ! श्मशानपति की आज्ञा है कि आधा कफन दिए बिना कोई मुरदा फूँकने न पावे सो तुम भी पहले हमें कपड़ा दे लो तब क्रिया करो । (कफन माँगने को हाथ फैलाता है, आकाश से पुष्पवृष्टि होती है)

(नेपथ्य में)

अहो धैर्य्यमहो सत्यमहो दानमहो बलम् ।
त्वया राजन् हरिश्चंद्र सर्व्वं लोकात्तरं कृतम् ॥

(दोनों आश्चर्य से ऊपर देखते हैं)

शैव्या—हाय ! इस कुसमय में आर्यपुत्र की यह कौन स्तुति करता है ! वा इस स्तुति ही से क्या है, शास्त्र सब असत्य हैं, नहीं तो आर्यपुत्र से धर्मी की यह गति हो ! यह केवल देवताओं और ब्राह्मणों का पाखंड है ।

हरि०—(दोनों कानों पर हाथ रखकर) नारायण ! नारायण ! महाभागे ! ऐसा मत कहो । शास्त्र, ब्राह्मण और देवता

त्रिकाल में सत्य है। ऐसा कहोगे तो प्रायश्चित्त होगा। अपना धर्म विचारो। लाओ मृतकम्बल हमें दो और अपना काम आरंभ करो। (हाथ फैलाता है)

शैव्या—(महाराज हरिश्चद्र के हाथ में चक्रवर्ती का चिह्न देखकर और कुछ स्वर कुछ आकृति से अपने पति को पहचान कर) हा आर्यपुत्र ! इतने दिन तक कहाँ छिपे थे ? देखो अपने गोद के खेलाए दुलारे पुत्र की दशा। तुम्हारा प्यारा रोहिताश्व देखो अब अनाथ की भाँति मसान में पड़ा है। (रोती है)

हरि०—प्रिये ! धीरज धरो, यह रोने का समय नहीं है। देखो सबेरा हुआ चाहता है, ऐसा न हो कि कोई आ जाय और हम लोगों को जान ले, और एक लज्जामात्र वस्त्र गई है वह भी जाय। चलो कलेजे पर सिल रख कर अब रोहिताश्व की क्रिया करो और आधा कंबल हमको दो।

शैव्या—(रोती हुई) नाथ ! मेरे पास तो एक भी कपड़ा नहीं था, अपना आँचल फाड़कर इसे लपेट लाई हूँ, उसमें से भी जो आधा दे दूँगी तो यह खुला रह जायगा ! हाय ! चक्रवर्ती के पुत्र को आज कफन नहीं मिलता ! (बहुत रोती है)

हरि०—(बलपूर्वक आँसुओं को रोककर और बहुत धीरज धरकर) प्यारी ! रो मत। ऐसे समय में तो धीरज और धरम रखना काम है। मैं जिसका दास हूँ उसकी आज्ञा है कि बिना आधा कफन लिए क्रिया मत करने दो। इसमें मैं यदि अपनी स्त्री और अपना पुत्र समझकर तुमसे इसका आधा कफन न लूँ तो बड़ा अधम हो। जिस हरिश्चंद्र ने उदय से अस्त तक की पृथ्वी के लिये धर्म न छोड़ा उसका धर्म आधा गज कपड़े के वास्ते मत छुड़ाओ और कफन से

जल्दी आधा कपड़ा फाड़ दो। देखो, सबेरा हुआ चाहता है, ऐसा न हो कि कुलगुरु भगवान् सूर्य अपने वंश की यह दुर्दशा देखकर चित्त में उदास हों। (हाथ फैलाता है)

शैव्या—(रोती हुई) नाथ ! जो आज्ञा।

(रोहिताश्व का मृतकंबल फाड़ा चाहती है कि रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है, तोप छूटने का सा बड़ा शब्द और बिजली का सा उजाला होता है। नेपथ्य में बाजे की और बस धन्य और जय जय की ध्वनि होती है, फूल बरसते हैं और भगवान नारायण प्रगट हो कर राजा हरिश्चंद्र का हाथ पकड़ लेते हैं)

भग०—बस महाराज बस ! धर्म और सत्य सबकी परमावधि हो गई। देखो, तुम्हारे पुण्य-भय से पृथ्वी बारंबार काँपती है, अब त्रैलोक्य की रक्षा करो। (नेत्रों से आँसू बहते हैं)

हरि०—(साष्टांग दंडवत् करके रोता हुआ गद्‌गद् स्वर से) भगवन् ! मेरे वास्ते आपने परिश्रम किया ! कहाँ यह श्मशान-भूमि कहाँ यह मर्त्यलोक, कहाँ मेरा मनुष्य शरीर और कहाँ पूर्ण परब्रह्म सच्चिदानंदघन साक्षात् आप ! (प्रेम के आँसुओं से और गद्‌गद् कंठ होने से कुछ कहा नहीं जाता)

भग०—(शैव्या से) पुत्री ! अब सोच मत कर। धन्य तेरा सौभाग्य कि तुझे राजर्षि हरिश्चंद्र ऐसा पति मिला है। (रोहिताश्व की ओर देखकर) वत्स रोहिताश्व ! उठो। देखो, तुम्हारे माता-पिता देर से तुम्हारे मिलने को व्याकुल हो रहे हैं।

(रोहिताश्व उठ खड़ा होता है आश्चर्य से भगवान् को प्रणाम करके माता पिता का मुँह देखने लगता है, आकाश से फिर पुष्पवृष्टि होती है। हरिश्चन्द्र और शैव्या आश्चर्य, आनन्द, करुणा और प्रेम से कुछ कह नहीं सकते। आँखों

से आँसू बहते हैं और एकटक भगवान् के मुखारविंद की ओर देखते हैं। श्रीमहादेव, पार्वती, भैरव, धर्म, सत्य, इंद्र और विश्वामित्र आते हैं)*

सब—धन्य महाराज हरिश्चंद्र धन्य ! जो आपने किया सो किसी ने न किया, न करेगा।

(राजा हरिश्चन्द्र, शैव्या और रोहिताश्व सब को प्रणाम करते हैं)

विश्वा०—महाराज ! यह केवल चंद्र-सूर्य तक आपकी कीर्ति स्थिर रखने के हेतु मैंने छल किया था, सो क्षमा कीजिए और अपना राज्य लीजिए।

(हरिश्चंद्र भगवान् और धर्म का मुँह देखते हैं)

धर्म—महाराज ! राज्य आपका है, इसका मैं साक्षी हूँ, आप निस्संदेह लीजिए।

सत्य—ठीक है, जिसने हमारा अस्तित्व संसार में प्रत्यक्ष कर दिखाया उसी का पृथ्वी का राज्य है।

श्रीमहादेव—पुत्र हरिश्चन्द्र ! भगवान् नारायण के अनुग्रह से ब्रह्मलोक-पर्यंत तुमने पाया, तथापि मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी कीर्ति जब तक पृथ्वी है तब तक स्थिर रहे और रोहिताश्व दीर्घायु, प्रतापी और चक्रवर्त्ती हो।

पार्वती—पुत्री शैव्या ! तुम्हारे पति के साथ तुम्हारी कीर्त्ति स्वर्ग की स्त्रियाँ गावें। तुम्हारी पुत्रवधू सौभाग्यवती हो और लक्ष्मी तुम्हारे घर का कभी त्याग न करें।

(हरिश्चंद्र और शैव्या प्रणाम करते हैं)

---

*श्रीमहादेव, पार्वती और भैरव का ध्यान सबको विदित है। इंद्र और विश्वामित्र का लिख चुके हैं। धर्म चतुर्भुज, श्याम रंग, पीतांबर, दंड पत्र और कमल हाथ में। सत्य शुक्ल वर्ण, श्वेत वस्त्राभरण, नारायण के चारों शस्त्र हाथ में।

भैरव—और जो तुम्हारी कीर्ति कहे-सुने और उसका अनुसरण करे उसको भैरवी यातना न हो।

इंद्र—(राजा को आलिंगन करके और हाथ जोड़ के) महाराज! मुझे क्षमा कीजिए। यह सब मेरी दुष्टता थी। परन्तु इस बात में आपका तो कल्याण ही हुआ; स्वर्ग कौन कहे, आपने अपने सत्यबल से ब्रह्मपद पाया। देखिए, आपकी रक्षा के हेतु श्रीशिव जी ने भैरवनाथ को आज्ञा दी थी, आप उपाध्याय बने थे, नारदजी बटु बने थे, साक्षात् धर्म ने आपके हेतु चांडाल और कापालिक का वेष लिया, और सत्य ने आप ही के कारण चांडाल के अनुचर और बैताल का रूप धारण किया। न आप बिके न दास हुए, यह सब चरित्र भगवान् नारायण की इच्छा से केवल आप के सुयश के हेतु किया गया।

हरि०—(गद्गद् स्वर से) अपने दासों का यश बढ़ाने वाला और कौन है?

भग०—महाराज! और भी जो इच्छा हो, माँगो।

हरि०—(प्रणाम करके गद्गद् स्वर से) प्रभु! आपके दर्शन से सब इच्छा पूर्ण हो गई, तथापि आपके आज्ञानुसार यह वर माँगता हूँ कि मेरी प्रजा भी मेरे साथ बैकुंठ जाय और सत्य सदा पृथ्वी पर स्थिर रहे।

भग०—एवमस्तु, तुम ऐसे ही पुण्यात्मा हो कि तुम्हारे कारण अयोध्या के कीट-पतंग जीव-मात्र सब परमधाम जायँगे, और कलियुग में धर्म के सब चरण टूट जायँगे, तब भी वह तुम्हारे इच्छानुसार सत्य-मात्र एक पद से स्थित रहेगा। इतना ही देकर मुझे संतोष नहीं हुआ। कुछ और भी माँगो। मैं तुम्हें क्या-क्या दूँ? क्योंकि मैं तो अपने ही को

तुम्हें दे चुका। तथापि मेरी इच्छा यही है कि तुमको और कुछ वर दूँ। तुम्हें वर देने में मुझे संतोष नहीं होता।

हरि०—(हाथ जोड़कर) भगवान्! मुझे अब कौन इच्छा है? मैं और क्या वर माँगू? तथापि भरत का यह वाक्य सुफल हो।

खलगनन सों सज्जन दुखी मत होइँ हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटैं, सत्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होहिं, सब जग सुख लहै।
तजि ग्रामकविता सुकविजन की अमृतबानी सब कहै॥

(पुष्पवृष्टि और बाजे की ध्वनि के साथ जवनिका गिरती है)

प्रेमजोगिनी

नाटिका

संवत् १९३२

बैठ कर सैर मुल्क की करना।
यह तमाशा किताब में देखा ॥

प्रेमजोगिनी

नाटिका

—:o:—

(नांदी पाठ)

भरित नेह नव नीर नित बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ लखि नाचत मन मोर ॥

और भी—

जिन तृन सम किय जानि जिय कठिन जगत-जंजाल ॥
जयतु सदा सो ग्रंथ कवि प्रेमजोगिनी बाल ॥

(मलिन मुख किए सूत्रधार और पारिपार्श्वक आते हैं)

सूत्र०—(नेत्र से आँसू पोंछ और ठंढी साँस भरकर) हा! कैसे ईश्वर पर विश्वास आवे!

पारि०—मित्र, आज तुम्हें क्या हो गया है और क्या बकते हो और इतने उदास क्यों हो!

(सूत्रधार के नेत्र से जल की धारा बहती है और रोकने से भी नहीं रुकती।)

पारि०—(अपने गले से सूत्रधार को लगाकर और आँसू पोंछकर) मित्र, आज तुम्हें हो क्या गया है? यह क्या सूझी है! क्या आज लोगों को यही तमाशा दिखाओगे?

सूत्र०—हो क्या गया है? क्या मैं झूठ कहता हूँ? इससे बढ़कर और दुःख का विषय क्या होगा कि मेरा आज इस जगत् के कर्त्ता और प्रभु पर से विश्वास उठा जाता है और सच है क्यों न उठे, यदि कोई हो तब न न उठे। हा! क्या ईश्वर है तो उसके यही काम हैं जो संसार में हो रहे हैं? क्या उसकी इच्छा के बिना भी कुछ होता है? क्या लोग दीनबन्धु दयासिंधु उसको नहीं कहते? क्या माता-पिता के सामने पुत्र को, स्त्री के सामने पति को और बंधुओं के सामने बन्धुओं की मृत्यु उसकी इच्छा बिना ही होती है? क्या सज्जन लोग विद्यादि सुगुण से अलंकृत होकर भी उसकी इच्छा बिना ही दुखी होते हैं और दुष्ट मूर्खों के अपमान सहते हैं? केवल प्राणमात्र नहीं त्याग करते, पर उनकी सब गति हो जाती है। क्या इस कमल-वन-रूप भारतभूमि को दुष्ट गजों ने उसकी इच्छा बिना ही छिन्न-भिन्न कर दिया? क्या जब नादिर-चंगेजखाँ ऐसे निर्दयों ने लाखों निर्दोषी जीव मार डाले तब वह सोता था? क्या अब भारतखंड के लोग ऐसे कापुरुष और दीन उसकी इच्छा के बिना ही हो गये? हा! (आँसू बहते हैं) लोग कहते हैं कि यह उसके खेल हैं। छिः! ऐसे निर्दय को भी लोग दयासमुद्र किस मुँह से पुकारते हैं?

पारि०—इतना क्रोध एक साथ मत करो। यह संसार तो

दुःखरूप आप ही हैं, इसमें सुख का तो केवल आभास-मात्र है।

सूत्र०—आभास-मात्र है—तो फिर किसने यह बखेड़ा बनाने और पचड़ा फैलाने को कहा था? उस पर भी न्याय करने और कृपालु बनने का दावा! (आँख भर आती है)

पारि०—आज क्या है? किस बात पर इतना क्रोध किया है? भला यहाँ ईश्वर का निर्णय करने आए हो कि नाटक खेलने आए हो?

सूत्र०—क्या नाटक खेलें, क्या न खेलें, लो इसी खेल ही में देखो। क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परमबन्धु, पिता-मित्र-पुत्र सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एकमात्र मूर्त्ति, सत्य का एकमात्र आश्रय, सौजन्य का एकमात्र पात्र, भारत का एकमात्र हित, हिंदी का एकमात्र जनक, भाषा नाटकों का एकमात्र जीवनदाता, हरिश्चन्द्र ही दुखी हो! (नेत्र में जल भरकर)—हा सज्जनशिरोमणि! कुछ चिंता नहीं, तेरा तो बाना है कि 'कितना भी दुःख हो उसे सुख ही मानना'। लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्त्ति तक का परित्याग कर दिया है और जगत् से विपरीत गति चलके तूने प्रेम का टकसाल खड़ी की है। क्या हुआ जो निर्दय ईश्वर तुझे प्रत्यक्ष आकर अपने अंक में रखकर आदर नहीं देता और खल लोग तेरी नित्य एक नई निंदा करते हैं और तू संसारी वैभव से सूचित नहीं है; तुझे इससे क्या, प्रेमी लोग जो तेरे और तू जिन्हें सरबस है वे जब जहाँ उत्पन्न होंगे तेरे नाम को आदर से लेंगे

और तेरी रहन-सहन को अपनी जीवनपद्धति समझेंगे। (नेत्रों से आँसू गिरते हैं) मित्र, तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो; तुम्हें इनकी निंदा से क्या? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो? स्मरण रक्खो ये कीड़े ही रहेंगे और तुम लोकबहिष्कृत होकर भी इनके सिर पर पैर रखके विहार करोगे। क्या तुम अपना वह कवित्त भूल गए—"कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि-भरि पाछे प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी।" मित्र मैं जानता हूँ कि तुम पर सब आरोप व्यर्थ है; हा! बड़ा विपरीत समय है। (नेत्र से आँसू बहते हैं)

पारि०—मित्र, जो तुम कहते हो सो सब सत्य है, पर काल भी तो बड़ा प्रबल है, कालानुसार कर्म किए बिना भी तो काम नहीं चलता।

सूत्र०—हाँ, न चले तो हम लोग काल के अनुसार चलेंगे, कुछ वह लोकोत्तर-चरित्र थोड़े ही काल के अनुसार चलेगा!!

पारि०—पर उसका परिणाम क्या होगा?

सूत्र०—क्या कोई परिणाम होना अभी बाकी है? हो चुका जो होना था।

पारि०—तो फिर आज जो ये लोग आए हैं सो यही सुनने आए हैं?

सूत्र०—तो ये सब सभासद तो उसके मित्रवर्गों में हैं और जो

मित्रवर्गों में नहीं हैं उनका जी भी तो उसी की बातों में लगता है। ये क्यों न इन बातों को आनन्दपूर्वक सुनेंगे ?

पारि०—परन्तु मित्र बातों ही से तो काम न चलेगा न! देखो ये हिन्दी भाषा में नाटक देखने की इच्छा से आए हैं, इन्हें कोई खेल दिखाओ।

सूत्र०—आज मेरा चित्त तो उन्हीं के चरित्र में मगन है। आज मुझे और कुछ नहीं अच्छा लगता।

पारि०—तो उनके चरित्र के अनुरूप ही कोई नाटक करो।

सूत्र०—ऐसा कौन नाटक है ? यों तो सभी नायकों के चरित्र किसी-किसी विषय में उनसे मिलते हैं, पर आनुपूर्वी चरित्र कैसे मिलेगा ?

पारि०—मित्र ! मृच्छकटिक हिन्दी में खेलो, क्योंकि उसके नायक चारुदत्त का चरित्रमात्र उनसे सब मिलता है, केवल वसंत-सेना और राजा की हानि है।

सूत्र०—तो फिर भी आनुपूर्वी न हुआ और पुराने नाटक खेलने में इनका जी भी न लगेगा, कोई नया खेलें।

पारि०—(स्मरण करके) हाँ हाँ, वह नाटक खेलो जो तुम उस दिन उद्यान में उनसे सुनते थे। वह उनके और इस घोर काल के बड़ा ही अनुरूप है। उसके खेलने से लोगों को वर्त्तमान समय का ठीक नमूना दिखाई पड़ेगा और वह नाटक भी नई-पुरानी दोनों रीति मिलके बना है।

सूत्र०—हाँ हाँ प्रेमजोगिनी—अच्छी सुरत पड़ी—तो चलो योंही सही, इसी बहाने उनका स्मरण करें।

पारि०—चलो। [दोनों जाते हैं

(आधी जवनिका गिरती है)

———

पहिला अंक

पहिला गर्भांक

स्थान—मंदिर का चौक

(झपटिया इधर-उधर घूम रहा है)

झपटिया—आज अभी तक कोई दरसनो-परसनी नाहीं आए और कहाँ तक अभहिंन तक मिसरो नहीं आए, अभहीं तक नींद न खुली होइहै । खुलै कहाँ से ? आधी रात तक बाबू किहाँ बैठ के हो-हा ठो-ठो करा चाहैं, फिर सबेरे नींद कैसे खुलै ।

(दोहर माथे में लपेटे आँखें मलते मिश्र आते हैं—देखकर)

झप०—का हो मिसिरजी, तोरी नींद नाहीं खुलती ! देखो शंखनाद होय गवा, मुखियाजी खोजत रहे ।

मिश्र—चले तो आईथे, अधियै रात के शंखनाद होय तो हम का करैं ! तोरे तरह से हमहू के घर में से निकस के मंदिर में घुस आवना होता तो हमहू जल्दी अउते । हियाँ तो दारा-नगर से आवना पड़त है । अबहीं सुरजो नाहीं उगे ।

झप०—भाई, सेवा बड़ी कठिन है, लोहे का चना चबावे के पड़थै, फोकटै थोरे होथो ।

मिश्र—भवा चलो अपना काम देखो । (बैठ गया)

(स्नान किए तिलक लगाए दो गुजराती आते हैं)

प० गुज०—मिसिरजी, जय श्रीकृष्ण । कहो का समय है ?

मिश्र—अच्छी समय है, मंगला को आधी समय है। बैठो।

प० गुज०—अच्छा मथुरादासजी बैसी जाओ। (बैठते हैं)

(धोती पहिने एक धोती ओढ़े छक्कूजी आते हैं और उसी वेष से माखनदास भी आए)

छक्कूजी—(माखनदास की ओर देखकर) काहो ! माखनदास पहर आवो।

माखन०—(आगे बढ़कर हाथ जोड़ कर) जै श्रीकृष्ण साहब।

छक्कूजी—जै श्रीकृष्ण, बैठो। कहो आजकल बाबू रामचंद का क्या हाल है ?

माखन०—हाल जौन है तौन आप जनतै हौ, दिन दूना रात चौगुना। अभईं कलहीं हम ओ रस्ते रात के आवत रहे तो तबला ठनकत रहा। बस रात-दिन हा-हा ठी-ठी, बहुत भवा दुइ-चार कवित्त बनाय लिहिन बस होय चुका।

छक्कूजी—अरे कवित्त तो इनके बापौ बनावत रहे। कवित्त बनावै से का होथै और कवित्त बनावना कुछ अपने लोगन का काम थोरै हय, ई भाँटन का काम है।

माखन—ई तो हुई है पर उन्हैं तो ऐसी सेखी है कि सारा जमाना मूरख है ओ मैं पंडित। थोड़ा सा कुछ पढ़ बढ़ लिहिन हैं।

छक्कूजी—पढ़िन का है, पढ़ा-बढ़ा कुछ भी नहिनो, एहर-ओहर की दुइ-चार बात सीख लिहिन किरिस्तानी मते की, अपने राग की बात तो कुछ जनबै नाहीं करतैं, अबहीं कल के लड़का हैं।

माखन० —और का।

(बालमुकुन्द और मलजी आते हैं)

दोनों—(छक्कू की ओर देखकर) जय श्रीकृष्ण बाबू साहब।

छक्कूजी—जय श्रीकृष्ण, आओ बैठो, कहो नहाय आयो ?

बालमु०—जी, भैयाजी का तो नेम है कि बड़े सबेरे नहा कर फूलघर में जाते हैं तब मंगला के दर्शन करके तब घर में जायकर सेवा में नहाते हैं और मैं तो आजकल कार्तिक के सबब से नहाता हूँ, तिस पर भी देर हो जाती है। रोकड़ मेरे जिम्मे काकाजी ने कर रखा है इससे विध-विध मिलाते देर हो जाती है, फिर कीर्त्तन होते प्रसाद बँटते ब्यालू-वालू करते बारह कभी एक बजते हैं।

झक्कूजी—अच्छी है जो निबहो जाय; कहो कातिक नहाए बाबू रामचन्द्र जाथैं कि नाहीं?

बालमु०—क्यों, जाते क्यों नहीं! अब की दोनों भाई जाते हैं, कभी दोनों साथ, कभी आगे-पीछे, कभी इनके साथ मसाल, कभी उनके, मुझको अक्सर करके जब मैं जाता हूँ तब वह नहाकर आते रहते हैं।

झक्कूजी—मसाल काहे ले जाथैं मेहरारुन का मुँह देखै के?

बालमु०—(हँस कर) यह मैं नहीं कह सकता।

झक्कूजी—कहो मलजी, आज फूलघर में नाहीं गयो हिंअई बैठ गयो?

मलजी—आज देर हो गई, दर्शन करके जाऊँगा।

झक्कूजी—तोरे हियाँ ठाकुरजी जागे होहिंहैं कि नाही?

मलजी—जागे तो न होंगे पर अब तैयारी होगी। मेरे हियाँ तो स्त्रियें जगाकर मंगल भोग धरा देती हैं। फिर जब मैं दर्शन करके जाता हूँ तो भोग धराकर आरती करता हूँ।

झक्कूजी—कहो तोसे रामचन्द्र से बोलाचाली है या नाहीं?

मलजी—बोलचाल तो है, पर अब वह बात नहीं है। आगे तो दर्शन करने का सब उत्सवों पर बुलावा आता था अब

नहीं आता, तिसमें बड़े साहब तो ठीक-ठीक, छोटे चित्त के बड़े खोटे हैं।

(नेपथ्य में)

गरम जल की गागर लाओ।

झप०—(गली की ओर देखकर जोर से) अरे कौन जलघरिया है ? एतनी देर भई अभहीं तोरे गागर लिआवै को बखत नाहीं भई ?

(सड़सी से गरम जल की गगरी उठाई सनिया लपेटे जलघरिया आता है)

झप०—कहो जगेसर, ई नाहीं कि जब शंखनाद होय तब झटपट अपने काम से पहुँच जावा करो।

जलघरिया—अरे चल्ले तो आवथई का महगाय पड़ी ? का सुत्तल थोड़े रहली ! हमहूँ के झापट कंधे पर रखके एहर-ओहर घूमै के होत तब न। इहां तो गगरा ढोवत-ढोवत कंधा छिल जाला। (यह कहकर जाता है)

(मैली धोती पहिने दोहर सिर में लपेटे टेकचंद आए)

टेकचंद—(मथुरादास की ओर देखकर) कहो मथुरादास जी, रूडा छो ?

मथुरा०—हां साहेब, अच्छे हैं। कहिए तो सही आप इतने बड़े उच्छव में कलकत्ते से नहीं आए ! हियाँ बड़ा सुख हुआ था, बहुत से महराज लोग पधारे थे। षट रुत छप्पन भोग में बड़े आनन्द हुए।

टेक०—भाई साहब, अपने लोगन का निकास घर से बड़ा मुसकिल है। एक तो अपने लोगन का रेल के सवारी से बड़ा बखेड़ा पड़ता है, दूसरे जब जोन काम के वास्ते आओ जब तक ओका सब इंतजाम न बैठ जाय तब तक हुँवा

जाप से कौन मतलब और सुख तो भाई साहब श्रीगिरराजजी महाराज के आगे जो-जो देखा है सो अब सपने में भी नहीं है। अह! वह श्रीगोविन्दराय जी के पधारने का सुख कहाँ तक कहें।

(धनदास और बनितादास आते हैं)

धनदास—कहो यार का तिगथो?

बनितादास—भाई साहेब, बड़ी देर से देख रहे हैं, कोई पंछी नजर नाहीं आवा।

धन०—भाई साहब, अपने तो ऊ पंछी काम का जे भोजन सोजन दूना दे।

बनिता०—तोहरे सिद्धान्त से भाई साहेब हमारा काम तो नाहीं चलता।

धन०—तबै न सुरमा घुलाय के आँख पर चरणामृत लगाये हौ जे में पलकशाजी खूब चलै, हाँ एक पलक पहरो।

बनिता०—(हँसकर) भाई साहेब अपने तो वैष्णव आदमी हैं, वैष्णविन से काम रक्खित है।

धन०—तो भला महराज के कबौं समर्पन किये हौ कि नाहीं?

बनिता०—कौन चीज?

धन०—अरे कोई चौकाली ठलती मावड़ी पामरी ठामली अपने घरवाली।

बनिता०—अरे भाई गोसँइयन पर तो ससुरी सब आपै भहराई पड़तीं पवित्र होवै के वास्ते, हम का पहुँचैबे।

धन०—गुरु, इन सबन का भाग बड़ा तेज है, मालो लूटैं मेहररुवो लूटैं।

बनिता०—भाई साहब, बड़ेन का नाम बेचथैं और इन सबन में कौन लच्छन हैं, न पढ़ना जानें न लिखना, रात-दिन हा-हा ठी-ठी इहै कि और कुछ !

धन०—और गुरु इनके बदौलत चार जावन के और चैन है, एक तो भट दूसरे इनके सरबस खवास तिसरे बिरकत और चौथी बाई।

बनिता—कुछ कहै की बात नाहीं है। भाई मन्दिर में रहै से स्वर्ग में रहै। खाए के अच्छा, पहिरै के परसादी, से महाराज कब्बौं गाढ़ा तो पहिरबै न करियें, मलमल नागपुरी ढाकै पहिरियैं, अतरै फुलेल केसर परसादी बीड़ा चाभो सब से सेवकी लयो, ऊपर से ऊ बात का सुख अलगै है।

धन०—क्या कहैं, भाई साहब! हमरौ जनम हियँई होता।

बनिता०—अरे गुरु, गली-गली तो मेहरारू मारी फिरथीं तोहैं पहू पर रोनै बना है। अब तो मेहरारू टके सेर हैं। अच्छे-अच्छे अमीरनौ के घर को तो पैसा के वास्ते हाथ फैलावत फिरथीं।

धन०—तो गुरु, हम तो ऊ तार चाहीं थै जहाँ से उलटा हमें कुछ मिलै।

बनिता०—भाग होय तो ऐसियौ मिल जायँ। देखो लाड़ली-प्रसाद के और बच्चू के ऊ नागरनी और बम्हनिया मिली हैं कि नाहीं !

धन०—गुरु, हियाँ तो चाहे मड़ मुड़ाये हो चाहे मुँह में पक्को दाँत न होय पताली खोन्त होय, पर जो हथफेर दे सो काम की।

बनिता—तोहरी हमरी राय ई बात में न मिलिए।

(रामचंद ठीक उन दोनों के पीछे का किवाड़ खोलकर आता है)

झक्कू जी—(धीरे से मुँह बना के) ई आएँ। (सब लोगों से जय श्रीकृष्ण होती है)

बालमु०—(रामचंद को अपने पास बैठा कर) कहिए बाबू साहब, आजकल तो आप मिलते ही नहीं क्या खफगी रहती है?

रामचंद—भला आप ऐसे मित्र से कोई खफा हो सकता है? यह आप कैसी बात कहते हैं?

बालमु०—कार्त्तिक नहान होता न है?

रामचंद—(हँसकर) इसमें भी कोई सन्देह है!

बालमु०—हँहँहँ फिर आप तो जो काम करेंगे एक तजवीज के साथ एं।

(रामचंद का हाथ पकड़ के हँसता है)

रामचन्द—भाई ये दोनों (धनदास और बनितादास को दिखाकर) बड़े दुष्ट हैं। मैं किवाड़ी के पीछे खड़ा सुनता था। घंटों से ये स्त्रियों ही की बात करते थे।

बालमु०—यह भवसागर है। इसमें कोई कुछ बात करता है, कोई कुछ बात करता है। आप इन बातों का कहाँ तक खयाल कीजिएगा एं! कहिए कचहरी जाते हैं कि नहीं?

रामचंद—जाते हैं कभी-कभी—जी नहीं लगता, मुफत की बेगार और फिर हमारा हरिदास बाबू का साथ कुकुर-झौंझौं, हुज्जते-बंगाल माथा खाली कर डालते हैं। खाँव-खाँव करके, थूँक-थूँक के, वीभत्स रस के आलंबन, सूर्य्यनंदन—

बालमु०—(हँसकर) उपमा आपने बहुत अच्छी दी और कहिए। और अंधरी मजिस्टरों* का क्या हाल है ?

रामचंद्र—हाल क्या है सब अपने-अपने रंग में मस्त हैं। काशी प्रसाद अपना कोठावाली ही में लिखते हैं, सहजादे साहब तीन घंटे में एक सतर लिखते हैं ; उसमें भी सैकड़ों गलती। लक्ष्मीसिंह और शिवसिंह अच्छा काम करते हैं और अच्छा प्रयाग लाल भी करते हैं, पर वह पुलिस के शत्रु हैं। और विष्णुदास बड़े Cunning chap हैं। दीवानराम हुई नहीं, बाकी रहे फिजिशियन सो वे तो अँगरेज ही हैं, पर भाई कई मूर्खों को बड़ा अभिमान हो गया है, बात-बात में तपाक दिखाते और छः महीने को भेज दूँगा कहते हैं।

बालमु०—मैं कनमच्चाप नहीं समझा।

रामचंद्र—कनिङ्चैप माने कुटीचर।

(नेपथ्य में)

श्री गोविन्दराय जी की श्री मंगला खुली। (सब दौड़ते हैं)

(जवनिका गिरती है)

इति मन्दिरादर्श-नामक प्रथम गर्भांक

---

* 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट का पद और अधिकार दिया है, उनका नाम यों है—कुँअर शंभूनारायण सिंह, बा० ऐश्वर्यनारायण सिंह, बा० गुरुदास मित्र, बा० हरिश्चंद्र, राय नारायणदास, बा० विश्वेश्वर दास, डा० लाजरस, मुं० बेणीलाल और दीवान कृष्ण कुँअर।' (कवि-वचन-सुधा भाद्रपद शु० १५, सं० १९२३)

दूसरा गर्भांक

स्थान—गैबी, पेड़, कूँआ, पास बावली

(दलाल, गंगापुत्र, दूकानदार, मंडेरिया और झूरीसिंह बैठे हैं)

दलाल—कहो गहन यह कैसा बीता ? ठहरा भोग बिलासी।
माल-वाल कुछ मिला, या हुआ कोरा सत्यानासी !
कोई चूतिया फँसा या नहीं ! कोरे रहे उपासी !

गंगा०—मिलै न काहे भैया, गंगा मैया दौलत दासी ॥
हम से पूत कपूत को दाता मनकनिका सुखरासी।
भूखे पेट कोई नहिं सुतता, ऐसी है ई कासी ॥

दूकान०—परदेसियौ बहुत रहे आए ?

गंगा०— और साल से बढ़कर।

मंडे०—पितर-सौंदनो रहो न अमसिया,

झूरी०— रंग है पुराने झंझर ॥

खूब बचा ताड़ओ, का कहना,
तूँ हौ चूतिया हंटर।

मंडे०—हम न तड़बै तो के तड़िए ! यही किया जनम भर ॥

दलाल—जो हो, अब को भली हुई यह अमावसी पुनवासी।

गंगा०—भूखे पेट कोई नहिं सुतता, ऐसी है ई कासी ॥

झूरी०—यार लोग तो रोजै कड़ाका करथैं ऐ पैजामा।

गंगा—ई तो झूठ कहथौ, सिंहा,

झूरी०— तू सच बोल्यो, मामा ॥

गंगा०—तौहैं का, तू मार-पीट के करथौ अपना कामा।
कोई का खाना, कोई की रंडी, कोई का पगड़ी-जामा॥
झूरी०—ऊ दिन खीपट हुए गए अब सोरहा दंड एकासी।
गंगा०—भूखे पेट कोई नहीं सुनता, ऐसी है ई कासी॥
झूरी० जब से आए नए मजिस्टर तब से आफ़त आई।
जान छिपावत फिरीथै खटमल—
दूकान०— ई तो सच है भाई॥
झूरी०—ई है ऐसा तेज गुरू बरसन के देथै लदाई।
गोविंद पालक मेकलौडो से एको जबर दोहाई॥
जान बचावत छिपत फिरीथै घुस गइ सब बदमासी।
गंगा०—भूखे पेट तो कोइ नहीं सुनता, ऐसी है ई कासी॥
झूरी०—तोरे आँख में चरबी छाई माल न पायो गोजर।
कैसी दून की सूझ रही है असमानों के उप्पर॥
तर न भए हो पैदा करके, धर के माल चुनरे तर।
बछिया के बाबा पँडिया के ताऊ, घुसनि के घुमघुस झरझर॥
कहाँ की ई तूँ बात निकास्यो खासी सत्यानासी।
भूखे पेट कोई नहिं सुनता, ऐसी है ई कासी॥
(गाता हुआ एक परदेसी आता है)
पर०—देखी तुमरी कासी, लोगो, देखी तुमरी कासी।
जहाँ बिराजैं विश्वनाथ विश्वेश्वरजी अविनासी॥
आधी कासी भाट-भँडेरिया ब्राह्मन और संन्यासी।
आधी कासी रंडी मुंडी राँड़ खानगी खासी॥
लोग निकम्मे भंगी गंजड़ लुच्चे बे-बिसवासी।
महा आलसी झूठे शुहदे बे-फिकरे बदमासी॥
आप काम कुछ कभी करैं नहिं कोरे रहैं उपासी।
और करे तो हँसैं बनावैं उसको सत्यानासी॥

अमीर सब झूठे औ निंदक करैं घात विश्वासी।
सिपारसी डरपुकने सिट्टू बोलैं बात अकासी॥
मैली गली भरी कतवारन सड़ी चमारिन पासी।
नीचे नल से बदबू उबलै मनो नरक चौरासी॥

कुत्ते भूँकत काटन दौड़ै सड़क साँड़ सों नासी।
दौड़ैं बंदर बने मुछंदर कूदैं चढ़े अगासी॥
घाट आओ तो गंगापुत्तर नोचैं दै गल फांसी।
करैं घाटिया बस्तर-मोचन दे देके सब झाँसी॥

राह चलत भिखमंगे नोचैं बात करैं दाता सी।
मंदिर बीच भँड़ेरिया नोचैं करैं धरम की गाँसी॥
सौदा लेत दलालो नोचैं देकर लासालासी।
माल लिए पर दुकनदार नोचैं कपड़ा दे रासी॥
चोरी भए पर पुलिस नोचैं हाथ गले बिच ढाँसी।
गए कचहरी अमला नोचैं मोचि बनावैं घासी॥
फिरैं उचक्का दे दे धक्का लूटैं माल मवासी।
कैद भए की लाज तनिक नहिं बे-सरमी नंगा सी।

साहेब के घर दौड़े जावैं चंदा देहिं निकासी।
चढ़ै बुखार नाम मंदिर का सुनतहि होय उदासी॥
घर की जोरू-लड़के भूके बने दास औ दासी।
दाल की मंडी रंडी पूजैं मानो इनकी मासी॥
आप माल कचरैं छानैं उठि भोगहिं कागाबासी।
बाप के तिथि दिन बाह्मन आगे धरैं सड़ा औ बासी॥
करि बेवहार साक बाँधैं बस पूरी दौलत दासी।
घालि रुपैया काढ़ि दिवाला माल डेकारैं ठाँसी॥

काम-कथा अमृत सो पोयेँ समुझैं ताहि बिलासी।
रामनाम मुँह से नहिं निकलै सुनतहि आवै खाँसी॥
देखो तुमरी कासी भैया, देखो तुमरी कासी॥

झूरी०—कहो ई सरवा अपने सहर की एतनी निंदा कर गवा; तूँ लोग कुछ बोलत्यौ नाहीं?

गंगा०—भैया, अपना तो जिजमान है अपने न बोलैंगे चाहे दस गारी दे ले।

भंडे०—अपनो जिजमानै ठहरा।

दलाल—और अपना भी गाहकै है।

दूकान०—और भाई हमहूँ चार पैसा एके बदौलत पावा है।

झूरी०—तू सब का बोलबो, तू सब निरे दब्पू चप्पू हौ, हम बोलबै। (परदेसी से) ए चिड़ियाबावलो के परदेसी फरदेसी! कासी को बहुत निंदा मत करो। मुँह बस्सैये, का कहैं के साहिब मजिस्टर हैं नाहीं तो निंदा करना निकास देते।

पर०—निकास क्यों देते? तुमने क्या किसी का ठीका लिया है?

झूरी०—हाँ हाँ, ठीका लिया है मटियाबुर्ज।

पर०—तो क्या हम झूठ कहते हैं?

झूरी०—राम राम, तू भला कबौं झूठ बोलबो, तू तो निरे पोथी के बेठन हौ।

पर०—बेठन क्या?

झूरी०—बे त मत करा गप्पा के, नाहीं तो तोरी अरबी-फारसी घुसेड़ देबै।

पर०—तुम तो भाई अजब लड़ाके हो, लड़ाई मोल लेते फिरते हो। बे ते किसने किया है? यह तो अपनी-अपनी राय

है ; कोई किसी को अच्छा कहता है, कोई बुरा कहता है, इससे बुरा क्या मानना।

झूरी०—सच है पनचोरा, तू कहै सो सच्च, बुड्ढी तू कहे सो सच्च।

पर०—भाई अजब शहर है, लोग बिना बात ही लड़े पड़ते हैं।

(सुधाकर आता है)

(सब लोग आशीर्वाद, दंडवत्, आओ-आओ शिष्टाचार करते हैं)

गंगा०—भैया इनके दम के चैन है। ई अमीरन के खेलउना हैं।

झूरी०—खेलउना का हैं टाल, खजानची, खिदमतगार सबै कुछ हैं।

सुधाकर—तुम्हें साहब चर्रियै बूझना आता है।

झूरी०—चर्री का, हमहन झूठ बोलीलः ; अरे बखत पड़े पर तूँ रंडी ले आवः, मंगल के मुजरा मिले ओमें दस्तूरी काटः, पैर दाबः, रुपया-पैसा अपने पास रक्खः, यारन के दूरे से झाँसा बतावः। ऐ! ले गुरु तोहीं कहः हम झूठ कहथई।

गंगा०—अरे भैया बिचारे ब्राह्मण कोई तरह से अपना कालक्षेप करथैं, ब्राह्मण अच्छे हैं।

भंडे०—हाँ भाई न कोई के बुरे में, न भले में और इनमें एक बड़ी बात है कि इनकी चाल एक-रंगै हमेशा से देखी थै।

गंगा०—और साहेब एक अमीर के पास रहै से इनकी चार जगह जान-पहिचान हो गई। अपनी बात अच्छी बनाय लिहिन है।

दूकान०—हाँ भाई, बजार में भी इनकी साक बँधी है।

सुधाकर—भया भया, यह पचड़ा जाने दो ; कहो यह नई मूरत कौन है ?

झूरी०—गुरू साहब, हम हियाँ भाँग का रगड़ा लगावत रहे, बीच में गहन के मारे-पीटे ई धूआँकस आय गिरे।

आके पिंजड़े में फँसा अब तो पुराना चंडूल ।
लगी गुलसन की हवा, दुम का हिलाना गया भूल ॥
(परदेसी के मुँह के पास चुटकी बजाता है और नाक के पास से उँगली लेकर दूसरे हाथ की उँगली पर घुमाता है)

पर०—भाई तुम्हारे शहर सा तुम्हारा ही शहर है, यहाँ की लीला ही अपरंपार है ।

झूरी०—तोहूँ लीला करथौ ।

पर०—क्या ?

झूरी०—नहीं ई जे तोहूँ रामलीला में जाथौ कि नाहीं ?

(सब हँसते हैं)

पर०—(हाथ जोड़कर) भाई, तुम जीते हम हारे, माफ करो ।

झूरी०—(गाता है) तुम जीते हम हारे साधो, तुम जीते हम हारे ।

सुधा०—(आप ही आप) हा ! क्या इस नगर की यही दशा रहेगी ! जहाँ के लोग ऐसे मूर्ख हैं वहाँ आगे किस बात की वृद्धि की संभावना करें ! केवल यह मूर्खता छोड़ इन्हें कुछ आता ही नहीं ! निष्कारण किसी का बुरा-भला कहना ! बोली ही बोलने में इनका परम पुरुषार्थ ! अनाब-शनाब जो मुँह में आया बक उठे, न पढ़ना न लिखना ! हाय ! भगवान् इनका कब उद्धार करेगा !!

झूरी०—गुरु, का गुड़बुड़-गुड़बुड़ जपथौ ?

सुधा०—कुछ नाहीं भाई यही भगवान का नाम ।

झूरी०—हाँ भाई, सझा भई यह बेरा टंटे न किया चाहिए, राम-राम की बखत भई, तो चलो न गुरू ।

सब—चलो भाई ।

(जवनिका गिरती है)

इति गैबी-ऐबी नामक दृश्य

तीसरा गर्भांक

स्थान—मुगलसराय का स्टेशन

(मिठाईवाले, खिलौनेवाले, कुली और चपरासी इधर-उधर फिरते हैं। सुधाकर, एक विदेशी पंडित और दलाल बैठे हैं)

दलाल—(बैठके पान लगाता है) या दाता राम! काई भागवान से भेंट कराना।

विदेशी पंडित—(सुधाकर से) आप कौन हैं? कहाँ से आते हैं?

सुधाकर—मैं ब्राह्मण हूँ, काशी में रहता हूँ और लाहौर से आता हूँ।

वि० पंडित—क्या आप का घर काशीजी ही में है?

सुधा०—जी हाँ।

वि० पंडित—भला काशी कैसा नगर है?

सुधा०—वाह! आप काशी का वृत्तांत अब तक नहीं जानते? भला त्रैलोक्य में और दूसरा ऐसा कौन नगर है जिसको काशी की समता दी जाय?

वि० पंडित—भला कुछ वहाँ क शोभा हम भी सुनें।

सुधा०—सुनिए, काशी का नामांतर वाराणसी है, जहाँ भगवती जह्नु-नंदिनी उत्तरवाहिनी होकर धनुषाकार तीन ओर से ऐसी लपटी हैं, मानो इसको शिव की प्यारी जानकर गोद में लेकर आलिंगन कर रही हैं, और अपने पवित्र

जलकण के स्पर्श से तापत्रय दूर करती हुई मनुष्यमात्र को पवित्र करती हैं। उसी गंगा के तट पर पुण्यात्माओं के बनाए बड़े-बड़े घाटों के ऊपर दोमंजिले, चौमंजिले, पँचमंजिले और सतमंजिले ऊँचे-ऊँचे घर आकाश से बातें कर रहे हैं, मानों हिमालय के श्वेत शृंग सब गंग-सेवन करने को एकत्र हुए हैं। उसमें भी माधोराय के दोनों धरहरे तो ऐसे दूर से दिखाई देते हैं मानो बाहर के पथिकों को काशी अपने दोनों हाथ ऊँचे कर के बुलाती है। साँझ-सबेरे घाटों पर असंख्य स्त्री-पुरुष नहाते हुए, ब्राह्मण लोग संध्या वा शास्त्रार्थ करते हुए, ऐसे दिखलाई देते हैं मानो कुबेरपुरी की अलकनंदा में किन्नरगण और ऋषिगण अवगाहन करते हैं; और नगाड़ा-नफीरी, शंख-घंटा, झाँझ-स्तव और जय का तुमुल शब्द ऐसा गूंजता है मानो पहाड़ों की तराई में मयूरों की प्रतिध्वनि हो रही है; उसमें भी जब कभी दूर से साँझ को वा बड़े सबेरे नौबत की सुहानी धुन कान में आती है तो कुछ ऐसी भली मालूम पड़ती है कि एक प्रकार की झपकी सी आने लगती है। और घाटों पर सबेरे धूप की झलक और साँझ को जल में घाटों की परछाहीं की शोभा भी देखने ही बन आती है।

जहाँ ब्रज-ललना-लालित चरण-युगल पूर्ण परब्रह्म सच्चिदानंदघन वासुदेव आप ही श्री गोपाललाल रूप धारण करके प्रेमियों को दर्शन-मात्र से कृत-कृत्य करते हैं और भी बिंदुमाधवादि अनेक रूप से अपने नाम-धाम के स्मरण, दर्शन चिंतनादि से पतितों को पावन करते हुए विराजमान हैं।

जिन मंदिरों में प्रातःकाल संध्या समय दर्शकों की भीड़ जमी हुई है, कहीं कथा, कहीं हरिकीर्त्तन, कहीं नाम-कीर्त्तन,

कहीं नाटक, कहीं भगवत-लीला-अनुकरण इत्यादि अनेक कौतुकों के मिस से भी भगवान के नाम-गुण में लोग मग्न हो रहे हैं।

जहाँ तारकेश्वर विश्वेश्वरादि नामधारी भगवान भवानी-पति तारकब्रह्म का उपदेश करके तनत्याग मात्र से ज्ञानियों को भी दुर्लभ अपुनर्भव परम मोक्षपद—मनुष्य, पशु, कीट, पतंगादि आपामर जीवमात्र को देकर उसी क्षण अनेक कल्पसंचित महापापपुंज भस्म कर देते हैं।

जहाँ अंधे, लँगड़े, लूले, बहरे, मूर्ख और निरुद्यम आलसी जीवों को भी भगवती अन्नपूर्णा अन्न-वस्त्रादि देकर माता की भाँति पालन करती हैं।

जहाँ अब तक देव, दानव, गंधर्व, सिद्ध, चारण, विद्या-धर, देवर्षि, राजर्षिगण और सब उत्तम-उत्तम तीर्थ—कोई मूर्त्तिमान, कोई छिपकर और कोई रूपांतर करके नित्य निवास करते हैं।

जहाँ मूर्तिमान सदाशिव प्रसन्न-वदन, आशुतोष, सकल-सद्गुणैकरत्नाकर, विनयैकनिकेतन, निखिल विद्याविशारद, प्रशांतहृदय, गुणिजनसमाश्रय, धार्मिकप्रवर, काशी-नरेश महाराजाधिराज श्रीमदीश्वरीप्रसाद नारायणसिंह बहादुर और उनके कुमारोपम कुमार श्री प्रभुनारायणसिंह बहादुर दान धर्म्मसभा रामलीलादि के मिस से धर्म्मोन्नति करते हुए और असत् कर्म्म नीहार को सूर्य की भाँति नाशते हुए पुत्र की तरह अपनी प्रजा का पालन करते हैं।

जहाँ श्रीमती चक्रवर्त्तिनिचयपूजितपादपीठा श्रीमती महारानी विक्टोरिया के शासनानुवर्त्ती अनेक कमिश्नर, जज, कलेक्टरादि अपने-अपने काम में सावधान प्रजा को हाथ पर

लिए रहते हैं और प्रजा उनके विकट दंड के सर्वदा जागने के भरोसे नित्य सुख से सोती है।

जहाँ राजा शंभूनारायणसिंह, बाबू फतहनारायणसिंह, बाबू गुरुदास, बाबू माधवदास, विश्वेश्वरदास, राय नारायणदास इत्यादि बड़े-बड़े प्रतिष्ठित और धनिक तथा श्री बापूदेव शास्त्री, श्रीबाल शास्त्री से प्रसिद्ध पंडित, श्रीराजा शिवप्रसाद, सैयद अहमद खाँ बहादुर ऐसे योग्य पुरुष, मनिकचंद्र मिस्तरी से शिल्पविद्या-निपुण, वाजपेयी जी से तन्त्राकार, श्री पंडित बेचनजी, शीतलजी, श्रीताराचरण से संस्कृत के और सेवक तथा श्री बाबू गोपाल चंद्र से पूर्व में और अब हरिश्चंद्र से भाषा के कवि, बाबू अमृतलाल, मुंशी गन्नूलाल, मुंशी श्यामसुंदरलाल से शास्त्रव्यसनी और एकांतसेवी, श्रीस्वामी विश्वरूपानंद से यति, श्रीस्वामी विशुद्धानंद से धर्मोपदेष्टा, दातृगणैकाग्रगण्य श्रीमहाराजाधिराज विजयनगराधिपति से विदेशी सर्वदा निवास करके नगर की शोभा दिन दूनी रात चौगुनी करते रहते हैं।

जहाँ कींस कालिज (जिसके भीतर-बाहर चारों ओर श्लोक और दोहे खुदे हैं), जयनारायण कालिज से बड़े, बंगाली टोला, नार्मल और लंडन मिशन से मध्यम तथा हरिश्चंद्र स्कूल से छोटे तथा महाराज काश्मीर और महाराज दरभंगा की पाठशालादि अनेक विद्यामंदिर हैं, जिनमें संस्कृत, अँगरेजी, हिंदी, फारसी, बँगला, महाराष्ट्री की शिक्षा पाकर प्रति वर्ष अनेक विद्यार्थी विद्योत्तीर्ण होकर प्रतिष्ठालाभ करते हैं; इनके अतिरिक्त पंडितों के घर में तथा हिन्दी-फारसी पाठकों की निज शाला में अलग ही लोग शिक्षा पाते हैं, और राय संकटाप्रसाद के परिश्रमोत्पन्न पबलिक लाइब्रेरी, मुन्शी सीतलप्रसाद का सरस्वती-

भवन, कार्माइ केल लाइब्रेरी, बंगसाहित्य-समाज, बाल सरस्वती भवन, हरिश्चंद्र का सरस्वती-भंडार इत्यादि अनेक पुस्तक-मन्दिर हैं, जिनमें साधारण लोग सब विद्या की पुस्तकें देखने पाते हैं।

जहाँ मानमन्दिर ऐसे यंत्रभवन, सारनाथ की धमेख से प्राचीनावशेष चिह्न, विश्वनाथ के मन्दिर का वृषभ और स्वर्ण-शिखर, राजा चेतसिंह के गंगा-पार के मन्दिर, कश्मीरी-मल की हवेली और क्वींस कालिज की शिल्पविद्या और माधाराय के धरहरे की ऊँचाई देखकर विदेशी जन सर्वदा चकित रहते हैं।

जहाँ महाराज विजयनगर के तथा सरकार के स्थापित स्त्री-विद्यामन्दिर, औषधालय, अंधभवन, उन्मत्तागार इत्यादिक लोकद्वय-साधक अनेक कीर्तिकर कार्य हे, वैसे ही चूड़-वाले इत्यादि महाजनों का सदावर्त्त और श्री महाराजाधिराज संधिया आदि के अटल सत्र से ऐसे अनेक दीनों के आश्रयभूत स्थान है जिनमें इनको अनायास ही भोजनाच्छादन मिलता है।

जहाँ नारायण भट्ट जी की और शेष और धर्माधिकारी पंडितों का वंश, अहोबल शास्त्री, जगन्नाथ शास्त्री, गोस्वामी श्री गिरिधर जी, पंडित काकाराम, पंडित मायादत्त, पंडित हीरानंद चौबे, काशीनाथ शास्त्री, पंडित भवदेव, पंडित सुखलाल और भी जिनका नाम इस समय मुझे स्मरण नहीं आता, अनेक ऐसे-ऐसे धुरंधर पंडित हुए हैं, जिनकी विद्या मानो मंडन मिश्र की परंपरा पूरी करती थी।

जहाँ विदेशी अनेक तत्ववेत्ता धार्मिक धनीजन घर-बार कुटुम्ब देश-विदेश छोड़कर निवास करते हुए तत्त्वचिंता में

मग्न सुख-दुःख भुलाए संसार को यथारूप में देखते सुख से निवास करते हैं। आत्मानंद हंस जी को देख लीजिए।

जहाँ पंडित लोग विद्यार्थियों को ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, महाभारत, रामायण, पुराण, उपपुराण, स्मृति, न्याय, व्याकरण, सांख्य, पातंजल, वैशेषिक, मीमांसा वेदांत, शैव, वैष्णव, अलंकार, साहित्य, ज्योतिष इत्यादि शास्त्र सहज में पढ़ाते हुए मूर्तिमान गुरु और व्यास से शोभित काशी की विद्यापीठता सत्य करते हैं।

जहाँ भिन्न देशनिवासी आस्तिक विद्यार्थीगण परस्पर देवमंदिरों में, घाटों पर, अध्यापकों के घर में, पंडित-सभाओं में वा मार्ग में मिलकर शास्त्रार्थ करते हुए अनर्गल धारा-प्रवाह संस्कृत-भाषण से सुनने वालों का चित्त हरण करते हैं।

जहाँ स्वर लय छंद मात्रा, हस्तकंपादि से शुद्ध वेदपाठ की ध्वनि से जो मार्ग में चलते वा घर बैठे सुन पड़ती है, तपोवन की शोभा का अनुभव होता है।

जहाँ द्रविड़, मगध, कान्यकुब्ज, महाराष्ट्र, बंगाल, पंजाब, गुजरात इत्यादि अनेक देश के लोग परस्पर मिले हुए अपना-अपना काम करते दिखाते हैं और वे एक-एक जाति के लोग जिन मुहल्लों में बसे हैं वहाँ जाने से ऐसा ज्ञात होता है मानो उसी देश में आये हैं, जैसे बगाली टोले में ढाके का, लाहौरी टोले में अमृतसर का और ब्रह्माघाट में पूने का भ्रम होता है।

जहाँ निराहार, पयाहार, यताहार, मिताहार, रक्ताम्बर, श्वेताम्बर, नीलाम्बर, चर्म्माम्बर, दिगम्बर, दंडी, संन्यासी, ब्रह्मचारी, योगी, यती, सेवड़ा, फकीर, सुथरेसाईं, कनफटे, ऊर्ध्वबाहु, गिरी, पुरी, भारती, वन, पर्वत, सरस्वती, किनारामी, कबीरी, दादूपंथी, नानकसाही, उदासी, रामानंदी, कौल,

अघोरी, शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य, सौर इत्यादि हिंदू और ऐसे ही अनेक भाँत के मुसलमान फकीर नित्य इधर से उधर भिक्षा उपार्जन करते फिरते हैं और इसी भाँति सब अंधे, लँगड़े, लूले, दीन, पंगु, असमर्थ लोग भी भिक्षा पाते हैं, यहाँ तक कि आधी काशी केवल दाता लोगों के भरोसे नित्य अन्न खाती है।

जहाँ हीरा, मोती, रुपया, पैसा, कपड़ा, अन्न, घी, तेल, अतर, फुलेल, पुस्तक, खिलौने इत्यादि की दूकानों पर हजारों लोग काम करते हुए माल लेते बेंचते दलाली करते दिखाई पड़ते हैं।

जहाँ की बनी कमखाब, बाफता, हमरू, समरू गुलबदन पोत, बनारसी साड़ी, दुपट्टे, पीताम्बर, उपरने, चोलखंड, गोटा-पट्टा इत्यादि अनेक उत्तम वस्तुएँ देश-विदेश जाती हैं और जहाँ की मिठाई, खिलौने, चित्र, टिकुली, बीड़ा इत्यादि और भी अनेक सामग्री ऐसी उत्तम होती हैं कि दूसरे नगर में कदापि स्वप्न में भी नहीं बन सकतीं।

जहाँ प्रसादी तुलसी-माला फूल से पवित्र और स्नायी स्त्री-पुरुषों के अंग के विविध चंदन, कस्तूरी, अतर इत्यादि सुगंधि-द्रव्य के मादक आमोद-संयुक्त परम शीतल तापत्रय-विमोचक गंगाजी के कण स्पर्श मात्र से अनेक लौकिक अलौकिक ताप से तापित मनुष्यों का चित्त सर्वदा शीतल करते हैं।

जहाँ अनेक रंगों के कपड़े पहने, सोरहो सिंगार, बत्तीसों आभरण सजे, पान खाए, मिस्सी की धड़ी जमाए, जोबन-मदमाती झमझमाती हुई बारविलासिनी देव-दर्शन वैद्य-ज्योतिषी-गुणीगृहगमन, जार-मिलन, गानश्रावण, उपवन-भ्रमण इत्यादि अनेक बहानों से राजपथ में इधर-उधर झूमती-घूमती नैनों के पटे फेरती, बिचारे दीन पुरुषों को ठगती फिरती हैं और कहीं

तक कहैं काशी काशी ही है। काशी सी नगरी त्रैलोक्य में दूसरी नहीं है। आप देखिएगा तभी जानिएगा, बहुत कहना व्यर्थ है।

वि०—पंडित—वाह-वाह! आपके वर्णन से मेरे चित्त का काशी-दर्शन का उत्साह चतुर्गुण हो गया। यों तो मैं सीधा कलकत्ते जाता, पर अब काशी बिना देखे कहीं न जाऊँगा। आपने तो ऐसा वर्णन किया मानो चित्र सामने खड़ा कर दिया। कहिए वहाँ और कौन-कौन गुणी और दाता लोग हैं जिनसे मिलूँ।

सुधा०—मैं तो पूर्व ही कह चुका हूँ कि काशी गुणी और धनियों की खान है, यद्यपि यहाँ के बड़े-बड़े पंडित जो स्वर्गवासी हुए उनसे अब होने कठिन हैं, तथापि अब भी जो लोग हैं दर्शनीय और स्मरणीय हैं। फिर इन व्यक्तियों के दर्शन भी दुर्लभ हो जायँगे, और यहाँ के दाताओं का तो कुछ पूछना ही नहीं। चूड़ की कोठीवालों ने पंडित काकाराम जी के ऋण के हेतु एक साथ बीस सहस्र मुद्रा दीं। राजा पटनीमल के बाँधे धर्म्मचिह्न कर्मनाशा का पुल और अनेक धर्म्मशाला, कुएँ, तालाब, पुल इत्यादि भारतवर्ष के प्रायः सब तीर्थों पर विद्यमान हैं। साह गोपालदास के भाई साह भवानीदास की भी ऐसी ही उज्ज्वल कीर्ति है और भी दीवान केवलकृष्ण, चम्पतराय अमीन इत्यादि बड़े-बड़े दानी इसी सौ वर्ष के भीतर हुए हैं। बाबू राजेन्द्र मित्र की बाँधी देवी-पूजा बाबू गुरुदास मित्र के यहाँ अब भी बड़े धूम से प्रतिवर्ष होती है। अभी राजा देवनारायणसिंह ही ऐसे गुणज्ञ हो गए हैं कि उनके यहाँ से कोई खाली हाथ नहीं फिरा। अब भी बाबू हरिश्चन्द्र इत्यादि

गुणग्राहक इस नगर की शोभा की भाँति विद्यमान हैं। अभी लाला बिहारीलाल और मुंशी रामप्रताप जी ने कायस्थ जाति का उद्धार करके कैसा उत्तम कार्य किया। आप मेरे मित्र रामचंद्र ही को देखिएगा। उसने बाल्यावस्था ही में लक्षावधि मुद्रा व्यय कर दी है।*अभी बाबू हरखचंद मरे हैं जो एक गोदान नित्य करके जलपान करते थे। कोई भी फकीर यहाँ से खाली नहीं गया। दस पन्द्रह रामलीला इन्हीं काशी-वालों के व्यय से प्रति वर्ष होती है और हजारों पुण्यकार्य यहाँ हुआ ही करते हैं। आपको सबसे मिलाऊँगा आप काशी चलें तो सही।

वि० पंडित—लाहोर क्यों गए थे?

सुधा०—(लम्बी साँस लेकर) कुछ न पूछिए योंही सैर को गया था।

दलाल—(सुधारक से) का गुरू। कुछ पंडितजी से बोहनी बाढ़े का तार होय तो हम भी साथै चलूँ चैं।

सुधा०—तार तो पंडित बाड़ा है कुछ विशेष नहीं जान पड़ता।

दलाल—तब भी फोंक सऊड़े का मालवाड़ा कहाँ तक न लेऊबियै।

सुधा०—अब जो पलती पलते पलै।

वि० पंडित—यह इन्होंने किस भाषा में बात की?

सुधा०—यह काशी ही की बोली है, ये दलाल हैं, सो पूछते थे कि पंडितजी कहाँ उतरेंगे।

---

* इतना विषय मैंने सत्य होने के कारण स्वयं दे दिया है। (राधा कृष्णदास)

बे० पंडित—तो हम तो अपने एक सम्बन्धी के यहां नीलकंठ पर उतरेंगे।

सुधा०—ठीक है, पर मैं आपको अपने घर अवश्य ले जाऊँगा।

बं० पंडित—हाँ हाँ, इसमें कोई संदेह है? मैं अवश्य चलूँगा।

(स्टेशन का घंटा बजता है और जवनिका गिरती है)

इति प्रतिच्छवि-वाराणसी नामक दृश्य

चौथा गर्भांक

स्थान—बुभुक्षित दीक्षित की बैठक

(बुभुक्षित दीक्षित, गप्प पंडित, रामभट्ट, गोपाल शास्त्री, चंबूभट्ट, माधव शास्त्री आदि लोग पान-बीड़ा खाते और भाँग-बूटी की तजवीज करते बैठे हैं ; इतने में महाश कोतवाल अर्थात् निमंत्रण करने वाला आकर चौक में से दीक्षित को पुकारता है)

महाश—काहो, बुभुक्षितदीक्षित आहेत !

बुभुक्षित—(इतना सुनते ही हाथ का पान रख कर) कोण आहे ? (महाश आगे बढ़ता है) वाह महाश तु आहेश काय ? काय बाबा आज किती ब्रह्मण आमच्या तड़ांत देतोस ? सरदारांनी किती सांगीतलेत ? (थोड़ा ठहरकर) कायरे ठोक्याच्या कमरयांत सहस्रभोजन कुणाच्या यजमानाचे चालले आहे !

महाश—दीक्षितजी ! आज ब्राह्मणाची अशी मारामार झाली कि मी मींहीं सांगूँ शकत नाहीं—कोण तो पचड़ा !!

बुभु०—खरें, काय मारामार झाली ? अच्छा ये तर बैठकेंत पण आखेरीस आमचे तड़ाची काय व्यवस्था ? ब्राह्मण भागलेस की नाहीं ! कीं हात हलवीतच आलास !

महाश—(बैठक में बैठकर जल माँगता है) दीक्षितजी थोड़े से पाणी द्या, तहान बहुत लागली आहे ।

बुभु०—अच्छा भाई, थोड़ा सा ठहर अत्ता उतनातून आला आहेस,

बूटी ही बनतेच आहे। पाहिजे तर बूटीचेंच पाणी पी। अच्छा सांग तर कसे काय ब्राह्मण किती मिलाले ?

महाश—गुरु, ब्राह्मण तो आज २५ निकाले, यार लोग आपके शागिर्द हैं कि और किसके ?

चंबूभट्ट—(बड़े आनन्द से) क्या भाई सच्च कहो—२५ ब्राह्मण मिलाले ?

महाश—हो गुरु ! २५ ब्राह्मण तर नुसते सहस्रभोजनाचे, परन्तु आजचे वसंतपूजेचे तर शिवाय च—आणखी सभेकरतां तर पष लावलाच आहे पण—

गोपाल, माधव शास्त्री—(घबड़ाकर) काय महाश पण कां ? सभेचं काम कुणाकड़े आहे ? आणखी सभा कधीं होणार ? आं ?

महाश—पण-इतकंच कीं हा यजमान पाप नगरांत रहतो, आणि याला एक कन्या आहे ती गत-भर्तृका असून सकेशा आहे आणि तीर्थस्थलीं तर चौर करणें अवश्य पण चौरेकरून कन्येची शोभा जाईल या करितां जर कोणी असा शास्त्रीय आधार दाखवील तर एक हज़ार रुपयांची सभाकरण्याचा त्यांचा विचार आहे व या कामांत धनतुंदिल शास्त्रीनी हात घातला आहे।

गप्प पंडित—अंः, तो ऐसी क्षुल्लक बात से हेतु शास्त्राधार का क्या काम है ? इसमें तो बहुत से आधार मिलेंगे।

माधव शास्त्री—हां पंडितजी आप ठीक कहते हैं, क्योंकि हम लोगों का वाक्य और ईश्वर का वाक्य समान ही समझना चाहिए "विप्रवाक्ये जनार्दनः" "ब्राह्मणा मम दैवतं" इत्यादि।

गोपाल—ठीकच आहे, आणि जरि कदाचित् असल्या दुर्घट कामानी आम्ही लोकदृष्ट्या निन्द्य झालों तथापि वन्द्यच आहों, कारण श्रीमद्भगवतांत ही लिहलें आहे "विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्येत कश्चनेत्यादि"।

गप्प पंडित—हांजी, और इसमें निन्द्य होने का भी क्या कारण ? इसमें शास्त्र के प्रमाण बहुत से हैं और युक्ति तो हई है। पहिले यही देखिए कि इस घोर कर्म से दो मनुष्यों को अर्थात् वह कन्या और उसके स्वजन इनको बहुत ही दुःख होगा और उसके प्रतिबंध से सबको परम आनंद होगा। तब यहाँ इस वचन को देखिए—

"येन केनाप्युपायेन यस्य कस्यापि देहिनः।
संतोषं जनयेत् प्राज्ञस्तदेवेश्वरपूजनं॥"

बुभु०—और ऐसे बहुत से उदाहरण भी इसी काशी में होते आए हैं। दूसरा काशीखंड ही में कहा है "येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसीगतिः।"

चंबूभट्ट—मूर्खतागार का भी यह वाक्य है "अथवा बाललवनं जीवनाईनवद्भवेत्"। संतोषसिंधु में भी "सकेशैव हि संस्थाप्या यदि स्यात्तोषदा नृणां"।

महाश—दीक्षितजी! बूटी झाली—अब इने जल्दी कारण बहुत प्यासा जीव होऊन गेला आणखी अझून पुष्कल ब्राह्मण सांगायचे आहेत।

बुभु०—(भाँग की गोली और जल, बरतन, कटोरा, साफी लेकर) शास्त्रीजी! थोड़े से बढ़ा तर।

माधव शास्त्री—दीक्षितजी! हें माझें कांम नहं, कारण भी अपला खाली पीण्याचा मालिक आहे, मला छानतां यत नाहीं। (गोपाल शास्त्री की ओर दिखाकर) ये इसमें परम प्रवीण हैं।

गोपाल शास्त्री—अच्छा दीक्षितजी, मीच आलों सही।

चंद्रभट्ट—(इन सबों को अपने काम में निमग्न देखकर) बरें मग महाश अखेरीस तड़ाचे किती ब्राह्मण सहस्रभोजना चे व वसंतपूजेचे किती!

महाश—दीक्षिताचे तड़ांत आज एकंदर २५ ब्राह्मण; पैकीं १५ सहस्रभोजनाकड़े आणि १० वसंतपूजेकड़े—

माधव शास्त्री—आणि सभेचे?

महाश—सभेचे तर मी सांगीत लेंच की धनतुंदिल शास्त्रीचे अधिकारांत आहे आणि दोन तीन दिवसांत ते बंदोबस्त करणार आहेत।

गप्प पंडित—क्यों महाश! इस सभा में कोई गौड़ पंडित भी हैं व नहीं?

महाश—हां पंडित जी, यह बात छोड़ दीजिए, इसमें तो केवल दाक्षिणात्य द्राविड़ और कचित् तैलंग भी होंगे, परंतु सुना है कि जो इसमें अनुमति करेंगे वे भी अवश्य सभासद होंगे।

गप्प पंडित—इतना न, तब तो मैंने पहिले ही कहा है, माधव शास्त्री! अब भाई यह सभा दिलवाना आप के हाथ में है।

माधव—हां पंडित जी, मैं तो अपने शक्त्यनुसार प्रयत्न करता हूँ, क्योंकि प्रायः काका (धनतुंदिल शास्त्री) जो कुछ करते हैं उसका सब प्रबंध मुझे ही सौंप देते हैं। (कुछ ठहर कर) हां, पर पंडित जी, अच्छा स्मरण हुआ, आप से और न्यू फांड (New fond) शास्त्री से बहुत परिचय है, उन्हीं से आप प्रवेश कीजिए, क्योंकि उनसे और काका जी से गहरी मित्रता है।

गप्प पंडित—क्या क्या शास्त्री जी ! न्यू—क्या ! यह कहीं सुना नहीं।

गोपाल—कभी सुना नहीं इसी हेतु न्यू फांड।

गप्प पंडित—मित्र ! मेरा ठट्ठा मत करो। मैं यह तुम्हारी बोली नहीं समझता। क्या यह किसी का नाम है ? मुझे मालूम होता है कि कदाचित् यह द्रविड़ त्रिलिंग आदि देश के मनुष्य का नाम होगा। क्योंकि उधर की बोली मैंने सुनी है उसमें मूर्द्धन्य वर्ण प्रायः बहुत रहते हैं।

माधव शास्त्री—ठीक पंडित जी, अब आप का तर्कशास्त्र पढ़ना आधा सफल हुआ। अस्तु ये उधर ही के हैं जो आप के साथ रामनगर गए थे, जिन्होंने घर में तमाशे वाले की बैठक की थी—

गप्प पंडित—हाँ हाँ, अब स्मरण हुआ, परंतु उनका नाम परोपकारी शास्त्री है और तुम क्या भांड कहते हो ?

गोपाल शास्त्री—वाह पंडित जी, भांड नहीं कहा फांड कहा— न्यू फांड अर्थात् नये शौखीन। सारांश प्राचीन शौखीन लोगों ने जो-जो कुछ पदार्थ उत्पन्न किए, उपभुक्त किए उन ही उनके उत्कृष्ट पदार्थ का अवलम्बन करके वा प्राचीन रसिकों की चाल-चलन को अच्छी समझ हम को भी ठीक वैसा ही कहें आदि से खींच-खींच के रसिकता लाना, क्या शास्त्री जी ऐसा न इसका अर्थ ?

माधव शास्त्री—भाई, मुझे क्यों नाहक इसमें डालते हो—

गप्प पंडित—अच्छा, जो होय मुझे उसके नाम से क्या काम। व्यक्ति मैंने जानी परन्तु माधव जी आप कहते हैं और मुझसे उनसे भी पूर्ण परिचय है और उनको उनका नाम सब शोभता है, परन्तु भाई वे तो बड़े आढ्य मान्य हैं

और कंजूस भी हैं—और क्या तुमसे उनसे मित्रता मुझसे अधिक नहीं है। यहाँ तक शयनासन तक वे तुमको परकीय नहीं समझते।

माधव शास्त्री—पंडित जी! वह सर्व ठीक है, परन्तु अब वह भूतकालीन हुई। कारण 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'—

बुभु०—हाँ पंडित जी! अब क्षण भर इधर बूटी को देखिए, लीजिए। (एक कटोरा देकर पुनः दूसरा देते हैं)

गप्प पंडित—वाह दीक्षित जी, बहुत ही बढ़िया हुई।

चंबूभट्ट—(सब को बूटी देकर अपनी पारी आई देख कर) हाँ हाँ दीक्षित जी, तिकड़ेच खतम करा मी आज काल पीत नाहीं।

गोपाल, माधव—कां भट्ट जी! पुरे आतां, हे नखरे कुठे शिकलात, या—प्या—हवेने व्यर्थ थंडी होते।

चंबूभट्ट—नाहीं भाई मी सत्य सांगतों, मला सोसत नाहीं। तुम्हाला माझे नखरे वाटतात पण हे प्रायः इथले काशीतलेच आहेत, व अपल्या मारख्यांच्या परम प्रियतम सफेन खड़खड़ीत उपणां पांग्ररणार अनाथा बालानींच शिकविलेत बरें।

(सब आग्रह करके उसको पिलाते हैं)

महाश—कां गुरु दीक्षित जी अब पत्तेती जमविली पाहिजे।

बुभु०—हाँ भाई, घे तो वंटा आणि लाव तर एक दोन चार।

महाश—(इतने में अपना पान लगाकर खाता है और दीक्षित जी से) दीक्षित जी, १५ ब्राह्मण ठोक्याच्या कमरयांत पाठवा; दाहा वाजतां पाने मांडली जातील, आणि आज रात्रो वसंतपूजेस १० ब्राह्मण लवकर पाठवा कारण मग दूसरे तड़ाचे ब्राह्मण येतील। (ऐसा कहता हुआ चला जाता है)

बुभु०—(उनको पुकारते हुए जाते हैं) महाश ! दक्षिणा कितनी ?

(महाश वहीं से चार अँगुली दिखा कर गडा कहकर गया)

माधव—दीक्षित जी ! क्या कहीं बहरी ओर चलिएगा ?

गोपाल—(दीक्षित से) हाँ गुरु, चलिए आज बड़ी वहाँ लहरा है।

बुभु०—भाई बहरीवर मी जाऊन इकडचा बंदोबस्त कोण करील ?

गोपाल—अं: गुरु इतके १५ ब्राह्मणांत घवड़ावता। सर्वभक्तास। साँगीतलें ब्राह्मण जे झाले। आज न्यूफांड का पत्ती है।

गप्प पंडित—क्या परोपकारी की पत्ती है ? खाली पत्ती दी है कि और भी कुछ है ? नाहीं तो मैं भी चलूँ।

माधव शास्त्री—पत्ती क्या बड़ी-बड़ी लहरा है, एक तो बड़ा भारी प्रदर्शन होगा और नाना रीति के नाच, नए-नए रंग देख पड़ेंगे।

गप्प पंडित—क्यों शास्त्री जी, मुझे यह बड़ा आश्चर्य ज्ञात होता है और इस से परिहासोक्ति सी देख पड़ती है। क्योंकि उसके यहाँ नाच-रंग होना सूर्य का पश्चिमाभिमुख उगना है।

गोपाल—पंडितजी ! इसी कारण इनका नाम न्यू फांड है। और तिस पर यह एक गुह्य कारण से होता है। वह मैं और कभी आप से निवेदन करूँगा, वा मार्ग में—

बुभु०—(सर्वभक्त नाम अपने लड़के को सब व्यवस्था कहकर आप पानपलेती और रस्सी-लोटा और एक पंखी लेकर) हाँ भाई मेरी सब तैयारी है।

माधव, गोपाल—चलिए पंडितजी, वैसे ही धनतुंदिल शास्त्री जी के यहाँ पहुँचेंगे। (सब उठकर बाहर आते हैं)

चबूभट्ट—मैं तो भाई जाता हूँ क्योंकि संध्या समय हुआ।

[चला जाता है

गप्प पंडित—किधर जाना पड़ेगा ?

माधव शास्त्री—शंखोद्धारा क्योंकि आजकल श्रावण मास में और कहाँ लहरा ? घराऊ कजरी, श्लोक, लावनी, ठुमरी, कटौवल, बोली-ठोली सब उधर ही।

गप्प पंडित—ठीक शास्त्रीजी, अब मेरे ध्यान में पहुँचा, आज-काल शंखोद्धारा का बड़ा माहात्म्य है। भला घर पर यह अब कहाँ सुनने में आवेगा ? क्योंकि इसमें घराऊ विशेषण दिया है।

गोपाल—अः हमारा माधव शास्त्री जहाँ है वहाँ सब कुछ ठीक ही होगा, इसका परम आश्रय प्राणप्रिय रामचंद्र बाबू आप को विदित है कि नहीं ? उसके यहाँ ये सब नित्य कृत्य हैं।

गप्प पंडित—रामचंद्र हम ही को क्या परंतु मेरे जान प्रायः यह जिसको विदित नहीं ऐसा स्वल्प ही निकलेगा विशेष करके रसिकों कोः उसको तो मैं खूब जानता हूँ।

गोपाल—कुछ रोज हमारे शास्त्री जी भी थे, परंतु हमारा क्या उनका कहिए ऐसा दुर्भाग्य हुआ कि अब वर्ष-वर्ष दर्शन नहीं होने पाता। रामचंद्र जी तो इनको अपने भ्राता के समान पालन करते थे और इनसे बड़ा प्रेम रखते थे। अस्तु सारांश पंडित जी वहाँ रामचंद्र जी के बगीचे में जायँगे। वहाँ सब लहरा देख पड़ेगा और इस मिस से तो भी उनका दर्शन होगा।

बुभु०—अरे पहिले नवे शौखिनाचे इथे जाऊँ तिथे काव आहे हें पाहूं आणि नंतर रामचंद्राकडे जाऊँ ।

माधव शास्त्री—अच्छा तसेच होय आजकल न्यू फांड शास्त्री यानी ही बहुत उदारता धरली आहे बहुत सी पाखरें ही पाललो आहेत तो सर्व दृष्टीस पड़तील पण भाई मी आंत यायचा नाहीं । कारण मला पाहून त्यांना त्रास होतो ।

गोपाल—अच्छा तिथ वर तर चलशील आगे देखा जायगा ।

(सब जाते हैं और जवनिका गिरती है)

विस्वविसद्विज कृत्य विकर्तनो नामक दृश्य

श्रीचंद्रावली

नाटिका

संवत् १९३३

काव्य, सुरस सिंगार के दोउ दल, कविता नेम।
जग-जन सों कै ईस सों कहियत जेहि पर प्रेम॥
हरि-उपासना भक्ति, वैराग, रसिकता, ज्ञान।
सोधैं जग-जन मानि या चंद्रावलिहि प्रमान॥

समर्पण

प्यारे !

लो, तुम्हारी चंद्रावली तुम्हें समर्पित है। अंगीकार तो किया ही है, इस पुस्तक को भी उन्हीं की कानि से अंगीकार करो। इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है। हाँ, एक अपराध तो हुआ जो अवश्य क्षमा करना होगा। वह यह कि यह प्रेम की दशा छापकर प्रसिद्ध की गई। वा प्रसिद्ध करने ही से क्या जो अधिकारी नहीं हैं उनकी समझ ही में न आवेगा।

तुम्हारी कुछ विचित्र गति है। हमीं को देखो। जब अपराधों को स्मरण करो तब ऐसे कि कुछ कहना ही नहीं। क्षण भर जीने के योग्य नहीं। पृथ्वी पर पैर धरने को जगह नहीं। मुँह दिखाने के लायक नहीं। और जो यों देखो तो ये लंबे-लंबे मनोरथ। यह बोलचाल। यह ढिठाई कि तुम्हारा सिद्धांत कह डालना। जो हो, इस दूध खटाई की एकत्र स्थिति का कारण तुम्हीं जानो। इसमें कोई संदेह नहीं कि जैसे हों तुम्हारे बनते हैं। अतएव क्षमासमुद्र ! क्षमा करो। इसी में निर्वाह है। बस—

भाद्रपद कृष्ण १४ }
सं० १९३३ }

हरिश्चंद्र

श्रीचंद्रावली

नाटिका

—:o:—

स्थान—रंगशाला।

(ब्राह्मण आशीर्वाद पाठ करता हुआ आया)

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अलौकिक घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥

और भी

नेति नेति तत्-शब्द-प्रतिपाद्य सर्व भगवान।
चंद्रावली-चकोर श्रीकृष्ण करौ कल्यान॥

(सूत्रधार आता है)

सूत्र०—बस बस, बहुत बढ़ाने का कुछ काम नहीं। मारिष मारिष, दौड़ो दौड़ो, आज ऐसा अच्छा अवसर फिर न मिलेगा, हम लोग अपना गुण दिखाकर आज निश्चय कृतकृत्य होंगे।

(पारिपार्श्वक आकर)

पारि०—कहो कहो, आज क्यों ऐसे प्रसन्न हो रहे हो? कौन सा नाटक करने का विचार है और उसमें ऐसा कौन सा रस है कि फूले नहीं समाते?

सूत्र०—आः, तुमने अब तक न जाना? आज मेरा विचार है कि इस समय के बने एक नए नाटक की लीला करूँ, क्योंकि संस्कृत नाटकों को अपनी भाषा में अनुवाद करके तो हम लोग अनेक बार खेल चुके हैं, फिर बारंबार उन्हीं के खेलने को जी नहीं चाहता।

पारि०—तुमने बात तो बहुत अच्छी सोची, वाह क्यों न हो, पर यह तो कहो कि वह नाटक बनाया किसने है?

सूत्र०—हम लोगों के परम मित्र हरिश्चंद्र ने।

पारि०—(मुँह फेर कर) किसी समय तुम्हारी बुद्धि में भी भ्रम हो जाता है। भला वह नाटक बनाना क्या जाने। वह तो केवल आरंभशूर है। और अनेक बड़े-बड़े कवि हैं, कोई उनका प्रबंध खेलते।

सूत्र०—(हँसकर) इसमें तुम्हारा दोष नहीं, तुम तो उससे नित्य नहीं मिलते। जो लोग उसके संग में रहते हैं वे तो उसको जानते ही नहीं, तुम बिचारे क्या हो।

पारि०—(आश्चर्य से) हाँ, मैं तो जानता ही न था, भला कहो उनके दो-चार गुण मैं भी सुन सकता हूँ?

सूत्र०—क्यों नहीं, पर जो श्रद्धा से सुनो तो।

पारि०—मैं प्रति रोम को कर्ण बना कर महाराज पृथु हो रहा हूँ, आप कहिए।

सूत्र०—(आनंद से) सुनो—

परम-प्रेम-निधि रसिक-बर, अति-उदार गुन-खान।
जग-जन-रंजन आशु-कवि, को हरिचंद-समान॥
जिन श्रीगिरिधरदास कबि, रचे ग्रंथ चालीस।
ता-सुत श्रीहरिचंद कों, को न नवावै सीस॥

जग जिन तृन-सम करि तज्यौ, अपने प्रेम-प्रभाव।
करि गुलाब सों आचमन, लीजत वाको नाँव॥
चंद टरै सूरज टरै, टरैं जगत के नेम।
यह दृढ़, श्रीहरिचंद को, टरै न अविचल प्रेम॥

पारि०—वाह-वाह ! मैं ऐसा नहीं जानता था, तब तो इस प्रयोग में देर करनी ही भूल है।

(नेपथ्य में)

स्रवन-सुखद भव-भय-हरन, त्यागिन कों अत्याग।
नष्ट-जीव बिनु कौन हरि गुन सों करै विराग?
हम सौंहू तजि जात नहिं, परम पुन्य फल जौन।
कृष्णकथा सौं मधुरतर जग में भाखौ कौन?

सूत्र०—(सुनकर आनंद से) अहा ! यह देखो मेरा प्यारा छोटा भाई शुकदेव जी बनकर रंगशाला में आता है और हम लोग बातों ही से नहीं सुलझे। तो अब मारिष ! चलो, हम लोग भी अपना-अपना वेष धारण करें।

पारि०—क्षण भर और ठहरो, मुझे शुकदेव जी के इस वेष की शोभा देख लेने दो, तब चलूँगा।

सूत्र०—सच कहा, अहा कैसा सुंदर बना है, वाह मेरे भाई वाह ! क्यों न हो, आखिर तो मुझ रंगरंजक का भाई है।
अति कोमल सब अंग रंग साँवरो सलोना।
घूँघरवाले बालन पैं बलि वारौं टोना॥
भुज बिसाल, मुख चंद झलमले, नैन लजौंहैं।
जुग कमान सो खिंची गड़त हिय में दोउ भौंहैं॥

छबि लखत नैन छिन नहिं टरत शोभा नहि कहि जात है।
मनु प्रेमपुंज ह्वै रूप धरि आवत आजु लखात है॥

तो चलो, हम भी अपने-अपने स्वाँग सजकर आवें।

(दोनों जाते हैं)

अथ विष्कम्भक

(आनंद में झूमते हुए डगमगी चाल से शुकदेवजी आते हैं)

शुक०—(स्रवन-सुखद इत्यादि फिर से पढ़कर) अहा! संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है, कोई नेम धर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त, कोई मत-मतांतर के झगड़े में मतवाला हो रहा है, एक दूसरे को दोष देता है, अपने को अच्छा समझता है, कोई संसार ही को सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है, कोई परमार्थ ही को परम पुरुषार्थ मान कर घर-बार तृण के समान छोड़ देता है। अपने-अपने रंग में सब रँगे हैं। जिसने जो सिद्धांत कर लिया है वही उसके जी में गड़ रहा है और उसी के खंडन-मंडन में जन्म बिताता है। पर वह जो परम प्रेम अमृत-मय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह-स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आपसे आप खुल जाता है—वह किसी को नहीं मिली; मिले कहाँ से? सब उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं। और भी जो लोग धार्मिक कहाते हैं उनका चित्त, स्वमत-स्थापन और पर-मत-निराकरण-रूप वादविवाद से, और जो विचारे विषयी हैं उनका अनेक प्रकार की इच्छा-रूपी तृष्णा से, अवसर तो पाता ही नहीं कि इधर झुके। (सोचकर) अहा! इस मदिरा को शिवजी ने पान किया है और कोई क्या पिएगा? जिसके प्रभाव से अर्द्धांग में बैठी पार्वती भी उनको विकार नहीं कर सकतीं, धन्य हैं, और दूसरा ऐसा कौन

है। (विचारकर) नहीं नहीं, ब्रज की गोपियों ने उन्हें भी जीत लिया है। अहा! इनका कैसा विलक्षण प्रेम है कि अकथनीय और अकरणीय है ; क्योंकि जहाँ माहात्म्य-ज्ञान होता है वहाँ प्रेम नहीं होता और जहाँ पूर्ण प्रीति होती है वहाँ माहात्म्य-ज्ञान नहीं होता। ये धन्य हैं कि इनमें दोनों बातें एक संग मिलती हैं, नहीं तो मेरा सा निवृत मनुष्य भी रात-दिन इन्हीं लोगों का यश क्यों गाता।

(नेपथ्य में वीणा बजती है)

(आकाश की ओर देखकर और वीणा का शब्द सुनकर)

आहा! यह आकाश कैसा प्रकाशित हो रहा है और वीणा के कैसे मधुर स्वर कान में पड़ते हैं। ऐसा संभव होता है कि देवर्षि भगवान् नारद यहाँ आते हैं। आहा! वीणा कैसे मीठे सुर से बोलती है। (नेपथ्य-पथ की ओर देखकर) अहा वही तो हैं, धन्य हैं, कैसी सुंदर शोभा है।

पिंग जटा को भार सीस पै सुंदर सोहत।
गल तुलसी की माल बनी जोहत मन मोहत॥
कटि मृगपति को चरम चरन में घुँघरू धारत।
नारायण गोविंद कृष्ण यह नाम उचारत॥
लै बीना कर बादन करत तान सात सुर सों भरत।
जग अघ छिन मैं हरि कहि हरत जेहि सुनि नर भवजल तरत॥
जुग तूँबन की बीन परम सोभित मनभाई।
लय अरु सुर की मनहुँ जुगल गठरी लटकाई॥
आरोहन अवरोहन के कै द्वै फल सोहैं।
कै कोमल अरु तीव्र सुर भरे जग-मन मोहैं॥
कै श्रीराधा अरु कृष्ण के अगनित गुन गन के प्रगट।
यह अगम खजाने द्वै भरे नित खरचत तो हू अघट॥

मनु तीरथ-मय कृष्णचरित की काँवरि लीने।
कै भूगोल खगोल दोउ कर-अमलक कीने॥
जग-बुधि तौलन हेत मनहुँ यह तुला बनाई।
भक्ति-मुक्ति की जुगल पिटारी कै लटकाई॥
मनु गावन सों श्रीराग के बीना हू फलती भई।
कै राग-सिंधु के तरन हित, यह दोऊ तूँबी लई॥
ब्रह्म-जीव, निरगुन-सगुन, द्वैताद्वैत-बिचार।
नित्य-अनित्य विवाद के द्वै तूँबा निरधार॥
जो इक तूँबा लै कढ़ै, सो बैरागी होय।
क्यों नहिं ये सबसों बढ़ैं, लै तूँबा कर दोय॥

तो अब इनसे मिलके आज मैं परमानंद लाभ करूँगा।

(नारदजी आते हैं)

शुक०—(आगे बढ़कर और गले से मिलकर) आइए आइए, कहिए कुशल तो है ? किस देश को पवित्र करते हुए आते हैं ?

नारद—आप से महापुरुष के दर्शन हों और फिर भी कुशल न हो, यह बात तो सर्वथा असंभव है; और आप से तो कुशल पूछना ही व्यर्थ है।

शुक०—यह तो हुआ, अब कहिए आप आते कहाँ से हैं ?

नारद—इस समय तो मैं श्रीवृंदावन से आता हूँ।

शुक०—अहा ! आप धन्य हैं जो उस पवित्र भूमि से आते हैं। (पैर छूकर) धन्य है उस भूमि की रज, कहिए वहाँ क्या-क्या देखा ?

नारद—वहाँ परम प्रेमानंदमयी श्रीब्रजवल्लभी लोगों का दर्शन करके अपने को पवित्र किया और उनकी विरहावस्था देखता बरसों वहीं भूला पड़ा रहा। अहा, ये श्रीगोपीजन धन्य हैं। इनके गुणगण कौन कह सकता है—

गोपिन की सरि कोऊ नाहीं।
जिन तृन-सम कुल-लाज-निगड़ सब तोर्‌यो हरिरस माहीं॥
जिन निज बस कीने नँदनंदन बिहरीं दै गलबाँहीं।
सब संतन के सीस रहौ इन चरन-छत्र की छाँहीं॥

ब्रज की लता पता मोहि कीजै।
गोपी-पद-पंकज-पावन की रज जामैं सिर भींजै॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्रीराधे राधे मुख, यह बर मुँहमाँग्यौ हरि दीजै॥

(प्रेम-अवस्था में आते हैं और नेत्रों से आँसू बहते हैं)

शुक०—(अपने आँसू पोछकर) अहा धन्य हैं आप, धन्य हैं, अभी जो मैं न सम्हालता तो वीणा आपके हाथ से छूटके गिर पड़ती। क्यों न हो, श्रीमहादेवजी की प्रीति के पात्र होकर आप ऐसे प्रेमी हों इसमें आश्चर्य नहीं।

नारद—(अपने को सम्हालकर) अहा! ये दशा कैसे आनंद से बीते हैं, यह आप से महात्मा की संगत का फल है।

शुक०—कहिए, उन सब गोपियों में प्रेम विशेष किसका है?

नारद—विशेष किसका कहूँ और न्यून किसका कहूँ, एक से एक बढ़कर हैं। श्रीमती की कोई बात ही नहीं. वे तो श्रीकृष्ण ही हैं, लीलार्थ दो हो रही हैं; तथापि सब गोपियों में श्रीचंद्रावलीजी के प्रेम की चर्चा आजकल ब्रज के डगर-डगर में फैली हुई है। अहा! कैसा विलक्षण प्रेम है, यद्यपि माता-पिता, भाई-बन्धु सब निषेध करते हैं और उधर श्रीमतीजी का भी भय है, तथापि श्रीकृष्ण से जल में दूध की भाँति मिल रही हैं। लोकलाज-गुरुजन कोई बाधा नहीं कर सकते। किसी न किसी उपाय से श्रीकृष्ण से मिल ही रहती हैं।

शुक०—धन्य हैं, धन्य हैं ! कुल को, वरन् जगत् को अपने निर्मल प्रेम से पवित्र करनेवाली हैं।

(नेपथ्य में वेणु का शब्द होता है)

अहा ! यह वंशी का शब्द तो और भी व्रजलीला की सुधि दिलाता है। चलिए, चलिए अब तो व्रज का वियोग सहा नहीं जाता; शीघ्र ही चलके उनका प्रेम देखें, उस लीला के बिना देखे आँखें व्याकुल हो रही हैं।

(दोनों जाते हैं)

इति प्रेमसुख नामक विष्कंभक

पहिला अंक

(जवनिका उठी)

स्थान—श्रीवृंदावन, गिरिराज दूर से दिखाता है

(श्रीचंद्रावली और ललिता आती हैं)

ललिता—प्यारी, व्यर्थ इतना शोच क्यों करती है ?

चंद्रा०—नहीं सखी ! मुझे शोच किस बात का है ।

ललिता—ठीक है, ऐसी ही तो हम मूर्ख हैं कि इतना भी नहीं समझतीं ।

चंद्रा०—नहीं सखी ! मैं सच कहती हूँ, मुझे कोई शोच नहीं ।

ललिता—बलिहारी सखी ! एक तू ही तो चतुर है, हम सब तो निरी मूर्ख हैं ।

चंद्रा०—नहीं सखी ! जो कुछ शोच होता तो मैं तुझसे कहती न । तुझसे ऐसी कौन बात है जो छिपाती ?

ललिता—इतनी ही तो कसर है, जो तू मुझे अपनी प्यारी सखी समझती तो क्यों छिपाती ?

चंद्रा०—चल मुझे दुःख न दे, भला मेरी प्यारी सखी तू न होगी तो और कौन होगी ?

ललिता—पर यह बात मुख से कहती है, चित्त से नहीं ।

चंद्रा०—क्यों ?

ललिता—जो चित्त से कहती तो फिर मुझसे क्यों छिपाती ?

चंद्रा०—नहीं सखी, यह केवल तेरा झूठा संदेह है ।

ललिता—सखी, मैं भी इसी व्रज में रहती हूँ और सब के रंग-ढंग देखती ही हूँ। तू मुझसे इतना क्यों उड़ती है? क्या तू यह समझती है कि मैं यह भेद किसी से कह दूँगी! ऐसा कभी न समझना। सखी, तू तो मेरी प्राण है। मैं तेरा भेद किससे कहने जाऊँगी?

चंद्रा०—सखी, भगवान् न करे कि किसी को किसी बात का संदेह पड़ जाय; जिसको जो संदेह पड़ जाता है वह फिर कठिनता से मिटता है।

ललिता—अच्छा, तू सौगंद खा।

चंद्रा०—हाँ सखी, तेरी सौगंद।

ललिता—क्या मेरी सौगंद?

चंद्रा०—तेरी सौगंद कुछ नहीं है।

ललिता—क्या कुछ नहीं है, फिर तू चली न अपनी चाल से? तेरी छलविद्या कही नहीं जाती। तू व्यर्थ इतना क्यों छिपाती है! सखी, तेरा मुखड़ा कहे देता है कि तू कुछ न कुछ सोचा करती है।

चंद्रा०—क्यों सखी, मेरा मुखड़ा क्या कहे देता है?

ललिता—यही कहे देता है कि तू किसी की प्रीति में फँसी है।

चंद्रा०—बलिहारी सखी, मुझे अच्छा कलंक दिया।

ललिता—यह बलिहारी कुछ काम न आवेगी, अंत में फिर मैं ही काम आऊँगी और मुझी से सब कुछ कहना पड़ेगा, क्योंकि इस रोग का वैद्य मेरे सिवा दूसरा कोई न मिलेगा।

चंद्रा०—पर सखी जब कोई रोग हो तब न?

ललिता—फिर वही बात कहे जाती है। अब क्या मैं इतना भी नहीं समझती! सखी, भगवान् ने मुझे भी आँखें दी हैं और मेरे भी मन है और मैं कुछ ईंट-पत्थर की नहीं हूँ।

चंद्रा०—यह कौन कहता है कि तू ईंट-पत्थर की बनी है, इससे क्या ?

ललिता—इससे यह कि इस ब्रज में रहकर उससे वही बची होगी जो ईंट-पत्थर की होगी।

चंद्रा०—किससे ?

ललिता—जिसके पीछे तेरी यह दशा है।

चंद्रा०—किसके पीछे मेरी यह दशा है ?

ललिता—सखी, तू फिर वही बात कहे जाती है। मेरी रानी, ये आँखें ऐसी बुरी हैं कि जब किसी से लगती हैं तब कितना भी छिपाओ नहीं छिपतीं।

छिपाए छिपत न नैन लगे।
उघरि परत, सब जानि जात हैं घूँघट में न खगे॥
कितनो करौ दुराव, दुरत नहीं जब ये प्रेम-पगे।
निडर भए उघरे से डोलत मोहनरंग रँगे॥

चंद्रा०—वाह सखी क्यों न हो, तेरी क्या बात है। अब तू ही तो एक पहेली बूझनेवालों में बची है। चल, बहुत झूठ न बोल, कुछ भगवान् से भी डर।

ललिता—जो तू भगवान् से डरती तो झूठ क्यों बोलती ? वाह सखी! अब तो तू बड़ी चतुर हो गई है। कैसा अपना दोष छिपाने को मुझे पहिले ही से झूठी बना दिया। (हाथ जोड़कर) धन्य है, तू दंडवत् करने के योग्य है। कृपा करके अपना बाँयाँ चरण निकाल तो मैं भी पूजा करूँ। चल मैं आज पीछे तुझसे कुछ न पूछूँगी।

चंद्रा०—(कुछ सकपकानी सी होकर) नहीं सखी, तू क्यों झूठी है, झूठी तो मैं हूँ, और जो तू ही बात न पूछेगी तो कौन

बात पूछेगा! सखी, तेरे ही भरोसे तो मैं ऐसी निडर रहती हूँ और तू ऐसी रूसी जाती है!

ललिता—नहीं, बस अब मैं कभी कुछ नहीं पूछने की। एक बेर पूछ कर फल पा चुकी।

चंद्रा०—(हाथ जोड़कर) नहीं सखी, ऐसी बात मुँह से मत निकाल। एक तो मैं आप ही मर रही हूँ, तेरी बात सुनने से और भी अधमरी हो जाऊँगी। (आँखों में आँसू भर लेती है)

ललिता—प्यारी, तुझे मेरी सौगंद। उदास न हो, मैं तो सब भाँति तेरी हूँ और तेरे भले के हेतु प्राण देने को तैयार हूँ। यह तो मैंने हँसी की थी। क्या मैं नहीं जानती कि तू मुझसे कोई बात न छिपावेगी और छिपावेगी तो काम कैसे चलेगा, देख!

हम भेद न जानिहैं जो पै कछू
औ दुराव सखी हम मैं परिहै।
कहि कौन मिलैहै पियारे पियैं
पुनि कारज कासों सबै सरिहै॥
बिन मोसों कहै न उपाव कछू
यह बेदन दूसरी को हरिहै।
नहिं रोगी बताइहै रोगहि जौ
सखी बापुरो बैद कहा करिहै॥

चंद्रा०—तौ सखी, ऐसी कौन बात है जो तुझसे छिपी है? तू जान बूझ के बार-बार क्यों पूछती है? ऐसे पूछने को तो मुँह चिढ़ाना कहते हैं और इसके सिवा मुझे व्यर्थ याद दिलाकर क्यों दुःख देती है? हा!

ललिता—सखी, मैं तो पहिले ही समझी थी, यह तो केवल तेरे हठ करने से मैंने इतना पूछा, नहीं तो मैं क्या नहीं जानती?

चंद्रा०—सखी, मैं क्या करूँ, मैं कितना चाहती हूँ कि यह ध्यान भुला दूँ, पर उस निठुर की छवि भूलती नहीं, इसी से सब जान जाते हैं।

ललिता—सखी, ठीक है।

लगौंही चितवनि औरहि होति।
दुरत न लाख दुराओ कोऊ प्रेम झलक की जोति॥
घूँघट मैं नहिं थिरत तनिक हूँ अति ललचौंहीं बानि।
छिपत न कैसहुँ प्रीति निगोड़ी अंत जात सब जानि॥

चंद्रा०—सखी, ठीक है। जो दोष है वह इन्हीं नेत्रों का है। यही रीझते, यही अपने को छिपा नहीं सकते और यही दुष्ट अंत में अपने किए पर रोते हैं।

सखी ये नैना बहुत बुरे।
तब सों भए पराये, हरि सों जब सों जाइ जुरे॥
मोहन के रस बस ह्वै डोलत तलफत तनिक दुरे।
मेरी सीख प्रीति सब छाँड़ी ऐसे ये निगुरे॥
जग खीझ्यौ बरज्यौ पै ये नहिं हठ सों तनिक मुरे।
अमृत-भरे देखत कमलन से विष के बुते छुरे॥

ललिता—इसमें क्या संदेह है। मुझ पर तो सब कुछ बीत चुकी है। मैं इनके व्यवहारों को अच्छी रीति से जानती हूँ। ये निगोड़े नैन ऐसे ही होते हैं।

होत सखि ये उलझौंहैं नैन।
उरझि परत, सुरझ्यौ नहिं जानत, सोचत समुझत हैं न॥
कोऊ नाहिं बरजै जो इनको बनत मत्त जिमि गैन।
कहा कहौं इन बैरिन पाछे होत लैन के दैन॥

चंद्रा०—और फिर इनका हठ ऐसा है कि जिसकी छबि पर रीझते हैं उसे भूलते नहीं, और कैसे भूलें, क्या वह भूलने के योग्य है, हा!

नैना वह छबि नाहिन भूले।
दया-भरी चहुँ दिसि की चितवनि नैन कमल-दल फूले॥
वह आवनि, वह हँसनि छबीली, वह मुसकनि चित चोरैं।
वह बतरानि, मुरनि हरि की वह, वह देखन चहुँ कोरैं॥
वह धीरी गति कमल फिरावन कर लै गायन पाछे।
वह बीरी मुख बेनु बजावनि पीत पिछौरी काछे॥
परबस भए फिरत हैं नैना इक छन टरत न टारे।
हरि-ससि-मुख ऐसी छबि निरखत तन मन धन सब हारे॥

ललिता—सखी मेरी तो यह बिपति भोगी हुई है, इससे मैं तुझे कुछ नहीं कहती; दूसरी होती तो तेरी निंदा करती और तुझे इससे रोकती।

चंद्रा०—सखी, दूसरी होती तो मैं भी तो उससे यों एक संग न कह देती। तू तो मेरी आत्मा है। तू मेरी दुःख मिटावेगी कि उलटा समझावेगी?

ललिता—पर सखी, एक बड़े आश्चर्य की बात है कि जैसी तू इस समय दुखी है वैसी तू सर्वदा नहीं रहती।

चंद्रा०—नहीं सखी, ऊपर से दुखी नहीं रहती पर मेरा जी जानता है जैसे रातें बीतती हैं।

मनमोहन तें बिछुरी जब सों
तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
'हरिचंद जू' प्रेम के फंद परी
कुल की कुल लाजहि खोवती हैं॥

दुःख के दिन कों कोउ भाँति बितै
बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हमहीं अपुनी दशा जानैं सखी
निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं॥

ललिता—यह हो पर मैंने तुझे जब देखा तब एक ही दशा में देखा और सर्वदा तुझे अपनी आरसी वा किसी दर्पण में मुँह देखते पाया पर वह भेद आज खुला।

हौं तो याही सोच मैं बिचारत रही री काहे
दरपन हाथ तें न छिन बिसरत है।
त्यौंही 'हरिचंद जू' बियोग औ सँजोग दोऊ
एक से तिहारे कछु लखि न परत है॥
जानो आज हम ठकुरानी तेरी बात
तू तौ परम पुनीत प्रेम पथ बिचरत है।
तेरे नैन मूरति पियारे की बसति, ताहि
आरसी मैं रैन दिन देखिबो करत है।

सखी! तू धन्य है, बड़ी भारी प्रेमिन है और प्रेम शब्द को सार्थक करनेवाली और प्रेमियों की मंडली की शोभा है।

चंद्रा०—नहीं सखी! ऐसा नहीं है। मैं जो आरसी देखती थी उसका कारण कुछ दूसरा ही है। हा! (लंबी साँस लेकर) सखी! मैं जब आरसी में अपना मुँह देखती और अपना रंग पीला पाती थी तब भगवान् से हाथ जोड़कर मनाती थी कि भगवान्, मैं उस निर्दयी को चाहूँ पर वह मुझे न चाहे, हा! (आँसू टपकते हैं)।

ललिता—सखी, तुझे मैं क्या समझाऊँगी, पर मेरी इतनी बिनती है कि तू उदास मत हो। जो तेरी इच्छा हो, पूरी करने को उद्यत हूँ।

चंद्रा०—हा ! सखी यही तो आश्चर्य है कि मुझे कुछ इच्छा नहीं है और न कुछ चाहती हूँ तो भी मुझको उसके वियोग का बड़ा दुःख होता है।

ललिता—सखी, मैं तो पहिले ही कह चुकी कि तू धन्य है। संसार में जितना प्रेम होता है, कुछ इच्छा लेकर होता है और सब लोग अपने ही सुख में सुख मानते हैं, पर उसके विरुद्ध तू बिना इच्छा के प्रेम करती है और प्रीतम के सुख से सुख मानती है। यह तेरी चाल संसार से निराली है। इसी से मैंने कहा था कि तू प्रेमियों के मंडली को पवित्र करने वाली है।

(चंद्रावली नेत्रों में जल भर कर मुख नीचा कर लेती है)

(दासी आकर)

दासी—अरी, मैया खीझ रही है के वाहि घर के कछू और हू काम-काज हैं के एक हाहा ठीठी ही है, चल उठि, भोर सों यहीं पड़ी रही।

चंद्रा०—चल आऊँ, बिना बात की बकवाद लगाई। (ललिता से) सुन सखी, इसकी बातें सुन, चल चलें। (लंबी साँस लेकर उठती है)

(तीनों जाती हैं)

स्नेहालाप नामक पहिला अंक समाप्त।

दूसरा अंक

स्थान—केले का वन

समय संध्या का, कुछ बादल छाए हुए

(वियोगिनी बनी हुई श्रीचंद्रावली जी आती हैं)

चंद्रा०—(एक वृक्ष के नीचे बैठकर) वाह प्यारे ! वाह ! तुम और तुम्हारा प्रेम दोनों विलक्षण हैं; और निश्चय बिना तुम्हारी कृपा के इसका भेद कोई नहीं जनता; जानें कैसे ? सभी उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं। जिसने जो समझा है उसने वैसा ही मान रखा है। हा ! यह तुम्हारा जो अखंड परमानंदमय प्रेम है और जो ज्ञान वैराग्यादिकों को तुच्छ करके परम शांति देने वाला है उसका कोई स्वरूप ही नहीं जानता, सब अपने ही सुख में और अभिमान में भूले हुए हैं; कोई किसी स्त्री से वा पुरुष से उसको सुंदर देखकर चित्त लगाना और उससे मिलने के अनेक यत्न करना इसी को प्रेम कहते हैं, और कोई ईश्वर की बड़ी लंबी-चौड़ी पूजा करने को प्रेम कहते हैं—पर प्यारे ! तुम्हारा प्रेम इन दोनों से विलक्षण है, क्योंकि यह अमृत तो उसी को मिलता है जिसे तुम आप देते हो। (कुछ ठहरकर) हाय ! किससे कहूँ और क्या कहूँ, और क्यों कहूँ, और कौन सुने और सुने भी तो कौन समझे—हा !

जग जानत कौन है प्रेम-बिथा,
केहि सों चरचा या बियोग की कीजिए।
पुनि को कही मानै कहा समुझै कोउ
क्यौं बिन बात की रारहि लीजिए॥
नित जो 'हरिचंद जू' बीतै सहै,
कहिकै जग क्यौं परतीतहि छीजिए।
सब पूछत मौन क्यों बैठ रही,
पिय प्यारे कहा इन्हैं उत्तर दीजिए॥

क्योंकि—

मरम की पीर न जानत कोय।
कासों कहौं कौन पुनि मानैं बैठ रहीं घर रोय॥
कोऊ जरनि न जाननहारी बे-महरम सब लोय।
अपुनो कहत सुनत नहिं मेरी केहि समुझाऊँ सोय॥
लोक-लाज कुल की मरजादा दीनी है सब खोय।
'हरीचंद' ऐसेहि निबहैगी होनी होय सो होय॥

परंतु प्यारे, तुम तो सुननेवाले हो? यह आश्चर्य है कि तुम्हारे होते हमारी यह गति हो। प्यारे! जिनको नाथ नहीं होते वे अनाथ कहाते हैं। (नेत्रों से आँसू गिरते हैं) प्यारे! जो यही गति करनी थी तो अपनाया क्यों?

पहिले मुसुकाइ लजाइ कछू
क्यौं चितै मुरि मो तन छाम कियो।
पुनि नैन लगाइ बढ़ाइकै प्रीति
निबाहन को क्यों कलाम कियो॥
'हरिचंद' भए निरमोही इते निज
नेह को यों परिनाम कियो।

मन माँहि जो तोरन ही की हुती,
अपनाइकै क्यों बदनाम कियो ॥

प्यारे, तुम बड़े निरमोही हो। हा! तुम्हें मोह भी नहीं आता? (आँख में आँसू भरकर) प्यारे, इतना तो वे नहीं मनाते जो पहिले सुख देते हैं, तो तुम किस नाते इतना सताते हो? क्योंकि—

जिय सूधी चितौन की साधै रही,
सदा बातन मैं अनखाय रहे।
हँसिकै 'हरिचंद' न बोले कभूँ,
जिय दूरहि सों ललचाय रहे॥
नहि नेकु दया उर आवत है,
करिकै कहा ऐसे सुभाय रहे।
सुख कौन सो प्यारे दियो पहिले,
जिहिके बदले यों सताय रहे॥

हा! क्या तुम्हें लाज भी नहीं आती? लोग तो सात पैर संग चलते हैं उसका जन्म भर निवाह करते हैं और तुमको नित्य की प्रीति का निबाह नहीं है! नहीं-नहीं, तुम्हारा तो ऐसा सुभाव नहीं था, यह नई बात है, यह बात नई है या तुम आप नये हो गए हो? भला कुछ तो लाज करो।

कित कों ढरिगो वह प्यार सबै,
क्यों रुखाई नई यह साजत हौ।
'हरिचंद' भए हौ कहा के कहा,
अनबोलिबे में नहिं लाजत हौ॥
नित को मिलनो तो किनारे रह्यो,
मुख देखत ही दुरि भाजत हौ।

पहिले अपनाइ बढ़ाईके नेह
न रूसिबे में अब लाजत हौ॥
प्यारे, जो यही गति करनी थी तो पहिले सोच लेते। क्योंकि—

तुम्हरे तुम्हरे सब कोउ कहैं,
तुम्हैं सो कहा प्यारे सुनात नहीं।
बिरुदावली आपुनो राखौ मिलौ,
मोहि सोचिबे को कोउ बात नहीं॥
'हरिचंद जू' होनी हुती सो भई,
इन बातन सों कछू होत नहीं।
अपनावते सोच बिचारि तबै,
जलपान कै पूछनो जात नहीं॥

प्राणनाथ!—(आँखों में आँसू उमड़ उठे) अरे नेत्रो! अपने किए का फल भोगो।

धाइकै आगे मिलीं पहिले तुम,
कौन सों पूछिकै सो मोहि भाखौ।
त्यौं सब लाज तजी छिन मैं,
केहिके कहे एतो कियो अभिलाखौ॥
काज बिगारि सबै अपनो
'हरिचंद जू' धीरज क्यौं नहिं राखौ।
क्यौं अब रोइकै प्रान तजौ,
अपुने किए को फल क्यौं नहिं चाखौ॥

हा!

इन दुखियान कों न सुख सपने हू मिल्यौ,
योंही सदा व्याकुल बिकल अकुलायँगी।

प्यारे 'हरिचंद जू' की बीती जानि औध जौ पैं
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायँगी ॥
देख्यौ एक बार हू न नैन भरि तोहि यातें
जौन-जौन लोक जैहैं तहीं पछितायँगी।
बिना प्रानप्यारे भए दरस तुम्हारे हाय,
देखि लीजौ आँखैं ये खुली ही रहि जायँगी ॥

परंतु प्यारे, अब इनको दूसरा कौन अच्छा लगेगा, जिसे देखकर यह धीरज धरेंगी, क्योंकि अमृत पीकर फिर छाछ कैसे पियेंगी।

बिछुरे पिय के जग सूनो भयो,
अब का करिए कहि पेखिए का।
सुख छाँड़िके संगम को तुम्हरे,
इन तुच्छन को अब लेखिए का ॥
'हरिचंद जू' हीरन को व्यवहार कै
काँचन कों लै परेखिए का।
जिन आँखिन में तुव रूप बस्यो,
उन आँखिन सों अब देखिए का ॥

इससे नेत्र! तुम तो अब बंद ही रहो। (आँचल से नेत्र छिपाती है)

(बनदेवी*, संध्या† और वर्षा‡ आती हैं)

संध्या—अरी बनदेवी! यह कौन आँखिनैं मूँदिकै अकेली या निरजन बन मैं बैठि रही है?

---

* हरा कपड़ा, पत्ते का किरीट, फूलों की माला।

† गहिरा नारंगी कपड़ा।

‡ रंग साँवला, लाल कपड़ा।

बन०—अरी का तू याहि नायँ जानै ? यह राजा चंद्रभानु की बेटी चंद्रावली है।

वर्षा—तौ यहाँ क्यों बैठी है ?

बन०—राम जानै। (कुछ सोचकर) अहा जानी ! अरी यह तो सदा ह्याँई बैठी बक्यो करैहै और यह तो या बन के स्वामी के पीछे बावरी होय गई है।

वर्षा—तौ चलौ यासूँ कछू पूछैं।

बन०—चल।

(तीनों पास जाती हैं)

बन०—(चंद्रावली के कान के पास) अरी मेरी बन की रानी चंद्रावली (कुछ ठहरकर) राम ! सुनैहू नहीं है ! (और ऊँचे सुर से) अरी मेरी प्यारी सखी चंद्रावली ! (कुछ ठहरकर) हाय ! यह तो अपुने सों बाहर होय रही है। अब काहे कों सुनैगी। (और ऊँचे सुर से) अरी ! सुनै नायनै री मेरी अलख लड़ैती चंद्रावली !

चंद्रा०—(आँख बंद किए ही) हाँ हाँ अरी क्यों चिल्लाय है ! चोर भाग जायगो—

बन०—कौन सो चोर ?

चंद्रा०—माखन को चोर, चीरन को चोर और मेरे चित्त को चोर।

बन०—सो कहाँ सों भाग जायगो ?

चंद्रा०—फेर बके जाय है, अरी मैंने अपनी आँखिन मैं मूँदि राख्यौ है सो तू चिल्लायगी तो निकसि भागैगो।

(बनदेवी चंद्रावली की पीठ पर हाथ फेरती है)

चंद्रा०—(जल्दी से उठ, बनदेवी का हाथ पकड़कर) कहो प्राणनाथ ! अब कहाँ भागोगे ?

(बनदेवी हाथ छुड़ाकर एक ओर वर्षा, संध्या दूसरी ओर वृक्षों के पास हट जाती हैं)

चंद्रा०—अच्छा क्या हुआ, योंही हृदय से भी निकल जाओ तो जानूँ, तुमने हाथ छुड़ा लिया तो क्या हुआ मैं तो हाथ नहीं छोड़ने की। हा! अच्छी प्रीति निबाही!

(बनदेवी सीटी बजाती है)

चंद्रा०—देखो दुष्ट को, मेरा तो हाथ छुड़ाकर भाग गया, अब न-जानें कहाँ खड़ा बंसी बजा रहा है। अरे छलिया कहाँ छिपा है? बोल बोल कि जीते जी न बोलेगा! (कुछ ठहरकर) मत बोल, मैं आप पता लगा लूँगी। (बन के वृक्षों से पूछती है) अरे वृक्षो, बताओ तो मेरा लुटेरा कहाँ छिपा है? क्यों रे मोरो, इस समय नहीं बोलते? नहीं तो रात को बोल बोल के प्राण खाए जाते थे! कहो न वह कहाँ छिपा है? (गाती है)

अहो अहो बन के रूख कहूँ देख्यो पिय प्यारो।
मेरो हाथ छुड़ाइ कहौ वह कितै सिधारो॥
अहो कदंब अहो अंब-निंब अहो बकुल-तमाला।
तुम देख्यौ कहुँ मनमोहन सुंदर नँदलाला॥
अहो कुंज बन लता बिरुध तृन पूछत तोसों।
तुम देखे कहुँ श्याम मनोहर कहहु न मोसों॥
अहो जमुना अहो खग मृग हो अहो गोबरधन गिरि।
तुम देखे कहुँ प्रानपियारे मनमोहन हरि॥

(एक-एक पेड़ से जाकर गले लगती है। बनदेवी फिर सीटी बजाती है)

चंद्रा०—अहा! देखो उधर खड़े प्राणप्यारे मुझे बुलाते हैं, तो चलो उधर ही चलें। (अपने आभरण सँवारती है)

(वर्षा और संध्या पास आती हैं)

व०—(हाथ पकड़कर)

कहाँ चली सजि कै ?—

चंद्रा०— पियारे सों मिलन काज,—

व०— कहाँ तू खड़ी है ?—

चंद्रा०— प्यारे ही को यह धाम है।

व०—कहा कहै मुख सों ?—

चंद्रा०— पियारे प्रान प्यारे—

व०— कहा काज है—

चंद्रा०— पियारे सों मिलन मोहि काम है॥

व०—मैं हूँ कौन बोल तौ ?—

चंद्रा०— हमारे प्रानप्यारे हौ न ?—

व०—तू है कौन ?—

चंद्रा०— पीनम पियारे मेरो नाम है।

संध्या—(आश्चर्य) पूछ्त सखी के पकै उत्तर बतावति जकी सी एक रूप आज श्यामा भई श्याम है॥

(बनदेवी आकर चंद्रावली की पीछे से आँख बंद करती है)

चंद्रा०—कौन है कौन है ?

बन०—मैं हूँ।

चंद्रा०—कौन तू है ?

बन०—(सामने आकर) मैं हूँ, तेरी सखी वृंदा।

चंद्रा०—तो मैं कौन हूँ ?

बन०—तू तो मेरी प्यारी सखी चंद्रावली है न ? तू अपने हू को भूल गई।

चंद्रा०—तो हम लोग अकेले वन में क्या कर रही हैं ?

बन०—तू अपने प्राणनाथै खोजि रही है न ?

चंद्रा०—हा ! प्राणनाथ ! हा ! प्यारे ! प्यारे अकेले छोड़के कहाँ चले गए ? नाथ ! ऐसी ही बदी थी ! प्यारे यह वन इसी विरह का दुःख करने के हेतु बना है कि तुम्हारे साथ बिहार करने को ? हा !

जो पै ऐसिहि करन रही।
तो फिर क्यों अपने मुख सों तुम रस की बात कही ॥
हम जानी ऐसिहि बीतैगी जैसी बीति रही।
सो उलटी कीनी विधिना ने कछू नाहिं निबही ॥
हमैं बिसारि अनत रहे मोहन औरै चाल गही।
'हरीचंद' कहा को कहा है गयो कछु नहिं जात कही ॥

(रोती है)

बन०—(आँखों में आँसू भरके) प्यारी ! अरी इतनो क्यों घबराई जाय है, देख तौ यह सखी खड़ी हैं सो कहा कहैंगी।

चंद्रा०—ये कौन हैं ?

बन०—(वर्षा को दिखाकर) यह मेरी सखी वर्षा है।

चंद्रा०—यह वर्षा है तो हा ! मेरा वह आनंद का घन कहाँ है ? हा ! मेरे प्यारे ! प्यारे कहाँ बरस रहे हो ? प्यारे गरजना इधर और बरसना और कहीं ?

बलि साँवरी सूरत मोहनी मूरत
आँखिन को कबौं आइ दिखाइए।
चातक सी मरैं प्यासी परी
इन्हैं पानिप रूप सुधा कबौ प्याइए ॥
पीत पटै बिजुरी से कबौ
'हरिचंद जू' धाइ इतै चमकाइए।
इतहू कबौ आइकै आनँद के घन
नेह को मेह पिया बरसाइए ॥

प्यारे! चाहे गरजो चाहे लरजो, इन चातकों को तो तुम्हारे बिना और गति ही नहीं है, क्योंकि फिर यह कौन सुनेगा कि चातक ने दूसरा जल पी लिया; प्यारे! तुम तो ऐसे करुणा के समुद्र हो कि केवल हमारे एक जाचक के माँगने पर नदी-नद भर देते हो तो चातक के इस छोटे चंचु-पुट भरने में कौन श्रम है क्योंकि प्यारे हम दूसरे पक्षी नहीं हैं कि किसी भाँति प्यास बुझा लेंगे हमारे तो हे श्याम घन, तुम्ही अवलंब हौ; हा!

(नेत्रों में जल भर लेती हैं और तीनों परस्पर चकित होकर देखती हैं)

बन०—सखी, देखि तौ कछू इनकी हू सुन कछू इनकी हू लाज कर। अरी, यह तो नई आई हैं ये कहा कहैंगी?

संध्या—सखी, यह कहा कहै है हम तो याको प्रेम देखि बिन मोल की दासी होय रही हैं और तू पंडिताइन बनिकै ज्ञान छाँटि रही है।

चंद्रा०—प्यारे! देखो ये सब हँसती हैं—तो हँसैं, तुम आओ, कहाँ बन में छिपे हो? तुम मुँह दिखलाओ, इनको हँसने दो।

धारन दीजिए धीर हिए कुलकानि को आजु बिगारन दीजिए।
मारन दीजिए लाज सबै 'हरिचंद' कलंक पसारन दीजिए॥
चार चवाइन कों चहुँ ओर सों सोर मचाइ पुकारन दीजिए।
छाँड़ि सँकोचन चंद-मुखै भरि लोचन आजु निहारन दीजिए॥

क्योंकि—

ये दुखियाँ सदा रोयो करैं बिधना इनको कबहूँ न दियो सुख।
झूठहीं चार चवाइन के डर देख्यौ कियो उनहीं को लिये रुख॥
छाँड़्यो सबै 'हरिचंद' तऊ न गयो जिय सों यह हाय महा दुख।
प्रान बचैं केहि भाँतिन सों तरसैं जब दूर सों देखिबे कों मुख॥

(रोती है)

बन०—(आँसू अपने आँचल से पोंछकर) तौ ये यहाँ नाँय रहिबे की, सखी एक घड़ी धीरज धर जब हम चली जायँ तब जो चाहियो सो करियो।

चंद्रा०—अरी सखियो मोहि छमा करियो, अरी देखौ तो तुम मेरे पास आईं और हमने तुमारो कछू सिस्टाचार न कियो। (नेत्रों में आँसू भरकर हाथ जोड़कर) सखी, मोहि छमा करियो और जानियो कि जहाँ मेरी बहुत सखी हैं उनमें एक ऐसी कुलकलङ्कनी हू है।

संध्या और वर्षा—नहीं नहीं सखी, तू तो मेरो प्रानन सों हू प्यारी है, सखी हम सच कहैं तेरी सी साँचो प्रेमिन एक हू न देखी, ऐसे तो सबी प्रेम करैं पर तू सखी धन्य है।

चंद्रा०—हाँ सखी, और (संध्या को दिखाकर) या सखी को नाम का है?

बन०—याको नाम संध्या है।

चंद्रा०—(घबड़ाकर) संध्यावली आई? क्या कुछ सँदेसा लाई? कहो कहा प्राणप्यारे ने क्या कहा? सखी बड़ी देर लगाई। (कुछ ठहर कर) संध्या हुई? संध्या हुई? तो वह बन से आते होंगे। सखियो, चलो झरोखों में बैठें, यहाँ क्यों बैठी हौ।

(नेपथ्य में चंद्रोदय होता है; चंद्रमा को देखकर)

अरे अरे वह देखो आया

(उँगली से दिखाकर)

देख सखी देख अनमेख ऐसो भेख यह
जाहि पेख तेज रबिहू को मंद ह्वै गयो।
'हरीचंद' ताप सब जिय को नसाइ चित
आनँद बढ़ाइ भाइ अति छबि सों छयो॥

ग्वाल-उडुगन बीच बेनु को बजाइ सुधा-
रस बरखाइ मान-कमल लजा दयो।
गोरज-समूह-घन-पटल उघारि वह
गोप-कुल-कुमुद-निसाकर उदै भयो॥

चलो चलो उधर चलो। (उधर दौड़ती है)

वन०—(हाथ पकड़कर) अरी बावरी भई है, चंद्रमा निकस्यो है कै वह बन सों आवै है!

चंद्रा—(घबड़ाकर) का सूरज निकस्यो? भोर भयो। हाय! हाय! हाय! या गरमी में या दुष्ट सूरज को तपन कैसें सही जायगी। अरे भोर भयो, हाय भोर भयो! सब रात ऐसे ही बीत गई, हाय फेर वही घर के व्यौहार चलेंगे, फेर वही नहानो, वही खानो, वेई बातें, हाय!

केहि पाप सों पापी न प्रान चलैं,
अटके कित कौन विचार लयो।
नहिं जानि परै 'हरिचंद' कछू
बिधि ने हम सों हठ कौन ठयो॥
निसि आजहू की गई हाय बिहाय
पिया बिनु कैसे न जीव गयो।
हत-भागिनी आँखिन कों नित के
दुख देखिबे कों फिर भोर भयो।

तो चलो घर चलें। हाय हाय! माँ सों कौन बहाना करूँगी, क्योंकि वह जात ही पूछैगी कि सब रात अकेली बन मैं कहा करती रही। (कुछ ठहर कर) पर प्यारे! भला यह तो बताओ कि तुम आज की रात कहाँ रहे? क्यों देखो तुम हमसे झूठ बोले न! बड़े झूठे हौ, हा! अपनों

से तो झूठ मत बोला करो, आओ आओ अब तो आओ।
आओ मेरे झूठन के सिरताज।
छल के रूप कपट की मूरत मिथ्याबाद-जहाज॥
क्यौं परतिज्ञा करी रह्यौ जो ऐसा उलटो काज।
पहिले तो अपनाइ न आवत तजिबे में अब लाज॥
चलो दूर हटो बड़े झूठे हो।
आओ मेरे मोहन प्यारे झूठे।
अपनी हारि प्रतिज्ञा कपटी उलटे हम सों रूठे॥
मति परसौ तन रँगे और के रंग अधर तुव जूठे।
ताहू पै तनिकौ नहिं लाजत निरलज अहो अनूठे॥
पर प्यारे बताओ तो तुम्हारे बिना रात क्यों इतनी बढ़ जाती है?

काम कछू नहिं यासों हमैं,
सुख सों जहाँ चहिए रैन बिताइए।
पै जो करैं बिनती 'हरिचन्द जू'
उत्तर ताको कृपा कै सुनाइए॥
एक मतो उनसों क्यौं कियो तुम
सोऊ न आवै जो आप न आइए।
रूसिबे सों पिय प्यारे तिहारे
दिवाकर रूसत है क्यों बताइए॥

जाओ जाओ मैं नहीं बोलती। (एक वृक्ष की आड़ में दौड़ जाती है)

तीनों—भई यह तो बावरी सी डोलै. चलौ हम सब वृक्ष की छाया में बैठें। (किनारे एक पास ही तीनों बैठ जाती हैं)

चंद्रा—(घबड़ाई हुई आती है, अंचल केश इत्यादि खुल जाते हैं) कहाँ गया, कहाँ गया? बोल! उलटा रूसना, भला

अपराध मैंने किया कि तुमने ? अच्छा मैंने किया सही, क्षमा करो, आओ, प्रगट हो, मुँह दिखाओ। भई, बहुत भई, गुरगुराना वहीं तक जहाँ तक रुलाई न आवै। (कुछ सोचकर) हा! भगवान् किसी को किसी की कनौड़ी न करै, देखो मुझको इसकी कैसी बातें सहनी पड़ती हैं। आप ही नहीं भी आता उलटा आप ही रूसता है, पर क्या करूँ अब तो फँस गई; अच्छा यों ही सही। ('अहो अहो बन के रूख, इत्यादि गाती हुई वृक्षों से पूछती है; हाय! कोई नहीं बतलाता। अरे मेरे नित के साथियो, कुछ तो सहाय करो।

अरे पौन सुख-भौन सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यौं न कहौ राधिकारौन सों मौन निवारो।
अहे भँवर तुम श्याम रंग मोहन-व्रत-धारी।
क्यौं न कहौ वा निठुर श्याम सों दसा हमारी॥
अहे हंस तुम राजबंस सरवर की शोभा।
क्यौं न कहौ मेरे मानस सों या दुख के गोभा॥
हे सारस तुम नीके बिछुरन बेदन जानौ।
तौ क्यौं पीतम सों नहिं मेरी दशा बखानौ॥
हे कोकिल-कुल श्याम रंग के तुम अनुरागी।
क्यौं नहिं बोलहु तहीं जाय जहँ हरि बड़भागी॥
हे पपिहा तुम पिउ पिउ पिय रटत सदाई।
आजहु क्यौं नहिं रटि-रटि के पिय लेहु बुलाई॥
अहे भानु तुम तो घर-घर में किरिन प्रकासो।
क्यौं नहिं पियहिं मिलाइ हमारो दुख-तम नासो॥

हाय !

कोउ नहिं उत्तर देत भए सबही निरमोही।
प्रानपियारे अब बोलौ कहाँ खोजौं तोही।

(चंद्रमा बदली की ओट हो जाता है और बादल छा जाते हैं)

(स्मरण करके) हाय ! मैं ऐसी भूली हुई थी कि रात को दिन बतलाती थी, अरे मैं किसको ढूँढ़ती थी? हा ! मेरी इस मूर्खता पर उन तीनों सखियों ने क्या कहा होगा। अरे यह तो चंद्रमा था जो बदली की ओट में छिप गया। हा ! यह हत्यारिन बरषा रितु है, मैं तो भूल ही गई थी। इस अँधेरे में मार्ग तो दिखाता ही नहीं, चलूँगी कहाँ और घर कैसे पहुँचूँगी? प्यारे देखो, जो-जो तुम्हारे मिलने में सुहावने जान पड़ते थे वही अब भयावने हो गए। हा ! जो बन आँखों से देखने में कैसा भला दिखाता था वही अब कैसा भयंकर दिखाई पड़ता है। देखो सब कुछ है एक तुम्हीं नहीं हो। (नेत्रों से आँसू गिरते हैं) प्यारे ! छोड़ के कहाँ चले गए? नाथ ! आँखें बहुत प्यासी हो रही हैं इनको रूप-सुधा कब पिलाओगे ? प्यारे, बेनी की लट बँध गई है इन्हें कब सुलझाओगे ? (रोती है) नाथ, इन आँसुओं को तुम्हारे बिना और कोई पोंछनेवाला भी नहीं है। हा ! यह गत तो अनाथ की भी नहीं होती। अरे बिधिना ! मुझे कौन सा सुख दिया था जिसके बदले इतना दुःख देता है, सुख का तो मैं नाम सुनके चौंक उठती थी और धीरज धर के कहती थी कि कभी तो दिन फिरेंगे सो अच्छे दिन फिरे। प्यारे, बस बहुत भई। अब नहीं सही जाती। मिलना हो तो जीते जी मिल जाओ। हाय ! जो भर आँखों देख भी लिया होता तो जी का उमाह निकल गया होता। मिलना दूर रहे, मैं तो मुँह देखने को तरसती थी, कभी

सपने में भी गले न लगाया, जब सपने में देखा तभी घबड़ा कर चौंक उठी। हाय! इन घरवालों और बाहरवालों के पीछे कभी उनसे रो-रोकर अपनी बिपत भी न सुनाई कि जी भर जाता। लो घरवालो और बाहरवालो! ब्रज को सम्हालो मैं तो अब यहीं...(कंठ गद्गद होकर रोने लगती है) हाय रे निठुर! मैं ऐसा निरमोही नहीं समझी थी, अरे इन बादलों की ओर देख के तो मिलता। इस ऋतु में तो परदेसी भी अपने घर आ जाते हैं पर तू न मिला। हा! मैं इसी दुःख को देखने को जीती हूँ कि बरषा आवे और तुम न आओ। हाय! फेर बरषा आई, फेर पत्ते हरे हुए, फेर कोइल बोली, पर प्यारे तुम न मिले। हाय! सब सखियाँ हिंडोले झूलती होंगी, पर मैं किसके संग झूलूँ, क्योंकि हिंडोला झुलाने वाले मिलेंगे, पर आप भींजकर मुझे बचाने वाला और प्यारी कहनेवाला कौन मिलेगा? (रोती है) हा! मैं बड़ी निर्लज्ज हूँ। अरे प्रेम! मैंने प्रेमिन बनकर तुझे भी लज्जित किया कि अब तक जीती हूँ, इन प्रानों को अब न जाने कौन लाहे लूटने हैं कि नहीं निकलते। अरे कोई देखो, मेरी छाती वज्र की तो नहीं है कि अब तक...(इतना कहते ही मूर्छा खाकर ज्योंही गिरा चाहती है उसी समय तीनों सखियाँ आकर सम्हालती हैं)

(जवनिका गिरती है)

प्रियान्वेषण नामक दूसरा अंक समाप्त

दूसरे अंक के अंतर्गत

अंकावतार

स्थान—बीथी, वृक्ष

(संध्यावली दौड़ी हुई आती है)

संध्या०—राम राम ! मैं तो दौरत-दौरत हार गई, या व्रज की गऊ का हैं सांड़ हैं; कैसी एक साथ पूँछ उठाय कै मेरे संग दौरी हैं, तापैं वा निपूते सुबल को बुरा होय, और हू तूमड़ी बजाय कै मेरी ओर उन सबन को लहकाय दीनो, अरे जो मैं एक संग प्रान छोड़ि कै न भाजती तौ उनके रपट्टा में कब की आय जाती। देखि आज वा सुबल की कौन गति कराऊँ, बड़ो ढीठ भयो है, प्रानन की हाँसी कौन काम की। देखौ तो आज सोमवार है नंदगाँव में हाट लगी होयगी मैं वहीं जाती, इन सबन ने बीच ही आय घरी, मैं चंद्रावली की पाती वाके यारैं सौंप देती तो इतनो खुटकोऊ न रहतो। (घबड़ाकर) अरे आई ये गौवें तो फेर इतैही कूँ अरराई।

(दौड़कर जाती है और चोली में से पत्र गिर पड़ता है। चंपकलता आती है)

चंपक०—(पत्र गिरा हुआ देखकर) अरे ! यह चिट्ठी किसकी पड़ी है, किसी की हो देखूँ तो इसमें क्या लिखा है। (उठाकर देखती है) राम राम ! न-जाने किस दुखिया

की लिखी है कि आँसुओं से भींजकर ऐसी चिपट गई है कि पढ़ी ही नहीं जाती और खोलने में फटी जाती है। (बड़ी कठिनाई से खोलकर पढ़ती है)

"प्यारे !

क्या लिखूँ ! तुम बड़े दुष्ट हो, चलो, भला सब अपनी वीरता हमीं पर दिखानी थी। हाँ ! भला मैंने तो लोक-वेद, अपना-बिराना सब छोड़कर तुम्हें पाया, तुमने हमें छोड़ के क्या पाया ? और जो धर्म उपदेश करो तो धर्म से फल होता है, फल से धर्म नहीं होता। निर्लज्ज, लाज भी नहीं आती, मुँह ढको फिर भी बोलने बिना डूबे जाते हो। चलो वाह ! अच्छी प्रीति निबाही। जो हो, तुम जानते ही हो, हाय कभी न करूँगी योंहीं सही, अत मरना है, मैंने अपनी ओर से खबर दे दी, अब मेरा दोष नहीं, बस।

केवल तुम्हारी"



(लम्बी साँस लेकर) हा ! बुरा रोग है, न करै कि किसी के सिर बैठे-बिठाए यह चक्र घहराय। इस चिट्ठी के देखने से कलेजा काँपा जाता है। बुरा ! तिसमें स्त्रियों की बड़ी बुरी दशा है, क्योंकि कपोतब्रत बुरा होता है कि गला घोंट डालो मुँह से बात न निकले। प्रेम भी इसी का नाम है। राम-राम ! उस मुँह से जीभ खींच ली जाय जिससे हाय निकले। इस व्यथा को मैं जानती हूँ और कोई क्या जानेगा क्योंकि "जाके पाँव न भई बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई"। यह तो हुआ पर यह चिट्ठी है किसकी ? यह न जान पड़ी, (कुछ सोचकर) अहा जानी ! निश्चय

यह चंद्रावली ही की चिट्ठी है, क्योंकि अक्तर भी उसी के से हैं और इस पर चंद्रावली का चिह्न भी बनाया है। हा ! मेरी सखी बुरी फँसी। मैं तो पहिले ही उसके लच्छनों से जान गई थी, पर इतना नहीं जानती थी; अहा गुप्त प्रीति भी विलक्षण होती है, देखो इस प्रीति में संसार की रीति से कुछ भी लाभ नहीं। मनुष्य न इधर का होता न उधर का। संसार के सुख छोड़कर अपने हाथ आप मूर्ख बन जाता है। जो हो, यह पत्र तो मैं आप उन्हें जाकर दे आऊँगी और मिलने की भी बिनती करूँगी।

(नेपथ्य में बूढ़ों के से सुर से)

हाँ तू सब करेगी।

चंप०—(सुनकर और सोचकर) अरे यह कौन है। (देखकर) न जानै कोऊ बूढ़ी फूस सी डोकरी है। ऐसो न होय कै यह बात फोड़ि कै उलटी आग लगावै, अब तो पहिलै याहि समझावनो परयो, चलूँ। [जाती है

भेद प्रकाशन नामक अङ्कावतार

तीसरा अंक

स्थान—तालाब के पास एक बगीचा

(समय तीसरा पहर, गहिरे बादल छाए हुए)

[झूला पड़ा है, कुछ सखी झूलतीं, कुछ इधर-उधर फिरती हैं]

(चंद्रावली, माधवी, काममंजरी, विलासिनी इत्यादि एक स्थान पर बैठी हैं, चंद्रकांता, वल्लभा, श्यामला, भामा झूले पर हैं, कामिनी और माधुरी हाथ में हाथ दिए घूमती हैं।)

कामिनी—सखी, देख बरसात भी अब की किस धूमधाम से आई है मानो कामदेव ने अबलाओं को निर्बल जानकर इनके जीतने को अपनी सेना भिजवाई है। धूम से चारों ओर से घूम-घूमकर बादल परे के परे जमाए बगपंगति का निशान उड़ाए लपलपाती नंगी तलवार सी बिजली चमकाते गरज-गरज कर डराते बान के समान पानी बरखा रहे हैं और इन दुष्टों का जी बढ़ाने को मोर करखा सा कुछ अलग पुकार-पुकार गा रहे हैं। कुल की मरजाद ही पर इन निगोड़ों की चढ़ाई है। मनोरथों से कलेजा उमगा आता है और काम की उमंग जो अंग-अंग में भरी हैं उनके निकले बिना जी तिलमिलाता है। ऐसे बादलों को देखकर कौन लाज की चद्दर रख सकती है और कैसे पतिव्रत पाल सकती है!

माधुरी—विशेष कर वह जो आप कामिनी हो। (हँसती है)

कामिनी—चल तुझे हँसने ही की पड़ी है। देख, भूमि चारों ओर हरी-हरी हो रही है। नदी-नाले बावली-तालाब सब भर गए। पच्छी लोग पर समेटे पत्तों की आड़ में चुपचाप सकपके से होकर बैठे हैं। बीरबहूटी और जुगनूँ पारी-पारी रात और दिन को इधर-उधर बहुत दिखाई पड़ते हैं। नदियों के करारे धमाधम टूटकर गिरते हैं। सर्प निकल-निकल अशरण से इधर-उधर भागे फिरते हैं। मार्ग बंद हो रहे हैं। परदेसी जो जिस नगर में हैं वहीं पड़े-पड़े पछता रहे हैं, आगे बढ़ नहीं सकते। वियोगियों के हिसाब को तो मानो छोटा प्रलय-काल ही आया है।

माधुरी—छोटा क्यों बड़ा प्रलयकाल आया है। पानी चारों ओर से उमड़ ही रहा है। लाज के बड़े-बड़े जहाज गारद हो चुके, भया फिर वियोगियों तो संसार डूबा ही है, तो प्रलय ही ठहरा।

कामिनी—पर तुझको तो बटेकृष्ण का अवलंब है न, फिर तुझे क्या, भांडीर बट के पास उस दिन खड़ी बात कर ही रही थी, गए हम—

माधुरी—और चंद्रावली ?

कामिनी—हां, चंद्रावली बिचारी तो आप ही गई बीती है, उसमें भी अब तो पहरे में है, नजरबंद रहती है, झलक भी नहीं देखने पाती, अब क्या—

माधुरी—जाने दे नित्य का झखना। देख, फिर पुरवैया झकोरने लगी और वृक्षों से लपटी लताएँ फिर से लरजने लगीं। साड़ियों के आंचल और दामन फिर उड़ने लगे और मोर

लोगों ने एक साथ फिर शोर किया। देख यह घटा अभी गरज गई थी पर फिर गरजने लगी।

कामिनी—सखी वसंत का ठंडा पवन और सरद की चाँदनी से राम-राम करके वियोगियों के प्राण बच भी सकते है, पर इन काली-काली घटा और पुरवैया के झोंके तथा पानी के एकतार झमाके से तो कोई भी न बचेगा।

माधुरी—तिसमें तू तो कामिनी ठहरी, तू बचना क्या जाने।

कामिनी—चल ठठोलिन। तेरी आँखों में अभी तक उस दिन की खुमारी भरी है, इसी से किसी को कुछ नहीं समझती। तेरे सिर बीते तो मालूम पड़े।

माधुरी—बीती है मेरे सिर। मैं ऐसी कच्ची नहीं कि थोड़े में बहुत उबल पड़ूँ।

कामिनी—चल, तू रुई है क्या कि न उबल पड़ेगी। स्त्री की बिसात ही कितनी। बड़े-बड़े जोगियों के ध्यान इस बरसात में छूट जाते हैं, कोई जोगी होने ही पर मन ही मन पछताते हैं, कोई जटा पटककर हाय-हाय चिल्लाते हैं, और बहुतेरे तो तूमड़ी तोड़-तोड़कर जोगी से भोगी हो ही जाते हैं।

माधुरी—तो तू भी किसी सिद्ध से कान फुँकवाकर तुमड़ी तोड़वा ले।

कामिनी—चल! तू क्या जाने इस पीर को। सखी, यही भूमि और यही कदम्ब कुछ दूसरे ही हो रहे हैं और यह दुष्ट बादल मन ही दूसरा किए देते हैं। तुझे प्रेम हो तब सूझे। इस आनंद की धुनि में संसार ही दूसरा एक विचित्र शोभावाला और सहज काम जगानेवाला मालूम पड़ता है।

माधुरी—कामिनी पर काम का दावा है इसी से हेरफेर उसी को बहुत छेड़ा करता है।

(नेपथ्य में बारम्बार मोर कूकते हैं)

कामिनी—हाय-हाय ! इस कठिन कुलाहल से बचने का उपाय एक विषपान ही है। इन दुईमारों का कूकना और पुरवैया का झकोरकर चलना यह दो बातें बड़ी कठिन हैं। धन्य हैं वे जो ऐसे समय में रंग-रंग के कपड़े पहिने ऊँची-ऊँची अटारियों पर चढ़ी पीतम के संग घटा और हरियाली देखती हैं वा बगीचों, पहाड़ों और मैदानों में गलबाहीं डाले फिरते हैं। दोनों परस्पर पानी बचाते हैं। और रंगीन कपड़े निचोड़ कर चौगुना रंग बढ़ाते हैं। झूलते हैं, झुलाते हैं, हँसते हैं, हँसाते हैं, भीगते हैं, गाते हैं, गवाते हैं, और गले लगते हैं, लगाते हैं।

माधुरी—और तेरी न कोई पानी बचानेवाला, न तुझे कोई निचोड़ने वाला, फिर चौगुने की कौन कहे ड्यौढ़ा सवाया तो तेरा रंग बढ़ेहीगा नहीं।

कामिनी—चल लुच्चिन ! जाके पायँ न भई बिवाई, सो क्या जानै पीर पराई।

(बात करती-करती पेड़ की आड़ में चली जाती हैं)

माधवी—(चंद्रावली से) सखी, श्यामला का दर्शन कर, देख कैसो सुहावनो मालूम पड़ती है। मुखचंद्र पर चूनरी चुई पड़ती है। लटें सगबगी होकर गले में लपट रही हैं। कपड़े अंग में लपट गए हैं। भींगने से मुख का पान और काजल सबकी एक विचित्र शोभा हो गई है।

चंद्रा०—क्यों न हो। हमारे प्यारे की प्यारी है। मैं पास होती तो दोनों हाथों से इसकी बलैया लेती और छाती से लगाती।

का० मं०—सखी, सचमुच आज तो इस कदम्ब के नीचे रंग बरस रहा है। जैसा समा बँधा है वैसी ही झूलनेवाली हैं। झूलने में रंग-रंग की साड़ी की अर्द्ध-चंद्राकर रेखा इंद्रधनुष की छबि दिखाती है। कोई सुख से बैठी झूले की ठंढी-ठंढी हवा खा रही है, कोई गाँती बाँधे लाँग कसे पेंग मारती है, कोई गाती है, कोई डरकर दूसरी के गले में लपट जाती है, कोई उतरने को अनेक सौगंद देती है, पर दूसरी उसको चिढ़ाने को झूला और भी झोंके से झुला देती है।

माधवी—हिंडोरा ही नहीं झूलता। हृदय में प्रीतम को झुलाने के मनोरथ और नैनों में पिया की मूर्ति भी झूल रही है। सखी, आज साँवला ही की मेंहदी और चूनरी पर तो रंग है। देख बिजुली की चमक में उसकी मुख-छबि कैसी सुंदर चमक उठती है और वैसे पवन भी बार-बार घूँघट उलट देता है। देख—

हूलति हिये में प्रानप्यारे के बिरह-सूल
फूलति उमंगभरी झूलति हिंडोरे पै।
गावति रिझावति हँसावति सबन 'हरि-
चंद' चाव चौगुनो बढ़ाइ घन घोरे पै॥
वारि वारि डारौं प्रान हँसनि मुरनि बत-
रान मुँह पान कजरारे दृग डोरे पै।
ऊनरी घटा मैं देखि दूनरी लगी है आहा
कैसी आजु चूनरी फबी है मुख गोरे पै॥

चंद्रा०—सखियो, देखो कैसो अंधेर और गजब है कि या रुत में सब अपनो मनोरथ पूरो करैं और मेरो यह दुरगत

होय ! भलो काहुवै तो दया आवती। (आँखों में आँसू भर लेती है)

माधवी—सखी, तू क्यों उदास होय है। हम सब कहा करैं, हम तो आज्ञाकारिणी दासी ठहरीं, हमारो का अख्तयार है। तऊ हममैं सों तो कोऊ कछू तोहि नायँ कहै।

का० मं०—भलो सखी, हम याहि कहा कहैंगी ! याहू तो हमारी छोटी स्वामिनी ठहरी।

विला०—हाँ सखी, हमारी तो दोऊ स्वामिनी हैं। सखी, बात यह है कै खराबी तो हम लोगन की है, ये दोऊ फेर एक की एक होयँगी। लाठी मारवे सों पानी थोरों हूँ जुदा होयगो, पर अभी जो सुन पावैं कि इनकी सखी ने चंद्रावलियै अकेलि छोड़ि दीनी तो फेर देखौ तमासा।

माधवी—हम्बै बीर। और फेर कामहू तौ हमीं सब बिगारैं। अब देखि कौन नै स्वामिनी सों चुगली खाई। हमारेई तुमारे में सों वहू है। सखी चंद्रावलियै जो दुःख देयगो वह आप दुःख पावैगो।

चंद्रा०—(आप ही आप) हाय ! प्यारे, हमारी यह दशा होती है और तुम तनिक नहीं ध्यान देते। प्यारे, फिर यह शरीर कहाँ और हम-तुम कहाँ ! प्यारे, यह संजोग हमको तो अब की ही बना है, फिर यह बातें दुर्लभ हो जायँगी। हाय नाथ ! मैं अपने इन मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमंगे कैसे निकालूँ ! प्यारे, रात छोटी है और स्वाँग बहुत हैं। जीना थोड़ा और उत्साह बड़ा। हाय ! मुझ सी मोह में डूबी को

कहीं ठिकाना नहीं। रात-दिन रोते ही बीतते हैं। कोई बात पूछनेवाला नहीं, क्योंकि संसार में जी कोई नहीं देखता, सब ऊपर ही की बात देखते हैं। हाय! मैं तो अपने-पराए सब से बुरी बनकर बेकाम हो गई। सब को छोड़कर तुम्हारा आसरा पकड़ा था सो तुमने यह गति की। हाय! मैं किसकी होके रहूँ, मैं किसका मुँह देखकर जिऊँ। प्यारे, मेरे पीछे कोई ऐसा चाहनेवाला न मिलेगा। प्यारे, फिर दीया लेकर मुझको खोजोगे। हाँ! तुमने विश्वासघात किया। प्यारे, तुम्हारे निर्दयीपन की भी कहानी चलेगी। हमारा तो कपोतव्रत है। हाय! स्नेह जगाकर दगा देने पर भी सुजान कहलाते हो। बकरा जान से गया, पर खानेवाले को स्वाद न मिला। हाय यह न समझा था कि यह परिणाम करोगे। वाह! खूब निबाह किया। बधिक भी बधकर सुध लेता है, पर तुमने न सुध ली। हाय! एक बेर तो आकर अंग में लगा जाओ। प्यारे, जीते जी आदमी का गुन नहीं मालूम होता। हाय! फिर तुम्हारे मिलने को कौन तरसेगा और कौन रोएगा। हाय! संसार छोड़ा भी नहीं जाता। सब दुःख सहती हूँ, पर इसी में फँसी पड़ी हूँ। हाय नाथ! चारों ओर से जकड़कर ऐसी बेकाम क्यों कर डाली है। प्यारे, योंही रोते दिन बीतेंगे। नाथ! यह हौस मन की मन ही में रह जायगी। प्यारे, प्रगट होकर संसार का मुँह क्यों नहीं बंद करते और क्यों शंकाद्वार खुला रखते हो? प्यारे, सब दीनदयालुता कहाँ गई! प्यारे, जल्दी इस संसार से छुड़ाओ। अब नहीं सही जाती। प्यारे, जैसी हैं, तुम्हारी हैं। प्यारे, अपने

कनौड़े को जगत की कनौड़ी मत बनाओ। नाथ, जहाँ इतने गुन सीखे वहाँ प्रीति निबाहना क्यों न सीखा? हाय! मँझधार में डुबाकर ऊपर से उतराई माँगते हो; प्यारे सो भी दे चुकी, अब तो पार लगाओ। प्यारे, सबकी हद होती है। हाय! हम तड़पें और तुम तमाशा देखो। जन-कुटुंब से छुड़ाकर यों छितर-बितर करके बेकाम कर देना यह कौन बात है। हाय! सबकी आँखों में हलकी हो गई। जहाँ जाओ वहाँ दुर-दुर, उस पर यह गति। हाय! "भामिनी तें भौंड़ी करी, मानिनी तें मौड़ी करी, कौड़ी करी हीरा तें, कनौड़ी करी कुल तें।" तुम पर बड़ा क्रोध आता है और कुछ कहने को जी चाहता है। बस अब मैं गाली दूँगी। और क्या कहूँ, बस आप आप ही हो; देखो गाली में भी तुम्हें मैं मर्मवाक्य कहूँगी—झूठे, निर्दय, निर्घृण, "निर्दय हृदय कपाट", बखेड़िये और निर्लज्ज, ये सब तुम्हें सच्ची गालियाँ हैं; भला जो कुछ करना ही नहीं था तो इतना क्यों झूठ बके? किसने बकाया था? कूद-कूदकर प्रतिज्ञा करने बिना क्या डूबी जाती थी? झूठे! झूठे!! झूठे!!! झूठे ही नहीं वरंच विश्वासघातक! क्यों इतनी छाती ठोंक और हाथ उठा-उठाकर लोगों को विश्वास दिया? आप ही सब मरते चाहे जहन्नुम में पड़ते, और उस पर तुर्रा यह है कि किसी को चाहे कितना भी दुखी देखें आपको कुछ घृणा तो होती ही नहीं। हाय-हाय! कैसे-कैसे दुखी लोग हैं—और मज़ा तो यह है कि सब धान बाइस पसेरी। चाहे आपके वास्ते दुखी हो, चाहे अपने संसार के दुःख से; आपको दोनों उल्लू फँसे हैं। इसी से तो "निर्दय हृदय कपाट" यह नाम है। भला क्या काम था कि इतना

पचड़ा किया ? किसने इस उपद्रव और जाल करने को कहा था ? कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते बस चैन था, केवल आनंद था, फिर क्यों यह विषमय संसार किया। बखेड़िये ! और इतने बड़े कारखाने पर बेहयाई परले सिरे की। नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने मारे फिरें, आप भी अपने मुँह झूठे बनें, पर वाह रे शुद्ध बेहयाई और पूरी निर्लज्जता ! बेशरमी हो तो इतनी तो हो। क्या कहना है ! लाज को जूतों मार के पीट-पीट के निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते हैं उस मुहल्ले में लाज की हवा भी नहीं जाती। जब ऐसे हो तब ऐसे हो। हाय ! एक बेर मुँह दिखा दिया होता तो मत-वाले मत-वाले बने क्यों लड़-लड़कर सिर फोड़ते। अच्छे खासे अनूठे निर्लज्ज हो, काहे को ऐसे बेशरम मिलेंगे, हुकमी बेहया हो, कितनी गाली दूँ, बड़े भारी पूरे हो, शरमाओगे थोड़े ही कि माथा खाली करना सुफल हो, जाने दो—हम भी तो वैसी ही निर्लज्ज और झूठी हैं। क्यों न हों। जस दूलह तस बनी बराता। पर इसमें भी मूल उपद्रव तुम्हारा ही है, पर यह जान रखना कि इतना और कोई न कहेगा, क्योंकि सिपारसी नेति नेति कहेंगे, सच्ची थोड़े ही कहेंगे। पर यह तो कहो कि यह दुःखमय पचड़ा ऐसा ही फैला रहेगा कि कुछ तै भी होगा, वा न तै होय। हमको क्या ! पर हमारा तो पचड़ा छुड़ाओ। हाय मैं किससे कहती हूँ। कोई सुनने वाला है। जंगल में मोर नाचा किसने देखा। नहीं नहीं, वह सब देखता है, वा देखता होता तो अब तक मेरी खबर न लेता। पत्थर होता तो वह भी पसीजता। नहीं नहीं, मैंने प्यारे को इतना दोष व्यर्थ दिया। प्यारे, तुम्हारा दोष कुछ नहीं। यह सब मेरे करम का

दोष है। नाथ, मैं तो तुम्हारी नित्य की अपराधिनी हूँ। प्यारे क्षमा करो। मेरे अपराधों की ओर न देखो, अपनी ओर देखो। (रोती है)

माधवी—हाय-हाय सखियो ! यह तो रोय रही है।

काममं०—सखी प्यारी रोवै मती। सखी तोहि मेरे सिर की सौंह जो रोवै।

माधवी—सखी, मैं तेरे हाथ जोड़ूँ मत रोवै। सखी हम सबन को जीव भरयो आवै है।

विला०—सखी, जो तू कहैगी हम सब करैंगी। हम भले ही प्रियाजी की रिस सहैंगी, पर तोसूँ हम सब काहू बात सों बाहर नहीं।

माधवी—हाय-हाय ! यह तो मानै ही नहीं। (आँसू पोछकर) मेरी प्यारी, मैं हाथ जोड़ूँ हा हा खाऊँ मानि जा।

काममं०—सखी यासों मति कछू कहौ। आओ हम मिलि कै विचार करैं जासों याको काम होय।

विला०—सखी, हमारे तो प्रान ताई यापैं निछावर हैं पर जो कछू उपाय सूझै।

चंद्रा०—(रोकर) सखी, एक उपाय मुझे सूझा है जो तुम मानो।

माधवी—सखी, क्यों न मानैंगी तू कहै क्यौं नहीं।

चंद्रा०—सखी, मुझे यहाँ अकेले छोड़ जाओ।

माधवी—तो तू अकेली यहाँ का करेगी ?

चंद्रा०—जो मेरी इच्छा होगी।

माधवी—भलो तेरी इच्छा का होयगी हमहूँ सुनैं ?

चंद्रा०—सखी, वह उपाय कहा नहीं जाता।

माधवी—तौ का अपनो प्रान देगी। सखी, हम ऐसी भोरी नहीं हैं कै तोहि अकेली छोड़ जायँगी।

ौर भी जो दुखी

विला०—सखी, तू व्यर्थ प्रान देने को मनोरथ तोहि न छोड़ैंगे। जो प्रान तोहि छोड़ जायँगे ऐसो सुंदर शरीर फेर कहाँ मिलैगो।

काममं०—सखी, ऐसी बात हम सूँ मति कहै, और जो कहै सो सो हम करिबे कों तयार हैं, और या बात को ध्यान तू सपने हू मैं मति करि। जब ताईं हमारे प्रान हैं तब ताईं तोही न मरन दैंयगी। पीछे भलेईं जो होय सो होय।

चंद्रा०—(रोकर) हाय! मरने भी नहीं पाती। यह अन्याय!

माधवी—सखी, अन्याय नहीं, यही न्याय है।

काममं०—जान दै माधवी वासों मति कछु पूछै। आओ हम तुम मिलकै सल्लाह करैं के अब का करनो चाहिए।

विला०—हाँ माधवी, तू ही चतुर है तू ही उपाय सोच।

माधवी—सखी, मेरे जी में तौ एक बात आवै। हम तीनि हैं सो तीनि काम बाँटि लें। प्यारीजू के मनाइबे को मेरो जिम्मा। यही काम सबमें कठिन है और तुम दोउन में सो एक याके घरकेन सों याकी सफाई करावै और एक लालजू सों मिलिबे की कहैं।

काममं०—लालजी सों मैं कहूँगी। मैं बिन्नै बहुतो लजाऊँगी और जैसे होयगो वैसे यासों मिलाऊँगी।

माधवी—सखी, वेऊ का करैं। प्रियाजी के डर सों कछू नहीं कर सकैं।

विला०—सो प्रियाजी को जिम्मा तेरो हुई है।

माधवी—हाँ हाँ, प्रियाजी को जिम्मा मेरो।

विला०—तौ याके घर को मेरो।

माधवी—भयो, फेर का। सखी काहू बात को सोच मति करै। उठि।

चंद्रा०—सखियो ! व्यर्थ क्यों यत्न करती हो। मेरे भाग्य ऐसे नहीं हैं कि कोई काम सिद्ध हो।

माधवी—सखी, हमारे भाग्य तो सीधे हैं। हम अपने भाग्यबल सों सब काम करैंगी।

काममं०—सखी, तू व्यर्थ क्यों उदास भई जाय है। जब तक साँसा तब तक आसा।

माधवी—तौ सखी बस अब यह सलाह पक्की भई। जब ताईं काम सिद्ध न होय तब ताईं काहुवै खबर न परै।

विला०—नहीं, खबर कैसे परैगी ?

काममं०—(चंद्रावली का हाथ पकड़कर) लै सखी, अब उठि चलि हिंडोरा झूलि।

माधवी—हाँ सखी, अब तौ अनमनोपन छोड़ि।

चंद्रा०—सखी, छूटा ही सा है, पर मैं हिंडोरे न झूलूँगी। मेरे तो नेत्र आप ही हिंडोरे झूला करते हैं।

पल-पटुली पैं डोर-प्रेम की लगाय चारु
आसा ही के खंभ दोय गाढ़ कै धरत हैं।
झुमका ललित काम पूरन उछाह भरयो
लोक बदनामी झूमि झालर झरत हैं॥
'हरीचंद' आँसू दृग नीर बरसाइ प्यारे
पिया-गुन-गान सो मलार उचरत हैं।
मिलन मनोरथ के झोंटन बढ़ाइ सदा
बिरह-हिंडोरे नैन झूल्योई करत हैं॥

और सखी, मेरा जो हिंडोरे पर और उदास होगा।

माधवी—तौ सखी, तेरी जो प्रसन्नता होय ! हम तौ तेरे सुख की गाहक हैं।

चंद्रा०—हा ! इन बादलों को देखकर तो और भी जी दुखी होता है।

देखि घन स्याम घनस्याम की सुरति करि
जिय मैं बिरह घटा घहरि-घहरि उठै।
त्यौंही इंद्रधनु-बगमाल देखि बनमाल
मोतीलर पी की जिय लहरि-लहरि उठै॥
'हरीचंद' मोर-पिक-धुनि सुनि बंसीनाद
बाँकी छबि बार बार छहरि-छहरि उठै।
देखि-देखि दामिनी की दुगुन दमक पीत-
पट-छोर मेरे हिय फहरि-फहरि उठै॥

हाय ! जो बरसात संसार को सुखद है वह मुझे इतनी दुखदायिनी हो रही है।

माधवी—तौ न दुखदायिनी होयगी। चल उठि घर चलि।

काममं०—हाँ चलि। [सब जाती हैं

(जवनिका गिरती है)

वर्षा-वियोग-विपत्ति नामक तृतीय अंक

चौथा अंक

स्थान—चंद्रावलीजी की बैठक

(खिड़की में से यमुनाजी दिखाई पड़ती हैं। पलँग बिछा हुआ, परदे पड़े हुए, इतरदान पानदान इत्यादि सजे हुए)

[जोगिन * आती है]

जोगिन—अलख ! अलख ! आदेश आदेश गुरू को ! अरे कोई है इस घर में ! कोई नहीं बोलता । क्या कोई नहीं है ? तो अब मैं क्या करूँ ? बैठूँ । क्या चिंता है । फ़कीरों को कहीं कुछ रोक नहीं । उसमें भी हम प्रेम के जोगी, तो अब कुछ गावैं ।

(बैठकर गाती है)

"कोई एक जोगिन रूप कियैं ।
भौंहैं बंक छकोहैं लोयन चलि-चलि कोयन कान छियैं ॥
सोभा लखि मोहत नारीनर बारि फेरि जल सबहि पियैं ।
नागर मनमथ अलख जगावत गावत काँधे बीन लियैं †" ॥

---

* गेरूआ सारी, गहना सब जनाना पहिने, रंग साँवला । सेंधुर का लंबा टीका बेंड़ा । बाल खुले हुए । हाथ में सरंगी लिए हुए । नेत्र लाल । अत्यंत सुंदर । जब-जब गावेगी सरंगी बजा कर गावेगी ।

† काफी ।

बनी मनमोहिनी जोगिनियाँ ।
मल सेली तन गेरुआ सारी केस खुले सिर बेंदी सोहिनियाँ ॥
माते नैन लाल रँग डोरे मद बोरे मोहै सबन छलिनियाँ ।
हाथ सरंगी लिए बजावत गाय जगावत बिरह-अगिनियाँ ॥*

जोगिन प्रेम की आई ।
बड़े-बड़े नैन छुए कानन लौं चितवन-मद अलसाई ॥
पूरी प्रीति रीति रस-सानी प्रेमी-जन मन भाई ।
नेह-नगर में अलख जगावत गावत बिरह बधाई ॥

जोगिन-आँखन प्रेम-खुमारी ।
चंचल लोयन-कोयन खुभि रही काजर रेख ढरारी ॥
डोरे लाल लाल रस बोरे फैली मुख उँजियारी ।
हाथ सरंगी लिए बजावत प्रेमिन-प्रानपियारी ॥

जोगिन मुख पर लट लटकाई ।
कारी घूँघरवारी प्यारी देखत सब मन भाई ॥
छूटे केस गेरुआ बागे सोभा दुगुन बढ़ाई ।
साँचे ढरी प्रेम की मूरति अँखियाँ निरखि सिराई ॥

(नेपथ्य में से पैंजनी की झनकार सुनकर)

अरे कोई आता है । तो मैं छिप रहूँ । चुपचाप सुनूँ । देखूँ यह सब क्या बातें करती हैं ।

(जोगिन जाती है, ललिता आती है)

ललिता—हैं अब तक चंद्रावली नहीं आई । साँझ हो गई, न घर में कोई सखी है न दासी, भला कोई चोर-चकार चला आवै तो क्या हो । (खिड़की की ओर देखकर) अहा ! जमुनाजी

---

* चैती गौरी वा पीलू खेमटा ।

की कैसी शोभा हो रही है। जैसा वर्षा का बीतना और शरद् का आरंभ होना वैसा ही बृंदावन के फूलों की सुगंधि से मिले हुए पवन की झकोर से जमुनाजी का लहराना कैसा सुंदर और सुहावना है कि चित्त को मोहे लेता है। आहा! जमुनाजी की शोभा तो कुछ कही ही नहीं जाती। इस समय चंद्रावली होती तो यह शोभा उसे दिखाती। वा वह देख ही के क्या करती, उलटा उसका विरह और बढ़ता। (यमुनाजी की ओर देखकर) निस्संदेह इस समय बड़ी ही शोभा है।

तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल-परसन-हित मनहुँ सुहाए॥
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज-निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥

मनु आतप वारन तीर कों सिमिटि सबै छाए रहत।
कै हरि-सेवा-हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत॥

कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज सोभा।
कै उमगे पिय-प्रिया-प्रेम के अनगिन गोभा॥

कै करिकै कर बहु पीय कों टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलित मिलन मन मोहई॥

कै पियपद उपमान जानि एहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत॥
कै ब्रज-तियगन-बदन-कमल की झलकत झाईं।
कै ब्रज हरिपद-परस हेत कमला बहु आईं॥

कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रजमंडल बगरे फिरत ॥
कै जानि लक्ष्मी-भौन एहि करि सतधा निज जल धरत ॥
तिन पैं जेहि छिन चंद-जोति राका निसि आवति।
जल मैं मिलिकै नभ अवनी लौं तान तनावति॥
होत मुकुरमय सबै तबै उज्जल इक ओभा।
तन मन नैन जुड़ात देखि सुंदर सो सोभा॥
सो को कबि जो छबि कहि सकै ता छन जमुना नीर की।
मिलि अवनि और अंबर रहत छबि इकसी नभ तीर की॥
परत चंद्र-प्रतिबिंब कहूँ जल मधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो॥
मनु हरि-दरसन हेत चंद जल बसत सुहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिए सोभित छबि छायो॥
कै रास-रमन मैं हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि-मूरति बसति ता प्रतिबिंब लखात है॥
कबहुँ होत सत चंद कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत।
पवन गवन बस बिंब रूप जल मैं बहु साजत॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुनजल लोटत डोलै।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत कलोलै॥
कै बालगुड़ी नभ मैं उड़ी सोहत इत-उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रजरमनी जल आवती॥
मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन जल।
कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अविकल॥
कै कालिंदी नीर तरंग जितो उपजावत।
तितनो ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत॥
कै बहुत रजत चकई चकई कै फुहार जल उच्छरत।
कै निसिपति मल्ल अनेक बिधि उठि बैठत कसरत करत॥

कूजत कहुँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारंडव उड़त कहूँ जलकुक्कुट धावत॥
चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत॥
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु रोर बिबिधि पच्छी करत।
जलपान न्हान करि सुख भरे तट सोभा सब जिय धरत॥
कहूँ बालुका बिमल सकल कोमल बहु छाई।
उज्जल झलकत रजत सिढ़ी मनु सरस सुहाई॥
पिय के आगम हेत पाँवड़े मनहुँ बिछाए।
रत्नरासि करि चूर कूल में मनु बगराए॥
मनु मुक्त माँग सोभित भरी श्यामनीर चिकुरन परसि।
सतगुन छायो कै तीर में ब्रज निवास लखि हिय हरसि॥

(चंद्रावली अचानक आती है)

चंद्रा०—वाह वाह री बैहना आजु तो बड़ो कविता करी। कबिताई की मोट की मोट खोलि दीनी। मैं सब छिपेछिपे सुनती थी।

(दबे पाँव से जोगिन आकर एक कोने में खड़ी हो जाती है)

ललिता०—भलो-भलो बीर, तोहि कविता सुनिबे की सुधि तौ आई, हमारे इतनोई बहुत है।

चंद्रा०—(सुनते ही स्मरणपूर्वक लंबी साँस लेकर)

सखी री क्यौं सुधि मोहि दिवाई।
हौं अपने गृह-कारज भूली भूलि रही बिलमाई॥
फेर वहै मन भयो जात अब मरिहौं जिय अकुलाई॥
हौं तबही लौं जगत-काज की जब लौं रहौं भुलाई।

ललिता—चल जान दे, दूसरी बात कर।

जोगिन—(आप ही आप) निस्संदेह इसका प्रेम पक्का है, देखो मेरी सुधि आते ही इसके कपोलों पर कैसी एक साथ जरदी दौड़ गई। नेत्रों में आँसुओं का प्रवाह उमग आया। मुँह सूखकर छोटा सा हो गया। हाय! एक ही पल में यह तो कुछ की कुछ हो गई। अरे इसकी तो यही गति है—

छरी सी छकी सी जड़ भई सी जकी सी घर
हारी सी बिकी सी सो तो सबही घरी रहै।
बोले तें न बोलै दृग खोलै नाहिं डोलै बैठी
एकटक देखै सो खिलौना सी धरी रहै॥
'हरीचंद' औरौ घबरात समुझाएँ हाय
हिचकि-हिचकि रोवै जीवति मरी रहै।
याद आएँ सखिन रोवावै दुख कहि-कहि
तौ लौं सुख पावै जौ लौं मुरछि परी रहै॥

अब तो मुझसे रहा नहीं जाता। इससे मिलने को अब तो सभी अंग व्याकुल हो रहे हैं।

चंद्रा०—(ललिता की बात सुनी-अनसुनी करके बाएँ अंग का फरकना देखकर आप ही आप) अरे यह असमय में अच्छा सगुन क्यों होता है! (कुछ ठहरकर) हाय आशा भी क्या ही बुरी वस्तु है और प्रेम भी मनुष्य को कैसा अंधा कर देता है। भला वह कहाँ और मैं कहाँ—पर जी इसी भरोसे पर फूला जाता है कि अच्छा सगुन हुआ है तो जरूर आवेंगे। (हँसकर) हुँ—उनको हमारी इस वखत फिकिर होगी। "मान न मान मैं तेरा मेहमान," मन को अपने ही मतलब की सूझती है। "मेरो पिय

मोहि बात न पूछै तऊ सोहागिन नाम"। (लम्बी साँस लेकर) हा! देखो प्रेम की गति! यह कभी आशा नहीं छोड़ती। जिसको आप चाहो वह चाहे झूठमूठ भी बात न पूछे पर अपने जी को यह भरोसा रहता है कि वे भी ज़रूर इतना ही चाहते होंगे। (कलेजे पर हाथ रखकर) रहो रहो, क्यों उमगे आते हो, धीरज धरो, वे कुछ दीवार में से थोड़े ही निकल आवेंगे।

जोगिन—(आप ही आप) होगा प्यारी, ऐसा ही होगा। प्यारी, मैं तो यहीं हूँ। यह मेरा ही कलेजा है कि अंतर्यामी कहलाकर भी अपने लोगों से मिलने में इतनी देर लगती है। (प्रगट सामने बढ़कर) अलख! अलख!

(दोनों आदर करके बैठाती हैं)

ललिता—हमारे बड़े भाग जो आपुसी महात्मा के दरसन भए।

चंद्रा०—(आप ही आप) न जानें क्यों इस जोगिन की ओर मेरा मन आपसे आप खिंचा जाता है।

जोगिन—भलो हम अतीतन को दरसन कहा, योंही नित्य ही घर-घर डोलत फिरैं।

ललिता—कहाँ तुम्हारो देस है?

जोगिन— प्रेम नगर पिय गाँव।

ललिता—कहा गुरू कहि बोलहीं?

जोगिन— प्रेमी मेरो नाँव॥

ललिता—जोग लियो केहि कारनैं?

जोगिन— अपने पिय के काज।

ललिता—मंत्र कौन?

जोगिन— पियनाम इक,

ललिता— कहा तज्यो ?

जोगिन— जग-लाज ॥

ललिता—आसन कित ?

जोगिन— जितही रमे,

ललिता— पंथ कौन ?

जोगिन— अनुराग ।

ललिता—साधन कौन

जोगिन— पिया-मिलन,

ललिता— गादी कौन ?

जोगिन— सुहाग ॥

नैन कहें गुरु मन दियो बिरह सिद्धि उपदेस ।
तब सों सब कुछ छोड़ि हम फिरत देस-परदेश ॥

चंद्रा०—(आप ही आप) हाय ! यह भी कोई बड़ी भारी बियोगिन है तभी इसकी ओर मेरा मन आपसे आप खिंचा जाता है ।

ललिता—तौ संसार को जोग तो और ही रकम को है और आप को तो पंथ ही दूसरो है । तो भला हम यह पूछें कि का संसार के और जोगी लोग वृथा जोग साधें हैं ?

जोगिन—यामैं का संदेह है, सुनो । (सारंगी छेड़कर गाती हैं)

पचि मरत वृथा सब लोग जोग सिर धारी ।
साँची जोगिन पिय बिना बियोगिन नारी ॥
बिरहागिन धूनी चारों ओर लगाई ।
बंसी धुनि की मुद्रा कानो पहिराई ॥
अँसुअन की सेली गल में लगत सुहाई ।
तन धूर जमी सोइ अंग भभूत रमाई ॥

लट उरझि रहीं सोइ लटकाई लट कारी।
साँची जोगिन पिय बिना बियोगिन नारी॥
गुरु बिरह दियो उपदेश सुनो ब्रजबाला।
प्रिय बिछुरन दुख को बिछाओो तुम मृगछाला॥
मन के मनके को जपो पिया को माला।
बिरहिन की तो हैं सभी निराली चाला॥
पीतम से लगि लौ अचल समाधि न टारी।
साँची जोगिन पिय बिना बियोगिन नारी॥
यह है सुहाग का अचल हमारे बाना।
असगुन की मूरति खाक न कभी चढ़ाना॥
सिर सेंदुर देकर चोटी गूँथ बनाना।
कर चूरी मुख में रंग तमोल जमाना॥
पीना प्याला भर रखना वही खुमारी।
साँची जोगिन पिय बिना बियोगिन नारी॥
है पंथ हमारा नैनों के मत जाना।
कुल लोक वेद सब औ परलोक मिटाना॥
शिवजी से जोगी को भी जोग सिखाना।
'हरिचंद' एक प्यारे से नेह बढ़ाना॥
ऐसे बियोग पर लाख जोग बलिहारी।
साँची जोगिन पिय बिना बियोगिन नारी॥

चंद्रा०—(आप ही आप) हाय-हाय इसका गाना कैसा जी को बेधे डालता है। इसके शब्द का जी पर एक ऐसा विचित्र अधिकार होता है कि वर्णन बाहर है। या मेरा जी ही चोटल हो रहा है। हाय-हाय! ठीक प्रानप्यारे की सी इसकी आवाज है (बलपूर्वक आँसुओं को रोककर और जी बहलाकर) कुछ इससे और गवाऊँ। (प्रगट) जोगिन

जो कष्ट न हो तो कुछ और गाओ। (कहकर कभी चाव से उसकी ओर देखती है और कभी नीचा सिर करके कुछ सोचने लगती है)

जोगिन—(मुसकाकर) अच्छा प्यारी ! सुनो। (गाती है)

जोगिन रूप-सुधा की प्यासी।
बिनु पिय मिलें फिरत बन ही बन छाई मुखहि उदासी॥
भोग छाड़ि धन-धाम काज तजि भई प्रेम-बनबासी।
पिय-हित अलख अलख रट लागी पीतम-रूप उपासी॥
मनमोहन प्यारे तेरे लिये जोगिन बन बन-बन छान फिरी।
कोमल से तन पर खाक मली ले जोग स्वाँग सामान फिरी॥
तेरे दरसन कारन डगर-डगर करती तेरा गुन-गान फिरी।
अब तो सूरत दिखला प्यारे 'हरिचंद' बहुत हैरान फिरी॥

चंद्रा०—(आप ही आप) हाय ! यह तो सभी बातें पते की कहती है। मेरा कलेजा तो एक साथ ऊपर को खिंचा आता है। हाय ! 'अब तो सूरत दिखला प्यारे।'

जोगिन—तो अब तुमको भी गाना होगा। यहाँ तो फकीर हैं। हम तुम्हारे सामने गावें, तुम हमारे सामने न गाओगी। (आप ही आप) भला, इसी बहाने प्यारी की अमृत बानी तो सुनेंगे। (प्रगट) हाँ ! देखो, हमारी यह पहिली भिक्षा खाली न जाय, हम तो फकीर हैं, हमसे कौन लाज है ?

चंद्रा०—भला, मैं गाना क्या जानूँ ? और फिर मेरा जी भी आज अच्छा नहीं है, गला बैठा हुआ है। (कुछ ठहरकर नीची आँख करके) और फिर मुझे संकोच लगता है।

जोगिन—(मुसक्याकर) वाह रे संकोचवाली ! भला, मुझसे कौन संकोच है ? मैं फिर रूठ जाऊँगी जो मेरा कहना न करेगी।

चंद्रा०—(आप ही आप) हाय-हाय ! इसकी कैसी मीठी बोलन है जो एक साथ जी को छीने लेती है। जरा से झूठे क्रोध से जो इसने भौंहें तनेनी की हैं वह कैसी भली मालूम पड़ती हैं। हाय ! प्राननाथ, कहीं तुम्हीं तो जोगिन नहीं बन आए हो। (प्रगट) नहीं-नहीं, रूठो मत, मैं क्यों न गाऊँगी। जो भला-बुरा आता है सुना दूँगी, पर फिर भी कहती हूँ आप मेरे गाने से प्रसन्न न होंगी। ऐ मैं हाथ जोड़ती हूँ, मुझे न गवाओ। (हाथ जोड़ती है)

ललिता—वाह, तुझे नए पाहुने की बात अवश्य माननी होगी। ले मैं तेरे हाथ जोड़ूँ हूँ, क्यौं न गावैगी। यह तो उसमे बहाली बता जो न जानती हो।

चंद्रा०—तो तू ही क्यों नहीं गाती ? दूसरों पर हुकुम चलाने को तो बड़ी मुस्तैद होती है।

जोगिन—हाँ हाँ, सखी तू हा न पहिले गा। ले मैं सरंगी से सुर की आस देती जाती हूँ।

ललिता—यह देखो। जो बोले सो घी को जाय। मुझे क्या, मैं अभी गाती हूँ।

(राग बिहाग—गाती है)

अलख गति जुगल पिया-प्यारी की।
को लखि सकै लखत नहिं आवै तेरो गिरिधारी की॥
बलि बलि बिछुरनि मिलनि हँसनि रूठनि नित हीं यारी की।
त्रिभुवन की सब रति गति मति छबि या पर बलिहारी की॥

चंद्रा०—(आप ही आप) हाय ! यहाँ आज न-जाने क्या हो रहा है, मैं कुछ सपना तो नहीं देखती। मुझे तो आज कुछ सामान ही दूसरे दिखाई पड़ते हैं। मेरे तो कुछ समझ ही नहीं पड़ता कि मैं क्या देख-सुन रही हूँ। क्या मैंने कुछ

नशा तो नहीं पिया है ? अरे ! यह जोगिन कहीं जादूगर तो नहीं है। (घबड़ानी सी होकर इधर-उधर देखती है)

(इसकी दशा देखकर ललिता सकपकाती और जोगिन हँसती है)

ललिता—क्यों, आप हँसती क्यों हैं ?

जोगिन—नहीं, योंही मैं इसको गीत सुनाया चाहती हूँ, पर जो यह फिर गाने का करार करे।

चंद्रा०—(घबड़ाकर) हाँ, मैं अवश्य गाऊँगी, आप गाइए। (फिर ध्यानावस्थित सी हो जाती है)

(जोगिन सारंगी बजाकर गाती है)

(संकरा)

तू केहि चितवति चकित मृगी सी ?
केहि ढूँढ़त तेरो कहा खोयो क्यौं अकुलाति लखाति ठगी सी ॥
तन सुधि करु उघरत री आँचर कौन ख्याल तू रहति खगी सी।
उतरु न देत जकी सी बैठी मद पीया कै रैन जगी सी ॥
चौंकि चौंकि चितवति चारहु दिस सपने पिय देखति उमगी सी।
भूलि बैखरी मृगछौनी ज्यौं निज दल तजि कहुँ दूर भगी सी ॥
करति न लाज हाट घर बर की कुल-मरजादा जाति डगी सी।
'हरीचंद' ऐसिहि उरझी तौ क्यौं नहिं डोलत संग लगी सी ॥
तू केहि चितवति चकित मृगीसी ?

चंद्रा०—(उन्माद से) डोलूँगी-डोलूँगी संग लगी। (स्मरण करके लजाकर आप ही आप) हाय-हाय ! मुझे क्या हो गया है। मैंने सब लज्जा ऐसी धो बहाई कि आए गए भीतर बाहर वाले सबके सामने कुछ बक उठती हूँ। भला; यह एक दिन के लिए आई बिचारी जोगिन क्या कहेगी ? तो भी धीरज ने इस समय बड़ी लाज रखी नहीं तो मैं—राम—राम—नहीं

नहीं, मैंने धीरे से कहा था किसी ने सुना न होगा। अहा! संगीत और साहित्य में भी कैसा गुन होता है कि मनुष्य तन्मय हो जाता है। उस पर जले पर नोन। हाय नाथ! हम अपने उन अनुभवसिद्ध अनुरागों और बढ़े हुए मनोरथों को किस को सुनावें जो काव्य के एक-एक तुक और संगीत की एक-एक तान से लाख-लाखगुन बढ़ते हैं और तुम्हारे मधुर रूप और चरित्र के ध्यान से अपने आप ऐसे उज्ज्वल सरस और प्रेममय हो जाते हैं, मानो सत्र प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। पर हा! अंत में करुण रस में उनकी समाप्ति होती है, क्योंकि शरीर की सुधि आते ही एक साथ बेबसी का समुद्र उमड़ पड़ता है।

जोगिन—वाह! अब यह क्या सोच रही हो? गाओ ले, अब नहीं मानैंगी।

ललिता—हाँ सखी, अब अपना वचन सच कर।

चंद्रा—(अर्द्धोन्माद की भाँति) हाँ हाँ, मैं गाती हूँ!

(कभी आँसू भरकर, कभी कई बेर, कभी ठहरकर, कभी भाव बताकर कभी बेसुर-ताल ही, कभी ठीक-ठीक, कभी टूटी आवाज से पागल की भाँति गाती है)

मन की कासों पीर सुनाऊँ।
बकनो वृथा और पत खोनी सबै चबाई गाऊँ॥
कठिन दरद कोऊ नहिं हरिहै धरिहै उलटो नाऊँ॥
यह तो जो जानै सोइ जानै क्यों करि प्रकट जनाऊँ॥
रोम-रोम प्रति नैन श्रवन मन केहि धुनि रूप लखाऊँ॥
बिना सुजान-शिरोमनि री केहि हियरो काढ़ि दिखाऊँ॥
मरमिन सखिन वियोग-दुखिन क्यों कहि निज दसा रोआऊँ॥
'हरीचंद' पिय मिलै तो पग परि गहि पटुका समझाऊँ॥

(गाते-गाते बेसुध होकर गिरा चाहती है कि एक बिजली सी चमकती है और जोगिन श्रीकृष्ण बनकर उठाकर गले लगाती है और नेपथ्य में बाजे बजते हैं)

ललिता—(बड़े आनन्द से) सखी बधाई है, लाखन बधाई है। ले होस में आ जा। देख तो कौन तुझे गोद में लिए हैं !

चंद्रा०—(उन्मादिनी की भाँति भगवान के गले में लपटकर)।

पिय तोहि राखौंगी भुजन में बाँधि ॥
जान न दैहौं तोहि पियारे धरौंगी हिए सों नाधि ॥
बाहर गर लगाइ राखौंगी अंतर करौंगी समाधि।
'हरीचंद' छूटन नहि पैहौ लाल चतुराई साधि ॥

पिय तोहि कैसे हिये राखौं छिपाय ?
सुंदर रूप लखत सब कोऊ यहै कसक जिय आय ॥
नैनन में पुतरी करि राखौं पलकन ओट दुराय।
हियरे में मनहूँ के अंतर कैसे लेउँ लुकाय ॥
मेरो भाग रूप पिय तुमरो छीनत सौतैं हाय।
'हरीचंद' जीवनधन मेरे छिपत न क्यौं इत धाय ॥

पिय तुम और कहूँ जिन जाहु।
लेन देहु किन मो रंकिन कों रूप-सुधा-रस-लाहु ॥
जो-जो कहौ करौं सोई-सोइ धरि जिय अमित उछाहु ॥
राखौं हिये लगाइ पियारे किन मन माहिं समाहु ॥
अनुदिन सुंदर बदन-सुधानिधि नैन चकोर दिखाहु।
'हरीचंद' पलकन की ओटैं छिनहु न नाथ दुराहु ॥

पिय तोहि कैसे बस करि राखौं।
तुव दृग मैं दृग तुव हिय मैं निज हियरो केहि विधि नाखौं ॥

कहा करौं का जतन बिचारौं बिनती केहि विधि भाखौं।
'हरीचंद' प्यासो जनमन की अधरसुधा किमि चाखौं॥

भगवान्—तौ प्यारी, मैं तोहि छोड़िकै कहाँ जउँगो, तू तो मेरी स्वरूप ही है। यह सब प्रेम को शिक्षा करिबे को तेरी लीला है।

ललिता—अहा! इस समय जो मुझे आनन्द हुआ है उसका अनुभव और कौन कर सकता है? जो आनन्द चंद्रावली को हुआ है वही अनुभव मुझे भी होता है। सच है, जुगल के अनुग्रह बिना इस अकथ आनंद का अनुभव और किसको है?

चंद्रा०—पर नाथ, ऐसे निठुर क्यों हो! अपनों को तुम कैसे दुखी देख सकते हो? हा! लाखों बातें सोची थीं कि जब कभी पाऊँगी तो यह कहूँगी, यह पूछूँगी, पर आज सामने कुछ नहीं पूछा जाता!

भग०—प्यारी! मैं निठुर नहीं हूँ। मैं तौ अपुने प्रेमिन को बिना मोल को दास हूँ। परंतु मोहि निहचै है कै हमारे प्रेमिन को हम सों हूँ हमारो विरह प्यारो है। याही सों मैं हूँ बचाय जाऊँ हूँ। या निठुरता मैं जे प्रेमी हैं विन को तो प्रेम और बढ़ै और जे कच्चे हैं विनकी बात खुल जाय। सो प्यारी, यह बात हू दूसरेन की है। तुमारो का, तुम और हम तो एक ही हैं। न तुम हमसों जुदी हो न प्यारोजू सों। हमने तो पहिले ही कही कै यह सब लीला है। (हाथ जोड़कर) प्यारी, छिमा करियौ, हम तौ तुम्हारे सबन के जनम जनम के रिनियाँ हैं। तुमसे हम कभू उरिन होइवेई के नहीं। (आँखों में आँसू भर आते हैं)

चंद्रा०(घबड़ाकर दोनों हाथ छुड़ाकर आँसू भर के) बस-बस नाथ,

बहुत भई, इतनी न सही जायगी। आपकी आँखों में आँसू देखकर मुझसे धीरज न धरा जायगा (गले लगा लेती है)

(विशाखा आती है)

विशाखा—सखी! बधाई है। स्वामिनी ने आज्ञा दई है के प्यारे सों कही दै चंद्रावली की कुंज मैं सुखेन पधारौ।

चंद्रा०—(बड़े आनन्द से घबड़ाकर ललिता-विशाखा से) सखियो, मैं तो तुम्हारे दिये पीतम पाए हैं। (हाथ जोड़कर) तुमारो गुन जनम-जनम गाऊँगी।

विशाखा—सखी, पीतम तेरो तू पीतम की, हम तौ तेरी टहलनी हैं। यह सब तौ तुम सबन की लीला है। यामैं कौन बोलै और बोलै हू कहा जो कछू समझै तौ बोलै—या प्रेम की तौ अकथ कहानी है। तेरे प्रेम को परिलेख तो प्रेम की टकसार होयगो और उत्तम प्रेमिन को छोड़ि और काहू की समझ ही मैं न आवैगो। तू धन्य, तेरो प्रेम धन्य, या प्रेम के समझिवेवारे धन्य और तेरे प्रेम का चरित्र जो पढ़ै सो धन्य। तो मैं और स्वामिनी मैं भेद नहीं है, तो मैं तू रस की पोषक ठैरी। बस, अब हमारी दाउन की यही बिनती है के तुम दोऊ गलबाहीं दै कै बिराजो और हम जुगलजोड़ी को दर्शन करि आज नेत्र सफल करैं।

(गलबाहीं देकर जुगल स्वरूप बैठते हैं)

दोनों—नीके निरखि निहारि नैन भरि नैनन को फल आजु लहौ री।
जुगल रूप छबि अमित माधुरी रूप-सुधा-रस-सिंधु बहौ री॥
इनहीं सौं अभिलाख लाख करि इक इनहीं कों नितहि चहौरी।
जो नर-तनहि सफल करि चाहौ इनहीं के पद-कंज गहौ री॥

करम-ज्ञान संसार-जाल तजि बरु बदनामी कोटि सहौ री।
इनहीं के रस-मत्त मगन नित इनहीं के है जगत रहौ री॥
इनके बल जल-जाल कोटि अघ तृन सम प्रेम प्रभाव दहौ री।
इनहीं को सरबस करि जानौ यहै मनोरथ जिय उमहौ री॥
राधा-चंद्रावली-कृष्ण-ब्रज-जमुना-गिरवर मुखहिं कहौ री।
जनम-जनम यह कठिन प्रेमब्रत 'हरीचंद' इकरस निबहौ री॥

भग०—प्यारी! और जो इच्छा होय सो कहौ। काहे सों कै जो तुम्हें प्यारो है सोई हमैं हूँ प्यारो है।

चंद्रा०—नाथ! और कोई इच्छा नहीं, हमारी तो सब इच्छा की अवधि आपके दर्शन ही ताईं है तथापि भरत को यह वाक्य सफल होय—

परमारथ स्वारथ दोउ कहँ सँग मेलि न सानैं।
जे आचारज होइँ धरम निज तेइ पहिचानैं॥
बृंदाबिपिन बिहार सदा सुख सों थिर होई।
जन बल्लभी कहाइ भक्ति बिनु होइ न कोई॥

जगजाल छाँड़ि अधिकार लहि कृष्णचरित सबही कहैं।
यह रतन-दीप हरि-प्रेम को सदा प्रकासित जग रहैं॥

(फूल की वृष्टि होती है, बाजे बजते हैं और जवनिका गिरती है)

इति परमफलचतुर्थ अंक

—:०:—

मुद्राराक्षस

नाटक

संवत १९३५

परमश्रद्धास्पद

श्रीयुक्त राजा शिवप्रसाद बहादुर सिंह, सी० एस० आई०

के

चरण-कमलों में

केवल उन्हीं के उत्साहदान से

उनके

वात्सल्यभाजन छात्र-द्वारा बना हुआ

यह ग्रंथ

सादर समर्पित हुआ।

पूर्व कथा

—:o:—

पूर्व काल में भारतवर्ष में मगधराज एक बड़ा भारी जनस्थान था। जरासंध आदि अनेक प्रसिद्ध पुरुवंशी राजा यहाँ बड़े प्रसिद्ध हुए हैं। इस देश की राजधानी पाटलिपुत्र अथवा पुष्पपुर थी। इन लोगों ने अपना प्रताप और शौर्य इतना बढ़ाया था कि आज तक इनका नाम भूमंडल पर प्रसिद्ध है। किंतु कालचक्र बड़ा प्रबल है कि किसी को भी एक अवस्था में रहने नहीं देता। अंत में नंदवंश* ने पौरवों को निकाल कर वहाँ अपनी जय-पताका उड़ाई। वरंच सारे भारतवर्ष में अपना प्रबल प्रताप विस्तारित कर दिया।

इतिहास-ग्रंथों में लिखित है कि एक सौ अट्ठतीस बरस नंद-वंश ने मगध देश का राज्य किया। इसी वंश में महानंद का जन्म हुआ। यह बड़ा प्रसिद्ध और अत्यंत प्रतापशाली राजा हुआ। जब जगद्विजयी सिकंदर (अलक्षेंद्र) ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की थी तब असंख्य हाथी, बीस हजार सवार और दो लाख पैदल लेकर महानंद ने उसके विरुद्ध प्रयाण किया था†। सिद्धांत यह कि भारतवर्ष में उस समय महानंद सा प्रतापी और कोई राजा न था।

---

* नंदवंश सम्मिलित क्षत्रियों का वंश था। ये लोग शुद्ध क्षत्री नहीं थे।

† सिकन्दर के कान्यकुब्ज से आगे न बढ़ने से महानंद से उससे मुकाबिला नहीं हुआ।

महानंद के दो मंत्री थे। मुख्य का नाम शकटार और दूसरे का राक्षस था। शकटार शूद्र और राक्षस* ब्राह्मण था। ये दोनों अत्यंत बुद्धिमान् और महा प्रतिभासंपन्न थे। केवल भेद इतना था कि राक्षस धीर और गंभीर था, उसके विरुद्ध शकटार अत्यंत उद्धतस्वभाव था, यहाँ तक कि अपने प्राचीनपने के अभिमान से कभी कभी यह राजा पर भी अपना प्रभुत्व जमाना चाहता। महानंद भी अत्यंत उग्रस्वभाव, असहनशील और क्रोधी था, जिसका परिणाम यह हुआ कि महानंद ने अंत को शकटार को क्रोधांध होकर बड़े निविड़ बंदीखाने में कैद किया और सपरिवार उसके भोजन को केवल दो सेर सत्तू देता था†।

---

* बृहत्कथा में राक्षस मंत्री का नाम कहीं नहीं है, केवल वररुचि ने एक सच्चे राक्षस से मैत्री की कथा यों लिखी है—एक बड़ा प्रचंड राक्षस पाटलिपुत्र में फिरा करता था। वह एक रात्रि वररुचि से मिला और पूछा कि "इस नगर में कौन स्त्री सुंदर है?" वररुचि ने उत्तर दिया—"जो जिसको रुचे वही सुंदर है।" इस पर प्रसन्न होकर राक्षस ने उससे मित्रता की और कहा कि हम सब बात में तुम्हारी सहायता करेंगे और फिर सदा राजकाज में ध्यान में प्रत्यक्ष होकर राक्षस वररुचि की सहायता करता।

† बृहत्कथा में यह कहानी और ही चाल पर लिखी है। वररुचि, व्याडि और इंद्रदत्त तीनों को गुरुदक्षिणा देने के हेतु करोड़ों रुपये के सोने की आवश्यकता हुई। तब इन लोगों ने सलाह की कि नंद (सत्यनंद) राजा के पास चलकर उससे सोना लें। उन दिनों राजा का डेरा अयोध्या में था, ये तीनों ब्राह्मण वहाँ गए, किन्तु संयोग से उन्हीं दिनों राजा मर गया। तब आपस में सलाह करके इंद्रदत्त योगबल से अपना शरीर छोड़कर राजा के शरीर में चला गया, जिससे राजा फिर जी उठा। तभी से उसका नाम योगानंद हुआ। योगानंद ने वररुचि को करोड़ रुपए देने की आज्ञा की। शकटार बड़ा बुद्धिमान् था; उसने

शकटार ने बहुत दिन तक महामात्य का अधिकार भोगा था, इससे यह अनादर उसके पक्ष में अत्यंत दुखदाई हुआ। नित्य सत्तू खाय बरतन हाथ में लेकर अपने परिवार से कहता कि जो एक भी नंदवंश को जड़ से नाश करने में समर्थ हो वह यह सत्तू खाय। मंत्री के इस वाक्य से दुखित होकर उसके परिवार का कोई भी सत्तू न खाता। अंत में कारागार की पीड़ा से एक-एक करके उसके परिवार के सब लोग मर गए।

एक तो अपमान का दुःख, दूसरे कुटुंब का नाश, इन दोनों कारणों से शकटार अत्यंत तनछीन, मनमलीन, दीन-हीन हो गया। किंतु अपने मनसूबे का ऐसा पक्का था कि शत्रु से बदला लेने की इच्छा से अपने प्राण नहीं त्याग किए और थोड़े-बहुत भोजन इत्यादि से शरीर को जीवित रखा। रात-दिन इसी सोच में रहता कि किस उपाय से वह अपना बदला ले सकेगा।

कहते हैं कि राजा महानंद एक दिन हाथ-मुँह धोकर हँसते-हँसते जनाने में आ रहे थे। विचक्षणा नाम की एक

सोचा कि राजा का मर कर जीना और एक बारगी एक अपरिचित को करोड़ रुपया देना इसमें हो न हो कोई भेद है। ऐसा न हो कि अपना काम करके फिर राजा का शरीर छोड़कर यह चला जाय, यह सोचकर शकटार ने राज्य भर में जितने मुर्दे मिले उनको जलवा दिया। उसी में इन्द्रदत्त का भी शरीर जल गया। जब व्याड़ि ने यह वृत्तांत योगानंद से कहा तो यह सुनकर वह पहिले तो दुखी हुआ, पर फिर वररुचि को अपना मंत्री बनाया। वह अंत में शकटार की उग्रता से संतप्त होकर उसको अंधे कुएँ में कैद किया। वृहत्कथा में शकटार के स्थान पर शकटाल नाम लिखा है।

दासी, जो राजा के मुँह लगाने के कारण कुछ धृष्ट हो गई थी, राजा को हँसता देखकर हँस पड़ी। राजा उसकी ढिठाई से बहुत चिढ़े और उससे पूछा—तू क्यों हँसी? उसने उत्तर दिया—"जिस बात पर महाराज हँसे उसी पर मैं भी हँसी।" महानंद इस बात पर और भी चिढ़ा और कहा कि अभी बतला मैं क्यों हँसा, नहीं तो तुझको प्राणदंड होगा। दासी से और कुछ उपाय न बन पड़ा और उसने घबड़ाकर इसके उत्तर देने को एक महीने की मुहलत चाही। राजा ने कहा--आज से ठीक एक महीने के भीतर जो उत्तर न देगी तो कभी तेरे प्राण न बचेंगे।

विचक्षणा के प्राण उस समय तो बच गए, परंतु महीने के जितने दिन बीतते थे, मारे चिंता के वह मरी जाती थी। कुछ सोच-विचार कर वह एक दिन कुछ खाने-पीने की सामग्री लेकर शकटार के पास गई और रो-रोकर अपनी सब विपत्ति कहने लगी। मंत्री ने कुछ देर तक सोचकर उस अवसर की सब घटना पूछी और हँसकर कहा—" मैं जान गया राजा क्यों हँसे थे। कुल्ला करने के समय पानी के छोटे छीटों पर राजा को वटबीज की याद आई, और यह भी ध्यान हुआ कि ऐसे बड़े बड़ के वृक्ष इन्हीं छोटे बीजों के अंतर्गत हैं। किंतु भूमि पर पड़ते ही वह जल के छीटे नाश हो गए। राजा अपनी इसी भावना को याद करके हँसते थे।" विचक्षणा ने हाथ जोड़कर कहा—" यदि आपके अनुमान से मेरे प्राण की रक्षा होगी तो मैं जिस तरह से होगा आपको कैदखाने से छुड़ाऊँगी और जन्म भर आपकी दासी होकर रहूँगी।"

राजा ने विचक्षणा से एक दिन फिर हँसने का कारण पूछा, तो विचक्षणा ने शकटार से जैसा सुना था कह सुनाया।

संसार की उपयोगी सब विद्या पढ़कर विवाह की इच्छा से नगर की ओर आया था, किंतु कुश गड़ जाने से मेरे मनोरथ में विघ्न हुआ, इससे जब तक इन बाधक कुशाओं का सर्वनाश न कर लूँगा और काम न करूँगा। मठा इस वास्ते इनकी जड़ में देता हूँ जिससे पृथ्वी के भीतर इनका मूल भी भस्म हो जाय।"

शकटार के जी में यह बात आई कि ऐसा पक्का ब्राह्मण जो किसी प्रकार राजा से क्रुद्ध हो जाय तो उसका जड़ से नाश करके छोड़े। सोचकर उसने चाणक्य से कहा कि जो आप नगर में चलकर पाठशाला स्थापित करें तो मैं अपने को बड़ा अनुगृहीत समझूँ। मैं इसके बदले बेलदार लगाकर यहाँ की सब कुशाओं को खुदवा डालूँगा। चाणक्य इस पर सहमत हुआ और उसने नगर में आकर एक पाठशाला स्थापित की। बहुत से विद्यार्थी लोग पढ़ने आने लगे और पाठशाला बड़े धूमधाम से चल निकली।

अब शकटार इस सोच में हुआ कि चाणक्य और राजा से किस चाल से बिगाड़ हो। एक दिन राजा के घर में श्राद्ध था। उस अवसर को शकटार अपने मनोरथ सिद्ध होने का अच्छा समय सोचकर चाणक्य को श्राद्ध का न्योता देकर अपने साथ ले आया और श्राद्ध के आसन पर बिठला कर चला गया, क्योंकि वह जानता था कि चाणक्य का रंग काला, आँखें लाल और दाँत काले होने के कारण नंद उसको आसन पर से उठा देगा, जिससे चाणक्य अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसका सर्वनाश करेगा।

और ठीक ऐसा ही हुआ—जब राक्षस के साथ नंद श्राद्धशाला में आया और एक अनिमंत्रित ब्राह्मण को आसन

पर बैठा हुआ और श्राद्ध के अयोग्य देखा तो चिढ़कर आज्ञा दी कि इसको बाल पकड़ कर यहाँ से निकाल दो। इस अपमान से ठोकर खाए हुए सर्प की भाँति अत्यंत क्रोधित होकर शिखा खोलकर चाणक्य ने सब के सामने प्रतिज्ञा की कि जब तक इस दुष्ट राजा का सत्यानाश न कर लूँगा तब तक शिखा न बाधूँगा। यह प्रतिज्ञा करके बड़े क्रोध से राजभवन से चल गया।

शकटार अवसर पाकर चाणक्य को मार्ग में से अपने घर ले आया और राजा की अनेक निंदा करके उसका क्रोध और भी बढ़ाया और अपनी सब दुर्दशा कहकर नंद के नाश में सहायता करने की प्रतिज्ञा की। चाणक्य ने कहा कि जब तक हम राजा के घर का भीतरी हाल न जानें कोई उपाय नहीं सोच सकते। शकटार ने इस विषय में विचक्षणा की सहायता देने का वृत्तांत कहा और रात को एकांत में बुलाकर चाणक्य के सामने उससे सब बात का करार ले लिया।

महानंद को नौ पुत्र थे। आठ विवाहिता रानी से और एक चंद्रगुप्त मुरा नाम की नाइन स्त्री से। इसी से चंद्रगुप्त को मौर्य और वृषल भी कहते हैं। चंद्रगुप्त बड़ा बुद्धिमान था इसी से और आठों भाई इससे भीतरी द्वेष रखते थे। चंद्रगुप्त की बुद्धिमानी की बहुत सी कहानियाँ हैं। कहते हैं कि एक बेर रूम के बादशाह ने महानंद के पास एक कृत्रिम सिंह लोहे की जाली के पिंजड़े में बंद करके भेजा और कहला दिया कि पिंजड़ा टूटने न पावे और सिंह इसमें से निकल जाय। महानंद और उसके आठ औरस पुत्रों ने इसको बहुत कुछ सोचा, परंतु बुद्धि ने कुछ काम न दिया। चंद्रगुप्त ने विचारा कि यह सिंह अवश्य किसी ऐसे पदार्थ का

बना होगा जो या तो पानी से या आग से गल जाय, यह सोच कर पहले उसने उस पिंजड़े को पानी के कुंड में रखा और जब वह पानी मे न गला तो उस पिंजड़े के चारों तरफ आग जलवाई, जिसकी गर्मी से वह सिंह, जो लाह और राल का बना था, गल गया। एक बेर ऐसे ही किसी बादशाह ने एक अँगीठी में दहकती हुई आग*, एक बोरा सरसों और एक मीठा फल महानंद के पास अपने दूत के द्वारा भेज दिया। राजा की सभा का कोई भी मनुष्य इसका आशय न समझ सका; किंतु चंद्रगुप्त ने सोचकर कहा कि अँगीठी यह दिखलाने को भेजी है कि मेरा क्रोध अग्नि है और सरसों यह

*दहकती आग की कथा—"जरासंधमहाकाव्य" (सर्ग ६ पद ९—१२) में भी है कि जरासंध ने उग्रसेन के पास अँगीठी भेजी थी शायद उसी से यह कथा निकाली गई हो।

सवैया—रूप की रूपनिधान अनूप अँगीठी नई गढ़ि मोल मँगाई।
ता मधि पावकपुंज धर्‌यो गिरिधारन जामें प्रभा अधिकाई॥
तेज सों ताके ललाई भई रज मैं मिलि आसु सबै रजताई।
मानो प्रवाल की थाल बनाय के लाल की रास बिसाल लगाई॥ १॥
ढाँकि कै पावक दूत के हाथ दै बात कही इहि भाँति बुझाय कै॥
भैम भुआल सभा महँ सनमुख राखि कै यों कहियो सिर नाय कै॥
याहि पठायो जरासुत नै अवलोकहु नीके अधीरज लाय कै।
पुत्र खपाय कै नातिन पाय कै जीहो जै पाव कै कौन उपाय कै॥२॥

दोहा—सुनत चार तिहि हाथ लै, गयो भैम दरबार।
बासव ऐसे कैक सब, जहँ बैठे सरदार॥ ३॥

अड़िल—जाय जरासुत-दूत भैमपति-पद परयो
देखि अराऊ जगह हिये संभ्रम भरयो॥

सूचना करती है कि मेरी सेना असंख्य है और फल भेजने का आशय यह है कि मेरी मित्रता का फल मधुर है। इनके उत्तर में चंद्रगुप्त ने एक घड़ा जल और एक पिंजड़े में थोड़े से तीतर और एक अमूल्य रत्न भेजा, जिसका आशय यह था कि तुम्हारी सेना कितनी भी असंख्य क्यों न हो हमारे वीर उसका भक्षण करने में समर्थ हैं और तुम्हारा क्रोध हमारी शांति से सहज ही बुझाया जा सकता है और हमारी मित्रता सदा अमूल्य और एक रस है। ऐसे ही तीन पुतलीवाली कहानी भी इसी के साथ प्रसिद्ध है। इसी बुद्धिमानी के कारण चंद्रगुप्त से उसके भाई लोग बुरा मानते थे; और महानंद भी अपने औरस पुत्रों का पक्ष करके इससे कुढ़ता था। यह यद्यपि शूद्रा के गर्भ से था; परंतु ज्येष्ठ होने के कारण अपने को राज का भागी समझता था; और इसी से इसका राज-परिवार से पूर्ण वैमनस्य था। चाणक्य और शकटार ने इसी से निश्चय किया कि हम लोग चन्द्रगुप्त को

जगत जरावन-द्रव्यपात्र आगे धरयो।
सोच जरा हूँ अभय हास बरनन करयो॥ ४॥

सुनि विहँसे जदुबीर जीत की चाय सों।
हँसि बोले गोविंद कहहु यह राय सों॥
उचित समुरपन कौन छत्रकुल-न्याय सों।
चही दमाद सहाय सुता की हाय सों॥ ५॥

सोरठा—इमि कहि द्रुत गहि चाय, आप आप सिखि में दियो।
तुरतहि गयो बुझाय, ज्ञान पाय मन भ्रांत जिमि॥ ६॥

बिदा कियो नृप दूत, उर मैं सर को अंक करि।
निरखि नद्दरथ-पूत, सबन सहित कोप्यो अतिहि॥ ७॥

राज का लोभ देकर अपनी ओर मिला लें और नंदों का नाश करके इसी को राजा बनावें।

यह सब सलाह पक्की हो जाने के पीछे चाणक्य तो अपनी पुरानी कुटी में चला गया और शकटार ने चन्द्रगुप्त और विचक्षणा को तब तक सिखा-पढ़ाकर पक्का करके अपनी ओर फोड़ लिया। चाणक्य ने कुटी में जाकर हलाहल विष मिले हुए कुछ ऐसे पकवान तैयार किए जो परीक्षा करने में न पकड़े जायँ, किंतु खाते ही प्राण नाश हो जाय। विचक्षणा ने किसी प्रकार से महानंद को पुत्रों समेत यह पकवान खिला दिया, जिससे बेचारे सब के सब एक साथ परमधाम को सिधारे *।

---

* भारतवर्ष की कथाओं में लिखा है कि चाणक्य ने अभिचार से मारण का प्रयोग करके इन सभों को मार डाला। विचक्षणा ने उस अभिचार का निर्माल्य किसी प्रकार इन लोगों के अंग में छुला दिया था। किंतु वर्तमान काल के विद्वान् लोग सोचते हैं कि उस निर्माल्य में मंत्र का बल नहीं था। चाणक्य ने कुछ औषधि ऐसे विष मिश्रित बनाए थे कि जिनके भोजन वा स्पर्श से मनुष्य का सद्यः नाश हो जाय। भट्ट सोमदेव के कथा-सरित्सागर के पीठलंबक के चौथे तरंग में लिखा है—योगानंद को ऊँची अवस्था में नए प्रकार की कामवासना उत्पन्न हुई। वररुचि ने यह सोचकर कि राजा को तो भोगविलास से छुट्टी ही नहीं है, इससे राजकाज का काम शकटार से निकाला जाय तो अच्छी तरह से चले। यह विचार कर और राजा से पूछकर शकटार को अंधे कुएँ से निकाल कर वररुचि ने मंत्रीपद पर नियत किया। एक दिन शिकार खेलने में गंगा में राजा ने अपनी पाँचों उँगली की परछाईं वररुचि को दिखलाई। वररुचि ने अपनी दो उँगलियों की परछाईं ऊपर से दिखाई, जिससे राजा के हाथ की परछाईं छिप गई। राजा ने इन संज्ञाओं का कारण पूछा। वररुचि ने कहा—आपका

चन्द्रगुप्त इस समय चाणक्य के साथ था। शकटार अपने दुःख और पापों से संतप्त होकर निविड़ वन में चला गया और

यह आशय था कि पाँच मनुष्य मिल कर सब कार्य साध सकते हैं। मैंने यह कहा कि जो दो चित्त एक हो जायँ तो पाँच का बल व्यर्थ है। इस बात पर राजा ने वररुचि की बड़ी स्तुति की। एक दिन राजा ने अपनी रानी को एक ब्राह्मण से खिड़की में से बात करते देखकर उस ब्राह्मण को मारने की आज्ञा की, किंतु अनेक कारणों से वह बच गया। वररुचि ने कहा कि आपके सब महल की यही दशा है। अनेक स्त्री-वेषधारी पुरुष महल में रहते हैं और उन सबों को पकड़ कर दिखला दिया। इसी से उस ब्राह्मण के प्राण बचे। एक दिन योगानंद की रानी के एक चित्र में, जो महल में लगा हुआ था, वररुचि ने जाँघ में तिल बना दिया। योगानन्द को गुप्त स्थान में वररुचि के तिल बनाने से उस पर भी संदेह हुआ और शकटार को आज्ञा दी कि तुम वररुचि को आज ही रात को मार डालो। शकटार ने उसको अपने घर में छिपा रखा और किसी और को उसके बदले मार कर उसका मारना प्रकट किया। एक बेर राजा का पुत्र हिरण्यगुप्त जंगल में शिकार खेलने गया था, वहाँ रात को सिंह के भय से एक पेड़ पर चढ़ गया। उस वृक्ष पर एक भालू था, किन्तु इसने उसको अभय दिया। इन दोनों में यह बात ठहरी कि आधी रात तक कुँवर सोवें भालू पहरा दे, फिर भालू सोवे कुँवर पहरा दें। भालू ने अपना मित्रधर्म्म निबाहा और सिंह के बहकाने पर भी कुँवर की रक्षा की। किन्तु अपनी पारी में कुँवर ने सिंह के बहकाने से भालू को ढकेलना चाहा, जिस पर उसने जागकर मित्रता के कारण कुँवर को मारा तो नहीं किन्तु कान में मूत दिया, जिससे कुँअर गूँगा और बहिरा हो गया। राजा को बेटे की इस दुर्दशा पर बड़ा सोच हुआ और कहा कि वररुचि जीता होता तो इस समय उपाय सोचता। शकटार ने यह अवसर समझकर राजा से कहा कि वररुचि जीता है और लाकर राजा के सामने खड़ा कर दिया। वररुचि ने कहा—कुँवर ने मित्रद्रोह किया है

अनशन करके प्राण त्याग किए। कोई-कोई इतिहास-लेखक कहते हैं कि चाणक्य ने अपने हाथ से शस्त्र द्वारा नंद का वध किया और फिर क्रम से उसके पुत्रों को भी मारा, किंतु इस विषय का कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है। चाहे जिस प्रकार से हो चाणक्य ने नंदों का नाश किया, किंतु केवल पुत्र सहित राजा के मारने ही से वह चंद्रगुप्त को राजसिंहासन पर न बैठा सका, इससे अपने अंतरंग मित्र जीवसिद्धि को क्षपणक के वेष में राक्षस के पास छोड़कर आप राजा लोगों से सहायता लेने की इच्छा से विदेश निकला। अंत में अफगानिस्तान वा उसके उत्तर ओर के निवासी पर्वतक नामक लोभ-परतंत्र एक राजा से मिलकर और उसको जीतने के पीछे मगध राज्य को आधा भाग देने के नियम पर उसको पटने पर चढ़ा लाया। पर्वतक के भाई का नाम वैरोधक * और पुत्र का मलयकेतु था। और भी पाँच म्लेच्छ राजाओं को पर्वतक अपनी सहायता को लाया था। इधर राक्षस मंत्री राजा के मरने से दुखी होकर उसके भाई सर्वार्थसिद्धि को सिंहासन पर बैठाकर राजकाज चलाने लगा। चाणक्य ने पर्वतक

उसी का यह फल है। यह वृत्त कह कर उसको उपाय से अच्छा किया। राजा ने पूछा—तुमने यह सब वृत्तांत किस तरह जाना? वररुचि ने कहा—योगबल से, जैसे रानी का तिल। (ठीक यही कहानी राजा भोज, उसकी रानी भानुमती और उसके पुत्र और कालिदास की भी प्रसिद्ध है) यह सब कह कर और उदास होकर वररुचि जङ्गल में चला गया। वररुचि से शकटार ने राजा को मारने को कहा था, किन्तु वह धर्मिष्ठ था इससे सम्मत न हुआ। वररुचि के चले जाने पर शकटार ने अवसर पाकर चाणक्य द्वारा कृत्या से नन्द को मारा।

* लिखी पुस्तकों में यह नाम विरोधक, वैरोधक, वैरोचक, वैबोधक विरोध, वैराध इत्यादि कई चाल से लिखा है।

की सेना लेकर कुसुमपुर को चारों ओर से घेर लिया। पंद्रह दिन तक घोरतर युद्ध हुआ। राक्षस की सेना और नागरिक लोग लड़ते-लड़ते शिथिल हो गए; इसी समय में गुप्त रीति से जीवसिद्धि के बहकाने से राजा सर्वार्थसिद्धि वैरागी होकर वन में चला गया। इस कुसमय में राजा के चले जाने से राक्षस और भी उदास हुआ। चंदनदास नामक एक बड़े धनी जौहरी के घर में अपने कुटुंब को छोड़ कर और शकटदास कायस्थ तथा अनेक राजनीति जाननेवाले विश्वासपात्र मित्रों को और कई आवश्यक काम सौंपकर राजा सर्वार्थसिद्धि के फेर लाने को आप तपोवन की ओर गया।

चाणक्य ने जीवसिद्धि-द्वारा यह सब सुनकर राक्षस के पहुँचने के पहले ही अपने मनुष्यों से राजा सर्वार्थसिद्धि को मरवा डाला। राक्षस जब तपोवन में पहुँचा और सर्वार्थसिद्धि को मरा देखा तो अत्यंत उदास होकर वहीं रहने लगा। यद्यपि सर्वार्थसिद्धि के मार डालने से चाणक्य की नंदकुल के नाश की प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी थी, किंतु उसने सोचा कि जब तक राक्षस चंद्रगुप्त का मंत्री न होगा तब तक राज्य स्थिर न होगा। वरंच बड़े नियम से तपोवन में राक्षस के पास मंत्रित्व स्वीकार करने का संदेसा भेजा, परंतु प्रभुभक्त राक्षस ने उसको स्वीकार नहीं किया।

तपोवन में कई दिन रहकर राक्षस ने यह सोचा कि जब तक पर्वतक को हम न फोड़ेंगे, काम न चलेगा। यह सोच-कर वह पर्वतक के राज्य में गया और वहाँ उसके बूढ़े मंत्री से कहा कि चाणक्य बड़ा दगाबाज है, वह आधा राज कभी न देगा। आप राजा को लिखिए, वह मुझसे मिले तो मैं सब राज्य उनको दूँ। मंत्री ने पत्रद्वारा पर्वतक को यह सब वृत्त और राक्षस को

नीतिकुशलता लिख भेजा और यह भी लिखा कि मैं अत्यंत वृद्ध हूँ, आगे से मंत्री का काम राक्षस को दीजिए। पाटलिपुत्र विजय होने पर भी चाणक्य आधा राज्य देने में विलंब करता है, यह देखकर सहज लोभी पर्वतक ने मंत्री की बात मान ली और पत्रद्वारा राक्षस को गुप्त रीति से अपना मुख्य अमात्य बनाकर इधर ऊपर के चित्त से चाणक्य से मिला रहा।

जीवसिद्धि के द्वारा चाणक्य ने राक्षस का सब हाल जान-कर अत्यंत सावधानतापूर्वक चलना आरंभ किया। अनेक भाषा जानने वाले बहुत से धूर्त पुरुषों को वेष बदल-बदलकर भेद लेने को चारों ओर नियुक्त किया। चंद्रगुप्त को राक्षस का कोई गुप्तचर धोखे से किसी प्रकार की हानि न पहुँचावे इसका भी पक्का प्रबंध किया और पर्वतक को विश्वासघात-कर्ता का बदला लेने का दृढ़ संकल्प से, परंतु अत्यंत गुप्त रूप से, उपाय सोचने लगा।

राक्षस ने केवल पर्वतक की सहायता से राज के मिलने की आशा छोड़कर कुलूत*, मलय, काश्मीर, सिंधु और पारस इन पाँच देशों के राजा से सहायता ली। जब इन पाँचों देश के राजाओं ने बड़े आदर से राक्षस को सहायता देना स्वीकार किया तो वह तपोवन के निकट फिर से लौट आया और वहाँ से चंद्रगुप्त के मारने को एक विषकन्या † भेजी और

*कुलूत देश किलात वा कुल्लू देश।

† विषकन्या शास्त्रों में दो प्रकार की लिखी हैं। एक तो थोड़े से ऐसे बुरे योग हैं कि उस लग्न में उस प्रकार के ग्रहों के समय जो कन्या उत्पन्न हो उसके साथ जिसका विवाह हो वा जो उसका साथ करे वह साथ ही वा शीघ्र ही मर जाता है। दूसरे प्रकार की विषकन्या वैद्यक रीति से बनाई जाती थी। छोटेपन से वरन गर्भ से कन्या को दूध में वा भोजन में

अपना विश्वासपात्र समझ कर जीवसिद्धि को उसके साथ कर दिया। चाणक्य ने जीवसिद्धि द्वारा यह सब बात जान कर और पर्वतक की धूर्तता और विश्वासघातकता से कुढ़ कर प्रकट में इस उपहार को बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण किया और लाने वाले को बहुत सा पुरस्कार देकर विदा किया। साँझ होने के पीछे धूर्ताधिराज चाणक्य ने इस कन्या को पर्वतक के पास भेज दिया और इंद्रियलोलुप पर्वतक उसी रात को उस कन्या के संग से मर गया। इधर चाणक्य ने यह सोचा कि मलयकेतु यहाँ रहेगा तो उसको राज्य का हिस्सा देना पड़ेगा, इससे किसी तरह इसको यहाँ से भगावें तो काम चले। इस कार्य के हेतु भागुरायण नामक एक प्रतिष्ठित विश्वासपात्र पुरुष को मलयकेतु के पास सिखा-पढ़ा कर भेज दिया। उसने पिछली रात को मलयकेतु से जाकर उसका बड़ा हितू बनकर उससे कहा कि आज चाणक्य ने विश्वासघातकता करके आपके पिता को विषकन्या के प्रयोग से मार डाला और अवसर पाकर आपको भी मार डालेगा। मलयकेतु बेचारा इस बात के सुनते ही सन्न हो गया और पिता के शयनागार में जाकर देखा तो पर्वतक को बिछौने पर मरा हुआ पाया। इस भयानक दृश्य के देखते ही मुग्ध मलयकेतु के प्राण सूख गए और वह भागुरायण की सलाह से उस रात को छिपकर वहाँ से भागकर अपने राज्य की ओर चला गया। इधर चाणक्य के सिखाए भद्रभट इत्यादि चंद्रगुप्त के कई बड़े-बड़े अधिकारी प्रगट में राजद्रोही बनकर मलयकेतु और भागुरायण के साथ ही भाग गए।

थोड़ा-थोड़ा विष देते-देते बड़ी होने पर उसका शरीर ऐसा विषमय हो जाता था कि जो उसका अंग-संग करता वह मर जाता।

राक्षस ने मलयकेतु से पर्वतक के मारे जाने का समाचार सुनकर अत्यंत सोच किया और बड़े आग्रह और सावधानी से चंद्रगुप्त और चाणक्य के अनिष्टसाधन में प्रवृत्त हुआ।

चाणक्य ने कुसुमपुर में दूसरे दिन यह प्रसिद्ध कर दिया कि पर्वतक और चंद्रगुप्त दोनों समान बंधु थे, इससे राक्षस ने विषकन्या भेजकर पर्वतक को मार डाला और नगर के लोगों के चित्त पर, जिनको कि यह सब गुप्त अनुसंधि न मालूम थी, इस बात का निश्चय भी करा दिया।

इसके पीछे चाणक्य और राक्षस में परस्पर नीति की जो चोटें चली हैं, उसी का इस नाटक में वर्णन है।

महाकवि विशाखदत्त का बनाया

मुद्राराक्षस

स्थान—रंगभूमि

रंगशाला में नांदी-मंगलपाठ

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥

'कौन है सीस पै' 'चंद्रकला' 'कहा याको है नाम' 'यही त्रिपुरारी'।
'हाँ यही नाम है, भूलि गई किमि जानत हू तुम प्रान-पियारी'॥
'नारिहि पूछत चंद्रहि नाहिं, 'कहै विजया जदि चंद्र लबारी'।
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरौ सब पीर तुम्हारी॥
पाद-प्रहार सों जाइ पताल न भूमि सबै तनु-बोझ के मारे।
हाथ नचाइबे सों नभ में इत के उत टूटि परैं नहिं तारे॥
देखन सों जरि जाहिं न लोक न खोलत नैन कृपा उर धारे।
यों थल के बिनु कष्ट सों नाचत शर्व हरौ दुख सर्व तुम्हारे॥*

---

* संस्कृत का मंगलाचरण—

धन्या केयं स्थिता ते शिरसि शशिकला, किन्नु नामैतदस्याः
नामैवास्यास्तदेतत् ; परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः।
नारीं पृच्छामि नेन्दुं ; कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु-
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः॥ १॥

नांदी-पाठ के अनन्तर *

सूत्रधार—बस ! बहुत मत बढ़ाओ, सुनो, आज मुझे सभासदों की आज्ञा है कि सामंत बटेश्वरदत्त के पौत्र और महाराज पृथु के पुत्र विशाखदत्त कवि का बनाया मुद्राराक्षस नाटक खेलो। सच है, जो सभा काव्य के गुण और दोष को सब

और भी

पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवनेरक्षतः स्वैरपातैः
संकोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम् ।
दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रज्वलनकणमुचं बध्नतो दाहभीते-
रित्याधारानुरोधात् त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःखनृत्तम् ॥ २ ॥

अर्थ

'यह आपके सिर पर कौन बड़भागिनी है?' 'शशिकला' है। 'क्या इसका यही नाम है?' 'हाँ, यही तो, तुम तो जानती हो फिर क्यों भूल गई?' 'अजी हम स्त्री को पूछती हैं, चंद्रमा को नहीं पूछती', 'अच्छा चंद्र की बात का विश्वास न हो तो अपनी सखी विजया से पूछ लो।' यों बात बनाकर गंगाजी को छिपाकर देवी पार्वती को ठगने की इच्छा करने वाले महादेवजी का छल तुम लोगों की रक्षा करे।

दूसरा

पृथ्वी झुकने के डर से इच्छानुसार पैर का बोझ नहीं दे सकते, ऊपर के लोकों के इधर-उधर हो जाने के भय से हाथ भी यथेच्छ नहीं फेंक सकते, और उसके अग्निकण से जल जायँगे इसी ध्यान से किसी की ओर भर दृष्टि देख भी नहीं सकते, इससे आधार के संकोच से महादेवजी का कष्ट से नृत्य करना तुम्हारी रक्षा करे।

* नाटकों में पहले मंगलाचरण करके तब खेल आरंभ करते हैं

भाँति समझती है, उसके सामने खेलने में मेरा भी चित्त संतुष्ट होता है।

उपजैं आछे खेत में, मूरखहू के धान।
सघन होन में धान के, चहिय न गुनी किसान॥

तो अब मैं घर से सुघर घरनी को बुलाकर कुछ गाने-बजाने का ढंग जमाऊँ। (घूमकर) यही मेरा घर है, चलूँ। (आगे बढ़कर) अहा! आज तो मेरे घर में कोई उत्सव जान पड़ता है, क्योंकि घरवाले सब अपने-अपने काम में चूर हो रहे हैं।

पीसत कोऊ सुगंध कोऊ जल भरि कै लावत।
कोऊ बैठि कै रंग रंग की माल बनावत॥
कहुँ तिय-गन हुँकार सहित अति स्रवन सोहावत।
होत मुशल को शब्द सुखद जिय को सुनि भावत॥

जो हो घर से स्त्री को बुलाकर पूछ लेता हूँ (नेपथ्य की ओर)

री गुनवारी सब उपाय की जाननवारी।
घर की राखनवारी सब कुछ साधनवारी॥
मो गृह नीति सरूप काज सब करन सँवारी।
बेगि आउ री नटी बिलंब न करु सुनि प्यारी॥

(नटी आती है)

इस मंगलाचरण को नाटकशास्त्र में नांदी कहते हैं। किसी का मत है कि नांदी पहले ब्राह्मण पढ़ता है, कोई कहता है सूत्रधार ही और किसी का मत है कि परदे के भीतर से नांदी पढ़ी या गाई जाय।

नटी—आर्य्यपुत्र * ! आई, अनुग्रहपूर्वक कुछ आज्ञा दीजिए।

सूत्र०—प्यारी, आज्ञा पीछे दी जायगी, पहिले यह बता कि आज ब्राह्मणों का न्योता करके तुमने इस कुटुम्ब के लोगों पर क्यों अनुग्रह किया है ? कि या आप ही से आज अतिथि लोगों ने कृपा किया है कि ऐसे धूप से रसोई चढ़ रही है ?

नटी—आर्य्य ! मैंने ब्राह्मणों को न्योता दिया है।

सूत्र०—क्यों ? किस निमित्त से ?

नटी—चंद्रग्रहण लगने वाला है।

सूत्र०—कौन कहता है ?

नटी—नगर के लोगों के मुँह सुना है।

सूत्र०—प्यारी ! मैंने ज्योतिःशास्त्र के चौंसठों † अंगों में बड़ा परिश्रम किया है। जो हो, रसोई तो होने दो ‡ पर आज तो गहन है यह तो किसी ने तुझे धोखा ही दिया है क्योंकि—

चंद्र बिंब पूरन भए क्रूर केतु§ हठ दाप ||।

बल सों करिहै ग्रास कह—

(नेपथ्य में)

हैं ! मेरे जीते चंद्र को कौन बल से ग्रस सकता है ?

सूत्र०— जेहि बुध रच्छत आप ||

---

* संस्कृत मुहाविरे में पति को स्त्रियाँ आर्य्यपुत्र कहकर पुकारती हैं।

† होरा मुहूर्त जातक ताजक रमल इत्यादि।

‡ अर्थात् ग्रहण का योग तो कदापि नहीं है। खैर रसोई हो।

§ केतु अर्थात् राक्षस मंत्री। राक्षस मंत्री ब्राह्मण था और केवल नाम उसका राक्षस था किन्तु गुण उसमें देवताओं के थे।

|| इस श्लोक का यथार्थ तात्पर्य्य जानने को काशी संस्कृत विद्यालय के अध्यक्ष जगद्विख्यात पंडितवर बापूदेव शास्त्री को मैंने पत्र लिखा।

नटी—आर्य्य! यह पृथ्वी ही पर से चंद्रमा को कौन बचाना चाहता ?

क्योंकि टीकाकारों ने "चन्द्रमा पूर्ण होने पर" यही अर्थ किया है और इस अर्थ से मेरा जी नहीं भरा। कारण यह कि पूर्ण चन्द्र में तो ग्रहण लगता ही है, इसमें विशेष क्या हुआ? शास्त्रीजी ने जो उत्तर दिया है वह यहाँ प्रकाशित होता है।

श्रीयुत बाबू साहिब को बापूदेव का कोटिशः आशीर्वाद, आपने प्रश्न लिख भेजे उनका संक्षेप से उत्तर लिखता हूं।

१ सूर्य्य के अस्त हो जाने पर जो रात्रि में अंधकार होता है यही पृथ्वी की छाया है और पृथ्वी गोलाकार है और सूर्य्य से छोटी है इसलिये उसकी छाया सूच्याकार शंकु के आकार की होती है और यह आकाश में चन्द्र के भ्रमणमार्ग को लाँघ के बहुत दूर तक सदा सूर्य्य से छः राशि के अंतर पर रहती है और पूर्णिमा के अंत में चन्द्रमा भी सूर्य्य से छः राशि के अंतर पर रहता है। इसलिए जिस पूर्णिमा में चन्द्रमा पृथ्वी की छाया में आ जाता है अर्थात् पृथ्वी की छाया चन्द्रमा के बिम्ब पर पड़ती है तभी वह चन्द्र का ग्रहण कहलाता है और छाया जो चन्द्रबिंब पर देख पड़ती है वही ग्रास कहलाता है। और राहु नामक एक दैत्य प्रसिद्ध है वह चन्द्रग्रहणकाल में पृथ्वी की छाया में प्रवेश करके चन्द्र की और प्रजा को पीड़ा करता है, इसी कारण से लोक में राहुकृत ग्रहण कहलाता है और उस काल में स्नान, दान, जप, होम इत्यादि करने से वह राहुकृत पीड़ा दूर होती है और बहुत पुण्य होता है।

२ पूर्णिमा में चन्द्रग्रहण होने का कारण ऊपर लिखा ही है और पूर्णिमा में चन्द्रबिंब भी संपूर्ण उज्ज्वल होता है तभी चन्द्रग्रहण होता है।

३ जब कि पूर्णिमा के दिन चन्द्रग्रहण होता है, इससे पूर्णिमा में चन्द्रमा का और बुध का योग कभी नहीं होता (क्योंकि बुध सर्वदा

सूत्र०—प्यारी, मैंने भी नहीं लखा, देखो, अब फिर से वही पढ़ता हूँ और अब जब वह फिर बोलैगा तो मैं उसको बोली से पहिचान लूँगा कि कौन है।

सूर्य्य के पास रहता है और पूर्णिमा के दिन सूर्य्य चन्द्रमा से छ राशि के अंतर पर रहता है, इसलिये बुध भी उस दिन चन्द्र से दूर ही रहता है)। यों बुध के योग में चन्द्रग्रहण कभी नहीं हो सकता। इति शिवम् संवत् १९३७ ज्येष्ठ शुक्ल १५ मंगल दिने, मंगलं मंगले भूयात्।

शास्त्रीजी से एक दिन मुझे इस विषय में फिर वार्त्ता हुई। शास्त्री जी को मैंने मुद्राराक्षस की पुस्तक भी दिखलाई। इस पर शास्त्रीजी ने कहा कि मुझको ऐसा मालूम होता है कि यदि उस दिन उपराग का संभव होगा तो सूर्यग्रहण का क्योंकि बुधयोग अमावस्या के पास होता भी है। पुराणों में स्पष्ट लिखा है कि राहु चन्द्रमा का ग्रास करता है और केतु सूर्य्य का, और इस श्लोक में केतु का नाम भी है। इससे भी संभव होता है कि सूर्य्य-उपराग रहा हो। तो चाणक्य का कहना भी ठीक हुआ कि केतु हठपूर्वक क्यों चन्द्र को ग्रसा चाहता है अर्थात् एक तो चन्द्रग्रहण का दिन नहीं, दूसरे केतु का चन्द्रमा ग्रास का विषय नहीं क्योंकि नंद-वीर्य्यजात होने से चन्द्रगुप्त राक्षस का वध्य नहीं है। इस अवस्था में 'चंद्रम् असंपूर्णमंडलं' चन्द्रमा का अधूरा मंडल यह अर्थ करना पड़ेगा। तब छंद में 'चंद बिंब पूरन भए' के स्थान पर , बिना चन्द्र पूरन भए' पढ़ना चाहिए।

बुध का बिंब प्राचीन भास्कराचार्य्य के मतानुसार छ कला पंद्रह विकला के लगभग है। परंतु नवीनों के मत से केवल दश विकला परम है।

परन्तु इसमें कुछ संदेह नहीं कि यह ग्रह बहुत छोटा है क्योंकि प्राचीमों को इसका ज्ञान बहुत कठिनता से हुआ है, इसी लिए इसका नाम हो बुध, ज्ञ, इत्यादि हो गया। यह पृथ्वी से १८६३७७ इतने योजन की दूरी पर

('अहो चंद्र पूर न भए' फिर से पढ़ता है)

(नेपथ्य में)

हैं! मेरे जीते चंद्र को कौन बल से ग्रस सकता है!

सूत्र०—(सुनकर) जाना।

अरे अहै कौटिल्य

नटी—(डर नाट्य करती है)

मध्यम मान से रहता है और सदा सूर्य्य के अनुचर के समान सूर्य्य के पास ही रहता है, एक पाद अर्थात् तीन राशि भी सूर्य्य से आगे नहीं जाता। विलसन ने केतु शब्द से मलयकेतु का ग्रहण किया है। इसमें भी एक प्रकार का अलकार अच्छा रहता है।

चमत्कृत-बुद्धिसम्पन्न पंडित सुधाकरजी ने इस विषय में जो लिखा है वह विचित्र ही है। वह भी प्रकाश किया जाता है—

करत अधिक अँधियार वह, मिलि मिलि करि हरिचन्द।
द्विजराजहु विकसित करत, धनि धनि यह हरिचन्द॥

श्री बाबू साहब को हमारे अनेक आशीर्वाद,

महाशय!

चन्द्रग्रहण का सम्भव भूछाया के कारण प्रति पूर्णिमा के अन्त में होता है और उस समय में केतु और सूर्य्य साथ रहते हैं। परन्तु केतु और सूर्य्य का योग यदि नियत संख्या के अर्थात् पाँच राशि सोलह अंश से लेकर छ राशि चौदह अंश के वा ग्यारह राशि सोलह अंश से लेकर बारह राशि चौदह अंश के भीतर होता है तब ग्रहण होता है और यदि योग नियत संख्या के बाहर पड़ जाता है तब ग्रहण नहीं होता। इसलिये सूर्य्य केतु के योग ही के कारण से प्रत्येक पूर्णिमा में ग्रहण नहीं होता। तब

सूत्र०— दुष्ट टेढ़ो मतिधारो ।
नंदवंश जिन सहजहि निज क्रोधानल जारो ॥
चंद्रग्रहण को नाम सुनत निज नृप को मानी ।
इतही आवत चंद्रगुप्त पैं कुछ भय जानी ॥
तो अब चलो हम लोग चलैं ।

(दोनों जाते हैं)

क्रूरग्रहः स केतुश्चन्द्रमसं पूर्णमण्डलमिदानीम् ।
अभिभवितुमिच्छति बलाद्रक्षत्येनं तु बुधयोगः ॥

इस श्लोक का यथार्थ अर्थ यह है कि क्रूरग्रह सूर्य्य केतु के साथ चन्द्रमा के पूर्ण मंडल को न्यून करने की इच्छा करता है परन्तु हे बुध ! योग जो है वही बल से उस चन्द्रमा की रक्षा करता है। यहाँ बुध शब्द पंडित के अर्थ में संबोधन है, ग्रहवाची कदापि नहीं है। बुध शब्द को ग्रहार्थ में ले जाने से जो-जो अर्थ होते हैं वे सब बनौआ हैं। इति

सं० १९३७ वैशाख शुक्ल ५

ऊँचे ह्व गुरु बुध कवी मिलि लरि होत विरूप ।
करत समागम सबहि सों यह द्विजराज अनूप ॥

आपका

पं० सुधाकर

—:o:—

प्रथम अंक

स्थान—चाणक्य का घर

(अपनी खुली शिखा को हाथ से फटकारता हुआ चाणक्य आता है)

चाणक्य—बता ! कौन है जो मेरे जीते चंद्रगुप्त को बल से ग्रसना चाहता है ?

सदा दंति के कुंभ को जो बिदारै ।
ललाई नए चंद सी जौन धारै ॥
जँभाई समै काल सो जौन बाढ़ै ।
भलो सिंह को दाँत सो कौन काढ़ै ?

और भी

कालसर्पिणी नंद-कुल, क्रोध धूम सी जौन ।
अबहूँ बाँधन देत नहिं, अहो शिखा मम कौन ?
दहन नंदकुल-बन सहज, अति प्रज्वलित प्रताप ।
को मम क्रोधानल-पतँग, भयो चहत अब आप ॥

शारंगरव ! शारंगरव !!

(शिष्य आता है)

शिष्य—गुरुजी ! क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—बेटा ! मैं बैठना चाहता हूँ ।

शिष्य—महाराज ! इस दालान में बेंत की चटाई पहिले ही से बिछी है, आप बिराजिए ।

चाणक्य—बेटा! केवल कार्य्य में तत्परता मुझे व्याकुल करती है, न कि और उपाध्यायों के तुल्य शिष्यजन से दुःशीलता*। (बैठकर आप ही आप) क्या सब लोग यह बात जान गए कि मेरे नंदवंशों† के नाश से क्रुद्ध होकर राक्षस, पितावध से दुखी मलयकेतु‡ से मिलकर यवनराज की सहायता लेकर चंद्रगुप्त पर चढ़ाई किया चाहता है। (कुछ सोचकर) क्या हुआ, जब मैं नंदवंश-वध की बड़ी प्रतिज्ञारूपी नदी से पार उतर चुका, तब यह बात प्रकाश होने ही से क्या मैं इसको न पूरा कर सकूँगा। ? क्योंकि—

दिसि सरिस रिपु-रमनी बदन-शशि शोक कारिख लाय कै।
लै नीति-पवनहि सचिव-बिटपन क्षार डारि जराय कै॥
बिनु पुर निवासी पच्छिगन नृप बंसमूल नसाय कै।
भो शांत मम क्रोधाग्नि यह कछु दहन हित नहिं पाय कै§॥

और भी

जिन जनन ने अति सोच सों नृप-भय प्रगट धिक नहिं कह्यो।
पै मम अनादर को अतिहि वह सोच जिय जिनके रह्यो||॥
ते लखहिं आसन सों गिरायो नंद सहित समाज कों।
जिमि शिखर तें बनराज क्रोध गिरावई गजराज कों॥

---

* अर्थात् कुछ तुम लोगों पर दुष्टता से नहीं, अपने काम की, घबराहट से बिछी हुई चटाई नहीं देखी।

† नन्दवंश अर्थात् नव नन्द—एक नन्द और उसके आठ पुत्र।

‡ पर्वतेश्वर राजा का पुत्र।

§ अग्नि बिना आधार नहीं जलती।

|| नन्द ने कुरूप होने के कारण चाणक्य को अपने श्राद्ध से निकाल दिया था।

सो यद्यपि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर चुका हूँ, तौ भी चंद्र गुप्त के हेतु शस्त्र अब भी धारण करता हूँ। देखो मैंने—

नव नंदन कौं मूल सहित खोद्यो छन भर में।
चन्द्रगुप्त मैं श्री राखी नलिनी जिमि सर में॥
क्रोध प्रीति सों एक नासि कै एक बसायो।
शत्रु मित्र को प्रकट सबन फल लै दिखलायो॥

अथवा जब तक राक्षस नहीं पकड़ा जाता तब तक नंदों के मारने ही से क्या और चन्द्रगुप्त को राज्य मिलने से ही क्या (कुछ सोचकर) अहा! राक्षस की नंदवंश में कैसी दृढ़ भक्ति है जब तक नंदवंश का कोई भी जीता रहेगा तब तक वह कभी शूद्र का मंत्री बनना स्वीकार न करेगा, इससे उसके पकड़ने में हम लोगों को निरुद्यम रहना अच्छा नहीं। यही समझकर तो नंदवंश का सर्वार्थसिद्धि बिचारा तपोवन में चला गया तौ भी हमने मार डाला। देखो, राक्षस मलयकेतु को मिलाकर हमारे बिगाड़ने में यत्न करता ही जाता है। (आकाश में देखकर) वाह राक्षस मंत्री वाह! क्यों न हो! वाह मंत्रियों में बृहस्पति के समान वाह! तू धन्य है, क्योंकि—

जब लौं रहै सुख राज को तब लौं सबै सेवा करैं।
पुनि राज बिगड़े कौन स्वामी? तनिक नाहिं चित धरैं॥
जे बिपतिहू में पालि पूरब प्रीति काज सँवारहीं।
ते धन्य नर तुम सारिखे दुरलभ अहैं संसय नहीं॥

इसी से तो हम लोग इतना यत्न करके तुम्हें मिलाया चाहते हैं कि तुम अनुग्रह करके चंद्रगुप्त के मंत्री बनो, क्योंकि—

मूरख कातर स्वामिभक्त कछु काम न आवै।
पंडित हू बिन भक्ति काज कछु नाहिं बनावै॥

निज स्वारथ की प्रीति करैं ते सब जिमि नारी।
बुद्धि भक्ति दोउ होय तबै सेवक सुखकारी॥

सो मैं भी इस विषय में कुछ सोता नहीं हूँ, यथाशक्ति उसी से मिलाने का यत्न करता रहता हूँ। देखो, पर्वतक को चाणक्य ने मारा यह अपवाद न होगा, क्योंकि सब जानते हैं कि चंद्रगुप्त और पर्वतक मेरे मित्र हैं तो मैं पर्वतक को मार कर चंद्रगुप्त का पक्ष निर्बल कर दूँगा ऐसी शंका कोई न करेगा, सब यही कहेंगे कि राक्षस ने विष-कन्या-प्रयोग करके चाणक्य के मित्र पर्वतक को मार डाला। पर एकांत में राक्षस ने मलयकेतु के जी में यह निश्चय करा दिया है कि तेरे पिता को मैंने नहीं मारा, चाणक्य ही ने मारा। इससे मलयकेतु मुझसे बिगड़ रहा है। जो हो, यदि यह राक्षस लड़ाई करने को उद्यत होगा तो भी पकड़ जायगा। पर जो हम मलयकेतु को पकड़ेंगे तो लोग निश्चय कर लेंगे कि अवश्य चाणक्य ही ने अपने मित्र इसके पिता को मारा और अब मित्रपुत्र अर्थात् मलयकेतु को मारना चाहता है। और भी, अनेक देश की भाषा, पहिरावा, चाल-व्यवहार जाननेवाले अनेक वेषधारी बहुत से दूत मैंने इसी हेतु चारों ओर भेज रखे हैं कि वे भेद लेते रहें कि कौन हम लोगों से शत्रुता रखता है, कौन मित्र है। और कुसुमपुर-निवासी नंद के मंत्री और संबंधियों के ठीक-ठीक वृत्तांत का अन्वेषण हो रहा है, वैसे ही भद्रभटादिकों को बड़े-बड़े पद देकर चंद्रगुप्त के पास रख दिया है और भक्ति की परीक्षा लेकर बहुत से अप्रमादी पुरुष भी शत्रु से रक्षा करने को नियत कर दिये हैं। वैसे ही मेरा सहपाठी मित्र विष्णुशर्म्मा नामक ब्राह्मण जो शुक्रनीति और चौसठों कला से ज्योतिषशास्त्र में बड़ा प्रवीण है, उसे मैंने पहिले ही योगी बनाकर नंदवध की प्रतिज्ञा के अनंतर ही

कुसुमपुर में भेज दिया है, वह वहाँ नंद के मंत्रियों से मित्रता करके, विशेष करके राक्षस का अपने पर बड़ा विश्वास बढ़ाकर सब काम सिद्ध करेगा, इससे मेरा सब काम बन गया है परन्तु चंद्रगुप्त सब राज्य का भार मेरे ही ऊपर रखकर सुख करता है। सच है, जो अपने बल बिना और अनेक दुःखों के भोगे बिना राज्य मिलता है वही सुख देता है। क्योंकि—

अपने बल सों लावहीं जद्यपि मारि सिकार।
तदपि सुखी नहिं होत हैं, राजा-सिंह-कुमार॥

(*यम का चित्र हाथ में लिए योगी का वेष धारण किए दूत आता है)

दूत—अरे, और देव को काम नहिं, जम को करो प्रनाम।
जो दूजन के भक्त को, प्रान हरत परिनाम॥

और

उलटे ते हू बनत है, काज किए अति हेत।
जो जम जी सबको हरत, सोई जीविका देत।

तो इस घर में चलकर जमपट दिखाकर गावें। (घूमता है)

शिष्य—रावलजी! ड्योढ़ी के भीतर न जाना।

दूत—अरे ब्राह्मण! यह किसका घर है?

शिष्य—हम लोगों के परम प्रसिद्ध गुरु चाणक्यजी का।

दूत—(हँसकर) अरे ब्राह्मण, तब तो यह मेरे गुरुभाई ही का घर है; मुझे भीतर जाने दे, मैं उसको धर्मोपदेश करूँगा।

शिष्य—(क्रोध से) छिः मूर्ख! क्या तू गुरुजी से भी धर्म्म विशेष जानता है?

---

* उस काल में एक चाल के फकीर जम का चित्र दिखलाकर संसार की अनित्यता के गीत गाकर भीख माँगते थे।

दूत—अरे ब्राह्मण ! क्रोध मत कर, सभी सब कुछ नहीं जानते, कुछ तेरा गुरु जानता है, कुछ मेरे से लोग जानते हैं।

शिष्य—(क्रोध से) मूर्ख ! क्या तेरे कहने से गुरुजी की सर्वज्ञता उड़ जायगी ?

दूत—भला ब्राह्मण ! जो तेरा गुरु सब जानता है तो बतलावे कि चंद्र किसको नहीं अच्छा लगता ?

शिष्य—मूर्ख ! इसको जानने से गुरु को क्या काम ?

दूत—यही तो कहता हूँ कि यह तेरा गुरु ही समझेगा कि इसके जानने से क्या होता है ? तू तो सूधा मनुष्य है, तू केवल इतना ही जानता है कि कमल को चंद्र प्यारा नहीं है। देख—

जदपि होत सुन्दर कमल, उलटो तदपि सुभाव।
जो नित पूरन चंद सों, करत बिरोध बनाव॥

चाणक्य—(सुनकर आप ही आप) अहा ! "मैं चंद्रगुप्त के बैरियों को जानता हूँ" यह कोई गूढ़ वचन से कहता है।

शिष्य—चल मूर्ख ! क्या बेठिकाने की बकवाद कर रहा है।

दूत—अरे ब्राह्मण ! यह सब ठिकाने की बातें होंगी।

शिष्य—कैसे होंगी ?

दूत—जो कोई सुननेवाला और समझने वाला होय।

चाणक्य—रावलजी ! बेखटके चले आइए, यहाँ आपको सुनने और समझने वाले मिलेंगे।

दूत—आया। (आगे बढ़कर) जय हो महाराज की।

चाणक्य—(देखकर आप ही आप) कामों की भीड़ से यह नहीं निश्चय होता कि निपुणक को किस बात के जानने के लिये भेजा था। अरे जाना, इसे लोगों के जी का भेद

लेने को भेजा था। (प्रकाश) आओ, आओ कहो, अच्छे हो? बैठो।

दूत—जो आज्ञा। (भूमि में बैठता है)

चाणक्य—कहो, जिस काम को गए थे उसका क्या किया? चंद्रगुप्त को लोग चाहते हैं कि नहीं?

दूत—महाराज; आपने पहिले ही से ऐसा प्रबंध किया है कि कोई चंद्रगुप्त से विराग न करे; इस हेतु सारी प्रजा महाराज चंद्रगुप्त में अनुरक्त है, पर राक्षस मंत्री के दृढ़ मित्र तीन ऐसे हैं जो चंद्रगुप्त की वृद्धि नहीं सह सकते।

चाणक्य—(क्रोध से) अरे! कह, कौन अपना जीवन नहीं सह सकते, उनके नाम तू जानता है?

दूत—जो नाम न जानता तो आपके सामने क्योंकर निवेदन करता?

चाणक्य—मैं सुना चाहता हूँ कि उनके क्या नाम हैं?

दूत—महाराज सुनिए। पहिले तो शत्रु का पक्षपात करनेवाला क्षपणक है।

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) हमारे शत्रुओं का पक्षपाती क्षपणक है? (प्रकाश) उसका नाम क्या है?

दूत—जीवसिद्धि नाम है।

चाणक्य—तूने कैसे जाना कि क्षपणक मेरे शत्रुओं का पक्षपाती है?

दूत—क्योंकि उसने राक्षस मंत्री के कहने से देव पर्वतेश्वर पर विषकन्या का प्रयोग किया।

चाणक्य—(आप ही आप) जीवसिद्धि तो हमारा गुप्त दूत है। (प्रकाश) हाँ, और कौन है?

दूत—महाराज! दूसरा राक्षस मंत्री का प्यारा सखा शकटदास कायथ है।

चाणक्य—(हँसकर आप ही आप) कायथ कोई बड़ी बात नहीं है तो भी क्षुद्र शत्रु की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, इसी हेतु तो मैंने सिद्धार्थक को उसका मित्र बनाकर उसके पास रखा है। (प्रकाश) हाँ, तीसरा कौन है?

दूत—(हँसकर) तीसरा तो राक्षस मंत्री का मानो हृदय ही पुष्प-पुरवासी चंदनदास नामक वह बड़ा जौहरी है जिसके घर में मंत्री राक्षस अपना कुटुम्ब छोड़ गया है।

चाणक्य—(आप ही आप) अरे! यह उसका बड़ा अंतरंग मित्र होगा; क्योंकि पूरे विश्वास बिना राक्षस अपना कुटुम्ब यों न छोड़ जाता। (प्रकाश) भला, तूने यह कैसे जाना कि राक्षस मंत्री वहाँ अपना कुटुम्ब छोड़ गया है?

दूत—महाराज! इस 'मोहर' की अँगूठी से आपको विश्वास होगा। (अँगूठी देता है)।

चाणक्य—(अँगूठी लेकर और उसमें राक्षस का नाम बाँचकर प्रसन्न होकर आप ही आप) अहा! मैं समझता हूँ कि राक्षस ही मेरे हाथ लगा। (प्रकाश) भला, तुमने यह अँगूठी कैसे पाई? मुझसे सब वृत्तांत तो कहो।

दूत—सुनिए, जब मुझे आपने नगर के लोगों का भेद लेने भेजा तब मैंने यह सोचा कि बिना भेस बदले मैं दूसरे के घर में न घुसने पाऊँगा, इससे मैं जोगी का भेस करके जमराज का चित्र हाथ में लिए फिरता-फिरता चंदनदास जौहरी के घर में चला गया और वहाँ चित्र फैलाकर गीत गाने लगा।

चाणक्य—हाँ, तब!

दूत—तब महाराज ! कौतुक देखने को एक पाँच बरस का बड़ा सुन्दर बालक एक परदे के आड़ से बाहर निकला। उस समय परदे के भीतर स्त्रियों में बड़ा कलकल हुआ कि "लड़का कहाँ गया।" इतने में एक स्त्री ने द्वार के बाहर मुख निकालकर देखा और लड़के को झट पकड़ ले गई, पर पुरुष की उँगली से स्त्री की उँगली पतली होती है, इससे द्वार ही पर यह अँगूठी गिर पड़ी, और मैं उस पर राक्षस मंत्री का नाम देखकर आपके पास उठा लाया।

चाणक्य—वाह-वाह ! क्यों न हो। अच्छा जाओ, मैंने सब सुन लिया ! तुम्हें इसका फल शीघ्र ही मिलेगा।

दूत—जो आज्ञा। [जाता है

चाणक्य—शारंगरव ! शारंगरव !!

शिष्य—(आकर) आज्ञा, गुरुजी।

चाणक्य—बेटा ! कलम, दावात, कागज तो लाओ।

शिष्य—जो आज्ञा। (बाहर जाकर ले आता है) गुरुजी ! ले आया।

चाणक्य—(लेकर आप ही आप) क्या लिखूँ ? इसी पत्र से राक्षस को जीतना है।

(प्रतिहारी आता है)

प्रतिहारी—जय हो, महाराज की जय हो !

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) वाह-वाह ! कैसा सगुन हुआ कि कार्य्यारम्भ ही में जय शब्द सुनाई पड़ा। (प्रकाश) कहो, शोणोत्तरा, क्यों आई हो ?

प्रति०—महाराज ! राजा चन्द्रगुप्त ने प्रणाम कहा है और पूछा है कि मैं पर्वतेश्वर की क्रिया किया चाहता हूँ इससे आपकी

आज्ञा हो तो उनके पहिरे आभरणों को पंडित ब्राह्मणों को दूँ।

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) वाह चन्द्रगुप्त वाह, क्यों न हो; मेरे जी की बात सोचकर सन्देशा कहला भेजा है। (प्रकाश) शोणोत्तरा! चन्द्रगुप्त से कहो कि "वाह! बेटा वाह! क्यों न हो, बहुत अच्छा विचार किया! तुम व्यवहार में बड़े ही चतुर हो, इससे जो सोचा है सो करो, पर पर्वतेश्वर के पहिरे आभरण गुणवान ब्राह्मणों को देने चाहिएँ, इससे ब्राह्मण मैं चुन के भेजूँगा।"

प्रति०—जो आज्ञा महाराज! [जाता है

चाणक्य—शारंगरव! विश्वावसु आदि तीनों भाइयों से कहो कि जाकर चन्द्रगुप्त से आभरण लेकर मुझसे मिलें।

शिष्य—जो आज्ञा। [जाता है

चाणक्य—(आप ही आप) पीछे तो यह लिखें पर पहिले क्या लिखें। (सोचकर) अहा! दूतों के मुख से ज्ञात हुआ है कि उस म्लेच्छराज-सेना में से प्रधान पाँच राजा परम भक्ति से राक्षस की सेवा करते हैं।

प्रथम चित्रवर्मा कुलूत को राजा भारी।
मलयदेशपति सिंहनाद दूजो बलधारी॥
तीजो पुसकरनयन अहै कश्मीर देश को।
सिंधुसेन पुनि सिंधु-नृपति अति उग्र भेष को॥
मेघाक्ष पाँचवों प्रबल अति, बहु हय-जुत पारस-नृपति।
अब चित्रगुप्त इन नाम कों मेटहिं हम जब लिखहिं हति*॥

* अर्थात् अब जब हम इनका नाम लिखते हैं तो निश्चय ये सब मरेंगे। इससे अब चित्रगुप्त अपने खाते से इनका नाम काट दें, न ये जीते रहेंगे न चित्रगुप्त को लेखा रखना पड़ेगा।

(कुछ सोचकर) अथवा न लिखूँ, अभी सब बात योंही रहे।
(प्रकाश) शारंगरव! शारंगरव!!

शिष्य—(आकर) आज्ञा गुरुजी!

चाणक्य—बेटा! वैदिक लोग कितना भी अच्छा लिखें तो भी उनके अक्षर अच्छे नहीं होते; इससे सिद्धार्थक से कहो (कान में कहकर) कि वह शकटदास के पास जाकर यह सब बात यों लिखवा कर और "किसी का लिखा कुछ कोई आप ही बाँचे" यह सरनामे पर नाम लिखवाकर हमारे पास आवे और शटकदास से यह न कहे कि चाणक्य ने लिखवाया है।

शिष्य—जो आज्ञा। [जाता है

चाणक्य—(आप ही आप) अहा! मलयकेतु को तो जीत लिया।

(चिट्ठी लेकर सिद्धार्थक आता है)

सिद्धा०—जय हो महाराज की, जय हो, महाराज! यह शकट-दास के हाथ का लेख है।

चाणक्य—(लेकर देखता है) वाह कैसे सुन्दर अक्षर हैं! (पढ़कर) बेटा, इस पर यह मोहर कर दो।

सिद्धा०—जो आज्ञा। (मोहर करके) महाराज, इस पर मोहर हो गई, अब और कहिए क्या आज्ञा है।

चाणक्य—बेटा! हम तुम्हें एक अपने निज के काम में भेजा चाहते हैं।

सिद्धा०—(हर्ष से) महाराज, यह तो आपकी कृपा है। कहिए, यह दास आपके कौन काम आ सकता है?

चाणक्य—सुनो, पहिले जहाँ सूली दी जाती है वहाँ जाकर फाँसी देनेवालों को दाहिनी आँख दबाकर समझा देना* और जब वे तेरी बात समझकर डर से इधर-उधर भाग जायँ तब तुम शकटदास को लेकर राक्षस मंत्री के पास चले जाना। वह अपने मित्र के प्राण बचाने से तुम पर बड़ा प्रसन्न होगा और तुम्हें पारितोषक देगा, तुम उसको लेकर कुछ दिनों तक राक्षस ही के पास रहना और जब और भी लोग पहुँच जायँ तब यह काम करना। (कान में समाचार कहता है।)

सिद्धा०—जो आज्ञा महाराज।

चाणक्य—शारंगरव ! शारंगरव !!

शिष्य—(आकर) आज्ञा गुरुजी !

चाणक्य—कालपाशिक और दंडपाशिक से यह कह दो कि चंद्रगुप्त आज्ञा करता है कि जीवसिद्धि क्षपणक ने राक्षस के कहने से विषकन्या का प्रयोग करके पर्वतेश्वर को मार डाला, यही दोष प्रसिद्ध करके अपमानपूर्वक उसको नगर से निकाल दें।

शिष्य—जो आज्ञा। (घूमता है)

चाणक्य—बेटा ! ठहर—सुन, और वह जो शकटदास कायस्थ है वह राक्षस के कहने से नित्य हम लोगों की बुराई करता है। यही दोष प्रगट करके उसको सूली दे दें और उसके कुटुंब को कारागार में भेज दें।

---

*चांडालों को पहले से समझा दिया था कि जो आदमी दाहिनी आँख दबावे उसको हमारा मनुष्य समझकर तुम लोग झटपट हट जाना।

शिष्य—जो आज्ञा महाराज। [जाता है

चाणक्य—(चिंता करके आप ही आप) हा! क्या किसी भाँति यह दुरात्मा राक्षस पकड़ा जायगा?

सिद्धा०—महाराज! लिया।

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) अहा! क्या राक्षस को ले लिया? (प्रकाश) कहो, क्या पाया!

सिद्धा०—महाराज! आपने जो संदेशा कहा, वह मैंने भली भाँति समझ लिया. अब काम पूरा करने जाता हूँ।

चाणक्य—(मोहर और पत्र देकर) सिद्धार्थक! जा तेरा काम सिद्ध हो।

सिद्धा०—जो आज्ञा। (प्रणाम करके जाता है)

शिष्य—(आकर) गुरुजी, कालपाशिक, दंडपाशिक आपसे निवेदन करते हैं कि महाराज चन्द्रगुप्त की आज्ञा पूर्ण करने जाते हैं।

चाणक्य—अच्छा, बेटा! मैं चन्दनदास जौहरी को देखा चाहता हूँ।

शिष्य—जो आज्ञा। (बाहर जाकर चन्दनदास को लेकर आता है) इधर आइए सेठ जी!

चंदन०—(आप ही आप) यह चाणक्य ऐसा निर्दय है कि यह जो एकाएक किसी को बुलावे तो लोग बिना अपराध भी इससे डरते हैं, फिर कहाँ मैं इसका नित्य का अपराधी, इसी से मैंने धनसेनादिक तीन महाजनों से कह दिया है कि दुष्ट चाणक्य जो मेरा घर लूट ले तो आश्चर्य नहीं, इससे स्वामी राक्षस का कुटुम्ब और कहीं ले जाओ, मेरी जो गति होनी है वह हो।

शिष्य—इधर आइए साहजी !

चंदन०—आया। (दोनों घूमते हैं)

चाणक्य—(देखकर) आइए साहजी ! कहिए, अच्छे तो हैं ? बैठिए, यह आसन है।

चंदन०—(प्रणाम करके) महाराज ! आप नहीं जानते कि अनुचित सत्कार अनादर से भी विशेष दुःख का कारण होता है, इससे मैं पृथ्वी ही पर बैठूँगा।

चाणक्य—वाह ! आप ऐसा न कहिए, आपको तो हम लोगों के साथ यह व्यवहार उचित ही है ; इससे आप आसन ही पर बैठिए।

चंदन०—(आप ही आप) कोई बात तो इस दुष्ट ने जानी। (प्रकाश) जो आज्ञा।। (बैठता है)

चाणक्य—कहिए साहजी ! चंदनदास जी ! आप को व्यापार में लाभ तो होता है न ?

चंदन०—महाराज, क्यों नहीं, आपकी कृपा से सब बनजव्यापार अच्छी भाँति चलता है।

चाणक्य—कहिए साहजी ! पुराने राजाओं के गुण, चंद्रगुप्त के दोषों को देखकर, कभी लोगों को स्मरण आते हैं ?

चंदन०—(कान पर हाथ रखकर) राम ! राम ! शरद ऋतु के पूर्ण चंद्रमा की भाँति शोभित चंद्रगुप्त को देखकर कौन नहीं प्रसन्न होता ?

चाणक्य— जो प्रजा ऐसी प्रसन्न है तो राजा भी प्रजा से कुछ अपना भला चाहते हैं।

चंदन०—महाराज ! जो आज्ञा। मुझसे कौन और कितनी वस्तु चाहते हैं ?

चाणक्य—सुनिए साहजी ! यह नंद का राज* नहीं है, चंद्रगुप्त का राज्य है, धन से प्रसन्न होनेवाला तो वह लालची नंद ही था, चंद्रगुप्त तो तुम्हारे ही भले से प्रसन्न होता है।

चंदन०—(हर्ष से) महाराज, यह तो आपकी कृपा है।

चाणक्य—पर यह तो मुझसे पूछिए कि वह भला किस प्रकार से होगा ?

चंदन०—कृपा करके कहिये।

चाणक्य—सौ बात की एक बात यह है कि राजा के विरुद्ध कामों को छोड़ो।

चंदन०—महाराज ! वह कौन अभागा है जिसे आप राजविरोधी समझते हैं ?

चाणक्य—उनमें पहिले तो तुम्हीं हो।

चंदन०—(कान पर हाथ रखकर) राम ! राम ! राम ! भला तिनके से और अग्नि से कैसा विरोध ?

चाणक्य—विरोध यही है कि तुमने राजा के शत्रु राक्षस मंत्री का कुटुंब अब तक घर में रख छोड़ा है।

चंदन०—महाराज ! यह किसी दुष्ट ने आपसे झूठ कह दिया है।

चाणक्य—सेठजी ! डरो मत। राजा के भय से पुराने राजा के सेवक लोग अपने मित्रों के पास बिना चाहे भी कुटुंब छोड़कर भाग जाते हैं, इससे इसके छिपाने ही में दोष होगा।

चंदन०—महाराज ! ठीक है। पहिले मेरे घर पर राक्षस मंत्री का कुटुंब था।

---

* यहाँ तुच्छता प्रगट करने के लिये 'राज्य' का अपभ्रंश "राज" लिखा गया है।

चाणक्य—पहिले तो कहा कि किसी ने झूठ कहा है। अब कहते हो था, यह गबड़े की बात कैसी ?

चंदन०—महाराज ! इतना ही मुझसे बातों में फेर पड़ गया।

चाणक्य—सुनो, चंद्रगुप्त के राज्य में छल का विचार नहीं होता, इससे राक्षस का कुटुंब दो, तो तुम सच्चे हो जाओगे।

चंदन०—महाराज ! मैं कहता हूँ न, पहिले राक्षस का कुटुंब था।

चाणक्य—तो अब कहाँ गया ?

चंदन०—न जाने कहाँ गया।

चाणक्य—(हँसकर)सुनो सेठजी ! तुम क्या नहीं जानते कि साँप तो सिर पर बूटी पहाड़ पर। और जैसा चाणक्य ने नंद को ..(इतना कह कर लाज से चुप रह जाता है।)

चंदन०—(आप ही आप)

प्रिया दूर, घन गरजहीं, अहो दुःख अति घोर।
औषधि दूर हिमाद्रि पै, सिर पै सर्प कठोर ॥

चाणक्य—चंद्रगुप्त को अब राक्षस मंत्री राज पर से उठा देगा यह आशा छोड़ो, क्योंकि देखो—

नृप नंद जीवत नीतिबल सों मति रही जिनकी भली।
ते "वक्रनासादिक" सचिव नहिं थिर सके करि, नसि चली ॥
सो श्री सिमिटि अब आय लिपटी चंद्रगुप्त नरेस सों।
तेहि दूर को करि सकै ? चाँदनि छुटत कहुँ राकेस सों ? ॥

और भी

"सदा दंति के कुंभ को" इत्यादि फिर से पढ़ता है

चंदन०—(आप ही आप) अब तुमको सब कहना फबता है।

(नेपथ्य में) हटो हटो—

चाणक्य—शारंगरव ! यह क्या कोलाहल है देखो तो ?

शिष्य—जो आज्ञा (बाहर जाकर फिर आकर) महाराज, राजा चंद्रगुप्त की आज्ञा से राजद्वेषी जीवसिद्धि क्षपणक निरादरपूर्वक नगर से निकाला जाता है।

चाणक्य—क्षपणक ! हा ! हा ! अथवा राजविरोध का फल भोगै। सुनो चंदनदास ! देखो, राजा अपने द्वेषियों को कैसा कड़ा दंड देता है। मैं तुम्हारे भले की कहता हूँ, सुनो, और राक्षस का कुटुंब देकर जन्म भर राजा की कृपा से सुख भोगो।

चंदन—महाराज ! मेरे घर राक्षस मंत्री का कुटुंब नहीं है।

(नेपथ्य में कलकल होता है)

चाणक्य—शारंगरव ! देख तो यह क्या कलकल होता है ?

शिष्य—जो आज्ञा। (बाहर जाकर फिर आता है) महाराज ! राजा की आज्ञा से राजद्वेषी शकटदास कायस्थ को सूली देने ले जाते हैं।

चाणक्य—राजविरोध का फल भोगै। देखो, सेठजी ! राजा अपने विरोधियों को कैसा कड़ा दंड देता है, इससे राक्षस का कुटुंब छिपाना वह कभी न सहेगा ; इसी से उसका कुटुंब देकर तुमको अपना प्राण और कुटुंब बचाना हो तो बचाओ।

चंदन०—महाराज ! क्या आप मुझे डर दिखाते हैं ! मेरे यहाँ अमात्य राक्षस का कुटुंब हई नहीं है, पर जो होता तो भी मैं न देता।

चाणक्य—क्या चंदनदास ! तुमने यही निश्चय किया है।

चंदन०—हां ! मैंने यही दृढ़ निश्चय किया है।

चाणक्य—(आप ही आप) वाह चंदनदास ! वाह ! क्यों न हो !

दूजे के हित प्रान दै, करै धर्म प्रतिपाल।
को ऐसो शिवि के बिना, दूजो है या काल॥

(प्रकाश) क्या चंदनदास, तुमने यही निश्चय किया है ?

चंदनदास०—हां ! हां ! मैंने यही निश्चय किया है।

चाणक्य—(क्रोध से) दुरात्मा दुष्ट बनिया ! देख राजकोप का कैसा फल पाता है।

चंदन०—(बाँहें फैलाकर) मैं प्रस्तुत हूँ, आप जो चाहिए अभी दंड दीजिए।

चाणक्य—(क्रोध से) शारंगरव ! कालपाशिक, दंडपाशिक से मेरी आज्ञा कहो कि अभी इस दुष्ट बनिये को दंड दें। नहीं, ठहरो, दुर्गपाल विजयपाल से कहो कि इसके घर का सारा धन ले लें और इसको कुटुंब-समेत पकड़ कर बाँध रखें, तब तक मैं चंद्रगुप्त से कहूँ, वह आप ही इसके सर्वस्व और प्राण के हरण की आज्ञा देगा।

शिष्य—जो आज्ञा महाराज। सेठजी इधर आइए।

चंदन०—लीजिए महाराज ! यह मैं चला। (उठकर चलता है, आप ही आप) अहा ! मैं धन्य हूँ कि मित्र के हेतु मेरे प्राण जाते हैं, अपने हेतु तो सभी मरते हैं।

(दोनों बाहर जाते हैं)

चाणक्य—(हर्ष से) अब ले लिया है राक्षस को, क्योंकि

जिमि इन तृन सम प्रान तजि कियो मित्र को त्रान।
तिमि सोहू निज मित्र अरु कुल रखिहै दै प्रान॥

(नेपथ्य में कलकल)

चाणक्य—शारंगरव !

शिष्य—(आकर) आज्ञा गुरुजी !

चाणक्य—देख तो यह कैसी भीड़ है।

शिष्य—(बाहर जाकर फिर आश्चर्य से आकर) महाराज ! शकटदास को सूली पर से उतारकर सिद्धार्थक लेकर भाग गया।

चाणक्य—(आप ही आप) वाह सिद्धार्थक काम का आरम्भ तो किया। (प्रकाश) हैं क्या ले गया ? (क्रोध से) बेटा ! दौड़कर भागुरायण से कहो कि उसको पकड़े।

शिष्य—(बाहर जाकर आता है, विषाद से) गुरुजी ! भागुरायण तो पहिले ही से कहीं भाग गया है।

चाणक्य—(आप ही आप) निज काज साधने के लिये जाय। (क्रोध से प्रकाश) भद्रभट, पुरुषदत्त, हिंगुराज, बलगुप्त, राजसेन, रोहिताक्ष और विजयवर्म्मा से कहो कि दुष्ट भागुरायण को पकड़ें।

शिष्य—जो आज्ञा। (बाहर जाकर फिर आकर विषाद से) महाराज ! बड़े दुःख की बात है कि सब बेड़े का बेड़ा हलचल हो रहा है। भद्रभट इत्यादि तो सब पिछली ही रात भाग गए।

चाणक्य—(आप ही आप) सब काम सिद्ध करें। (प्रकाश) बेटा, सोच मत करो।

जे बात कछु जिय धारि भागे, भले सुख सों भागहीं।
जे रहे तेहू जाहिं, तिनको सोच मोहि जिय कछु नहीं॥
सत सैन हू सो अधिक साधिनि काज की जेहि जग कहै।
सो नन्दकुल की खननहारी बुद्धि नित मो मैं रहै॥

(उठकर और आकाश की ओर देखकर) अभी भद्रभटादिकों को पकड़ता हूँ। (आप ही आप) राक्षस! अब मुझसे भाग के कहाँ जायगा, देख—

एकाकी मदगलित गज, जिमि नर लावहिं बाँधि।
चन्द्रगुप्त के काज मैं तिमि तोहि धरिहौं साधि॥

(सब जाते हैं—जवनिका गिरती है)

———

द्वितीय अंक

स्थान—राजपथ

(मदारी आता है)

मदारी—अललललललल, नाग लाए सांप लाए !

तंत्र युक्ति सब जानहीं, मंडल रचहिं विचार।
मंत्र रक्षही ते करहिं, अहि नृप को उपकार॥

(* आकाश में देखकर) महाराज ! क्या कहा ? 'तू कौन है ?' महाराज ! मैं जीर्णविष नाम सँपेरा हूँ। (फिर आकाश की ओर देखकर) क्या कहा कि 'मैं भी साँप का मंत्र जानता हूँ खेलूँगा ?' तो आप काम क्या करते हैं, यह तो कहिए ? (फिर आकाश की ओर देखकर) क्या कहा—'मैं राजसेवक हूँ ? तो आप तो साँप के साथ खेलते ही हैं। (फिर ऊपर देखकर) क्या कहा 'कैसे ?' मंत्र और जड़ी बिन मदारी और आँकुस बिन मतवाले हाथी का हाथीवान, वैसे ही नए अधिकार के संग्राम-विजयी राजा के सेवक—ये तीनों अवश्य नष्ट होते हैं। (ऊपर देखकर) यह देखते-देखते कहाँ चला गया ! (फिर ऊपर देखकर) क्या महाराज ! पूछते हो कि 'इन पिटारियों में क्या है ?' इन पिटारियों में मेरी जीविका के सर्प हैं। (फिर ऊपर देखकर) क्या कहा कि 'मैं देखूँगा ?' वाह-वाह महाराज ! देखिए-देखिए, मेरी बोहनी हुई, कहिए इसी स्थान पर खोलूँ ? परन्तु यह स्थान अच्छा नहीं है; यदि आपको

---

* 'आकाश में देखकर' या 'ऊपर देखकर' का आशय यह है कि मानों दूसरे से बात करता है।

देखने की इच्छा हो तो आप इस स्थान में आइए मैं दिखाऊँ। (फिर आकाश की ओर देखकर) क्या कहा कि 'यह स्वामी राक्षस मंत्री का घर है, इसमें मैं घुसने न पाऊँगा,' तो आप जायँ, महाराज! मैं तो अपनी जीविका के प्रभाव से सभी के घर जाता-आता हूँ। अरे क्या वह गया? (चारों ओर देखकर) अहा, बड़े आश्चर्य की बात है, जब मैं चाणक्य की रक्षा में चन्द्रगुप्त को देखता हूँ तब समझता हूँ कि चन्द्रगुप्त ही राज्य करेगा, पर जब राक्षस की रक्षा में मलयकेतु को देखता हूँ तब चन्द्रगुप्त का राज गया सा दिखाई देता है, क्योंकि—

चाणक्य ने लै जदपि बाँधी बुद्धिरूपी डोर सों।
करि अचल लक्ष्मी मौर्यकुल में नीति के निज ज़ोर सों।
पै तदपि राक्षस चातुरी करि हाथ में ताकों करै।
गहि ताहि खींचत आपुनो दिसि मोहि यह जानी परै।

सो इन दोनों परम नीतिचतुर मंत्रियों के विरोध में नन्दकुल की लक्ष्मी संशय में पड़ी है।

दोऊ सचिव-विरोध सों, जिमि बन जुग गजराय।
हथिनी सी लक्ष्मी विचल, इत उत झोंका खाय॥

तो चलूँ, अब मंत्री राक्षस से मिलूँ।

(जवनिका उठती है और आसन पर बैठा राक्षस और पास प्रियंवदक नामक सेवक दिखाई देते हैं)

राक्षस—(ऊपर देखकर आँखों में आँसू भरकर) हा! बड़े कष्ट की बात है—

गुन-नीति-बल सों जीति अरि जिमि आपु जादवगन हयो।
तिमि नंद को यह बिपुल कुल बिधि बाम सों सब नसि गयो॥

एहि सोच में मोहि दिवस अरु निसि नित्य जागत बीतहीं।
यह लखौ चित्र विचित्र मेरे भाग के बिनु भीतहीं॥

अथवा

बिनु भक्ति भूले, बिनहिं स्वारथ हेतु हम यह पन लियो।
बिनु प्रान के भय, बिनु प्रतिष्ठा-लाभ सब अब लौं कियो॥
सब छोड़ि कै परदासता एहि हेत नित प्रति हम करैं।
जो स्वर्ग में हूँ स्वामि मम निज शत्रु हत लखि सुख भरैं॥

(आकाश की ओर देखकर दुःख से) हा! भगवती लक्ष्मी! तू बड़ी अगुणज्ञा है क्योंकि—

निज तुच्छ सुख के हेतु तजि गुनरासि नंद नृपाल कों।
अब शूद्र में अनुरक्त ह्वै लपटी सुधा मनु व्याल कों॥
ज्यों मत्त गज के मरत मद की धार ता साथहिं नसै।
त्यों नंद के साथहि नसी किन? निलज, अजहूँ जग बसै॥

अरे पापिन!

का जग में कुलवंत नृप जीवत रह्यौ न कोय।
जो तू लपटी शूद्र सों नीच-गामिनी होय?॥

अथवा

बारवधू जन को अहै सहजहिं चपल सुभाव।
तजि कुलीन गुनियन करहिं ओछे जन सों चाव॥

तो हम भी अब तेरा आधार ही नाश किए देते हैं। (कुछ सोचकर) हम मित्रवर चंदनदास के घर अपना कुटुम्ब छोड़कर बाहर चले आए सो अच्छा ही किया। क्योंकि एक तो अभी कुसुमपुर को चाणक्य घेरा नहीं चाहता, दूसरे यहाँ के निवासी महाराज नंद में अनुरक्त हैं, इससे हमारे सब उद्योगों में सहायक होते हैं। वहाँ भी विषादिक से चंद्रगुप्त

के नाश करने को और सब प्रकार से शत्रु का दाँव-घात व्यर्थ करने को बहुत को धन देकर शकटदास को छोड़ हो दिया है। प्रतिक्षण शत्रुओं का भेद लेने को और उनका उद्योग नाश करने को भी जीव-सिद्धि इत्यादि सुहृद नियुक्त ही हैं। सो अब तो—

विष-वृक्ष-अहिसुत-सिंहपोत-समान जा दुखरास कों।
नृपनंद निज सुत जानि पाल्यौ सकुल निज असु-नास कों॥
ता चंद्रगुप्तहि बुद्धि-सर मम तुरत मारि गिराइहै।
जो दुष्ट दैव न कवच बनिकै असह आड़े आइहै॥

(कंचुकी आता है)

कंचुकी—(आप ही आप)

नृपनंद काम-समान चानक-नीति-जर जरजर भयो।
पुनि धर्म-सम नृप चंद्र तिन तन पुरहु क्रम सों बढ़ि लयो॥
अवकास लहि तेहि लोभ राक्षस जदपि जीतन जाइहै।
पै सिथिल बल भे नाहिं कोऊ बिधिहु सों जय पाइहै॥

(देखकर) मंत्री राक्षस है। (आगे बढ़कर) मंत्री! आपका कल्याण हो।

राक्षस—जाजलक! प्रणाम करता हूँ। अरे प्रियंवदक! आसन ला।

प्रियंवदक—(आसन लाकर) आसन है, आप बैठें।

कंचुकी—(बैठकर) मंत्री, कुमार मलयकेतु ने आपको यह कहा है कि "आपने बहुत दिनों से अपने शरीर का सब शृङ्गार छोड़ दिया है इससे मुझे बड़ा दुःख होता है। यद्यपि आपको अपने स्वामी के गुण नहीं भूलते और उनके वियोग के

दुःख में यह सब कुछ नहीं अच्छा लगता तथापि मेरे कहने से आप पहिरें।" (आभरण दिखलाता है) मंत्री ! आभरण कुमार ने अपने अंग से उतारकर भेजे हैं, आप इन्हें धारण करें।

राक्षस—जाजलक ! कुमार से कह दो कि तुम्हारे गुणों के आगे मैं स्वामी के गुण भूल गया। पर—

इन दुष्ट बैरिन सों दुखी निज अंग नाहिं सँवारिहौं।
भूषन बसन सिंगार तब लौं हौं न तन कछु धारिहौं॥
जब लौं न सब रिपु नासि, पाटलिपुत्र फेर बसाइहौं।
हे कुँवर ! तुमको राज दै, सिर अचल छत्र फिराइहौं॥

कंचुकी—अमात्य ! आप जो न करो सो थोड़ा है, यह बात कौन कठिन है ? पर कुमार की यह पहिली बिनती तो मानने ही के योग्य है।

राक्षस—मुझे तो जैसी कुमार की आज्ञा माननीय है वैसी ही तुम्हारी भी, इससे मुझे कुमार की आज्ञा मानने में कोई विचार नहीं है।

कंचुकी—(आभूषण पहिराता है) कल्याण हो महाराज ! मेरा काम पूरा हुआ।

राक्षस—मैं प्रणाम करता हूँ।

कंचुकी—मुझको जो आज्ञा हुई थी सो मैंने पूरी की। [जाता है

राक्षस—प्रियंवदक ! देख तो मेरे मिलने को द्वार पर कौन खड़ा है।

प्रियं०—जो आज्ञा। (आगे बढ़कर सँपेरे के पास आकर) आप कौन हैं ?

सँपेरा—मैं जीर्णविष नामक सँपेरा हूँ और राक्षस मंत्री के साम्हने मैं साँप खेलना चाहता हूँ। मेरी यही जीविका है।

प्रियं०—तो ठहरो, हम अमात्य से निवेदन कर लें। (राक्षस के पास जाकर) महाराज! एक सँपेरा है, वह आपको अपना करतब दिखलाया चाहता है।

राक्षस—(बाईं आँख का फड़कना दिखाकर, आप ही आप) हैं, आज पहिले ही साँप दिखाई पड़े। (प्रकाश) प्रियंवदक! मेरा साँप देखने को जी नहीं चाहता सो इसे कुछ देकर बिदा कर।

प्रियं०—जो आज्ञा। (सँपेरे के पास जाकर) लो, मंत्री तुम्हारा कौतुक बिना देखे ही तुम्हें यह देते हैं, जाओ।

सँपेरा—मेरी ओर से यह बिनती करो कि मैं केवल सँपेरा ही नहीं हूँ किंतु भाषा का कवि भी हूँ, इससे जो मंत्री जी मेरी कविता मेरे मुख से न सुना चाहें तो यह पत्र ही दे दो पढ़ लें। (एक पत्र देता है)

प्रियं०—(पत्र लेकर राक्षस के पास आकर) महाराज! वह सँपेरा कहता है कि मैं केवल सँपेरा ही नहीं हूँ, भाषा का कवि भी हूँ। इससे जो मंत्रीजी मेरी कविता मेरे मुख से सुनना न चाहें तो यह पत्र ही दे दो, पढ़ लें। (पत्र देता है)

राक्षस—(पत्र पढ़ता है)

सकल कुसुम-रस पान करि मधुप रसिक-सिरताज।
जो मधु त्यागत ताहि लै होत सबै जगकाज॥

(आप ही आप) अरे!!—"मैं कुसुमपुर का वृत्तांत जाननेवाला आपका दूत हूँ" इस दोहे से यह ध्वनि निकलती है। अह! मैं तो कामों से ऐसा घबड़ा रहा हूँ कि अपने भेजे भेदिया लोगों को भी भूल गया। अब स्मरण आया। यह तो सँपेरा बना हुआ विराधगुप्त कुसुमपुर से आया है।

(प्रकाश) प्रियंवदक ! इसको बुलाओ यह सुकवि है, मैं भी इसकी कविता सुना चाहता हूँ।

प्रियं०—जो आज्ञा। (सँपेरे के पास जाकर) चलिए, मंत्रीजी आपको बुलाते हैं।

सँपेरा—(मंत्री के सामने जाकर और देखकर आप ही आप) अरे यही मंत्री राक्षस है ! अहा !—

लै बाम बाहु-लताहि राखत कंठ सौं खसि खसि परै।
तिमि धरे दच्छिन बाहु कोहू गोद में बिच लै गिरै॥
जा बुद्धि के डर होइ संकित नृप हृदय कुच नहिं धरै।
अजहूँ न लच्छमी चंद्रगुप्तहि गाढ़ आलिंगन करै॥

(प्रकाश) मंत्री की जय हो।

राक्षस—(देखकर) अरे विराध—(संकोच से बात उड़ाकर) प्रियंवदक ! मैं जब तक सर्पों से अपना जी बहलाता हूँ तब तक सबको लेकर तू बाहर ठहर।

प्रियं०—जो आज्ञा।

(बाहर जाता है)

राक्षस—मित्र विराधगुप्त ! इस आसन पर बैठो।

विराधगुप्त—जो आज्ञा। (बैठता है)

राक्षस—(खेद-सहित निहारकर) हा ! महाराज नंद के आश्रित लोगों की यह अवस्था ! (रोता है)

विराध०—आप कुछ सोच न करें, भगवान की कृपा से शीघ्र ही वही अवस्था होगी।

राक्षस—मित्र विराधगुप्त ! कहो, कुसुमपुर का वृत्तांत कहो।

विराध०—महाराज ! कुसुमपुर का वृत्तांत बहुत लम्बा-चौड़ा है, इससे जहाँ से आज्ञा हो वहाँ से कहूँ।

राक्षस—मित्र ! चंद्रगुप्त के नगर-प्रवेश के पीछे मेरे भेजे हुए विष देनेवाले लोगों ने क्या क्या किया यह सुना चाहता हूँ ।

विराध०—सुनिए—शक, यवन, किरात, कांबोज, पारस, वाह्लीकादिक देश के चाणक्य के मित्र राजों की सहायता से, चंद्रगुप्त और पर्वतेश्वर के बलरूपी समुद्र से कुसुमपुर चारों ओर से घिर गया है ।

राक्षस—(कृपाण खींचकर क्रोध से) हैं ! मेरे जीते कौन कुसुमपुर घेर सकता है ? प्रवीरक ! प्रवीरक !

चढ़ौ लै सरैं धाइ घेरौ अटा कों ।
धरौ द्वार पै कुंजरैं ज्यों घटा कों ॥
कहौ जोधनै मृत्यु कां जीति धावैं ।
चलैं संग भै छाड़ि कै कीर्ति पावैं ॥

विराध०—महाराज ! इतनी शीघ्रता न कीजिए, मेरी बात सुन लीजिए ।

राक्षस—कौन बात सुनूँ ! अब मैंने जान लिया कि इसी का समय आ गया है । (शस्त्र छोड़कर आँखों में आँसू भरकर) हा ! देव नंद ! राक्षस को तुम्हारी कृपा कैसे भूलेगी ?

हैं जहँ झुंड खड़े गज मेघ के आज्ञा करौ तहाँ राक्षस ! जायकै ।
त्यों ये तुरंग अनेकन हैं, तिनहूँ के प्रबंधहि राखौ बनायकै ॥
पैदल ये सब तेरे भरोसे हैं, काज करौ तिनको चित लायकै ।
यों कहि एक हमैं तुम मानत हे, निज काज हजार बनायकै ॥

हाँ फिर ?

विराध०— तब चारों ओर से कुसुमनगर घेर लिया और नगरवासी विचारे भीतर ही भीतर घिरे-घिरे घबड़ा गये उनकी उदासी देखकर सुरंग के मार्ग से सर्व्वार्थसिद्धि

तपोवन में चला गया और स्वामी के विरह से आपके सब लोग शिथिल हो गए। तब अपने जय की डौंड़ी सब नगर में शत्रु लोगों ने फिरवा दी, और आपके भेजे हुये लोग सुरंग में इधर-उधर छिप गए, और जिस विषकन्या को आपने चंद्रगुप्त के नाश-हेतु भेजा था उससे तपस्वी पर्वतेश्वर मारा गया।

राक्षस—अहा मित्र ! देखो, कैसा आश्चर्य हुआ—

जो विषमयी नृप चंद्र-वध हित नारी राखी लाय कै।
तासों हत्यो पर्वत उलटि चाणक्य बुद्धि उपाय कै॥
जिमि करन-शक्ति अमोघ अर्जुन-हेतु धरी छिपाय कै।
पै कृष्ण के मत सो घटोत्कच पै परी घहराय कै॥

विराध०—महाराज ! समय की सब उलटी गति है—क्या कीजियेगा ?

राक्षस—हाँ ! तब क्या हुआ ?

विराध०—तब पिता का वध सुनकर कुमार मलयकेतु नगर से निकलकर चले गए और पर्वतेश्वर के भाई वैरोधक पर उन लोगों ने अपना विश्वास जमा लिया। तब उस दुष्ट चाणक्य ने चंद्रगुप्त का प्रवेश-मुहूर्त्त प्रसिद्ध करके नगर के सब बढ़ई और लोहारों को बुलाकर एकत्र किया और उनसे कहा कि महाराज के नंद-भवन में गृहप्रवेश का मुहूर्त ज्योतिषियों ने आज ही आधी रात का दिया है, इससे बाहर से भीतर तक सब द्वारों को जाँच लो। तब उससे बढ़ई-लोहारों ने कहा कि 'महाराज ! चंद्रगुप्त का गृह-प्रवेश जानकर दारुवर्म ने प्रथम द्वार तो पहले ही सोने की तोरनों से शोभित कर रखा है, भीतर के द्वारों को हम लोग ठीक करते हैं। यह सुनकर चाणक्य

ने कहा कि बिना कहे ही दारुवर्म्म ने बड़ा काम किया इससे उसको चतुराई का पारितोषिक शीघ्र ही मिलेगा।

राक्षस—(आश्चर्य से) चाणक्य प्रसन्न हो यह कैसी बात है ? इससे दारुवर्म्म का यत्न या तो उलटा होगा या निष्फल होगा, क्योंकि इसने बुद्धि-मोह से या राजभक्ति से बिना समय ही चाणक्य के जी में अनेक संदेह और विकल्प उत्पन्न कराए। हाँ फिर ?

विराध०—फिर उस दुष्ट चाणक्य ने बुलाकर सब को सहेज दिया कि आज आधी रात को प्रवेश होगा, और उसी समय पर्वतेश्वर के भाई वैरोधक और चंद्रगुप्त को एक आसन पर बिठाकर पृथ्वी का आधा-आधा भाग कर दिया।

राक्षस—क्या पर्वतेश्वर के भाई वैरोधक को आधा राज मिला, यह पहले ही उसने सुना दिया ?

विराध०—हाँ, तो इससे क्या हुआ ?

राक्षस—(आप ही आप) निश्चय यह ब्राह्मण बड़ा धूर्त है, कि इसने उस सीधे तपस्वी से इधर-उधर की चार बात बनाकर पर्वतेश्वर के मारने के अपयश-निवारण के हेतु यह उपाय सोचा। (प्रकाश) अच्छा कहो—तब ?

विराध०—तब यह तो उसने पहले ही प्रकाश कर दिया था कि आज रात को गृह-प्रवेश होगा, फिर उसने वैरोधक को अभिषेक कराया और बड़े-बड़े बहुमूल्य स्वच्छ मोतियों का उसको कवच पहिराया और अनेक रत्नों से जड़ा सुन्दर मुकुट उसके सिर पर रखा और गले में अनेक सुगन्ध के फूलों की माला पहिराई, जिससे वह एक ऐसे बड़े राजा की भाँति हो गया कि जिन लोगों ने उसे सर्वदा देखा है वे

भी न पहिचान सकें। फिर उस दुष्ट चाणक्य की आज्ञा से लोगों ने चन्द्रगुप्त की चन्द्रलेखा नाम की हथिनी पर बिठाकर बहुत से मनुष्य साथ करके बड़ी शीघ्रता से नन्द-मंदिर में इसका प्रवेश कराया। जब वैरोधक मंदिर में घुसने लगा तब आपका भेजा दारुवर्म्म बढ़ई उसको चन्द्रगुप्त समझकर उसके ऊपर गिराने को अपनी कल की बनी तोरन लेकर सावधान हो बैठा। इसके पीछे चन्द्रगुप्त के अनुयायी राजा सब बाहर खड़े रह गए और जिस बर्बर को आपने चन्द्रगुप्त के मारने के हेतु भेजा था वह भी अपनी सोने की छड़ी की गुप्ती जिसमें एक छोटी कृपाण थी लेकर वहाँ खड़ा हो गया।

राक्षस—दोनों ने बेठिकाने काम किया। हाँ फिर ?

विराध—तब उस हथिनी को मारकर बढ़ाया और उसके दौड़ चलने से कल की तोरण का लक्ष, जो चन्द्रगुप्त के धोखे वैरोधक पर किया गया था, चूक गया और वहाँ बर्बर जो चन्द्रगुप्त का आसरा देखता था, वह बेचारा इसी कल की तोरन से मारा गया। जब दारुवर्म्म ने देखा कि लक्ष तो चूक गए, अब मारे जायँगे ही तब उसने उस कल के लोहे की कील से उस ऊँचे तोरन के स्थान ही पर से चन्द्रगुप्त के धोखे तपस्वी वैरोधक को हथिनी ही पर मार डाला।

राक्षस—हाय ! दोनों बात कैसे दुःख की हुई कि चन्द्रगुप्त तो काल से बच गया और दोनों बिचारे बर्बर और वैरोधक मारे गए। (आप ही आप) दैव ने इन दोनों को नहीं मारा हम लोगों को मारा !! (प्रकाश) और वह दारुवर्म्म बढ़ई क्या हुआ ?

विराध०—उसको बैरोधक के साथ के मनुष्यों ने मार डाला।

राक्षस--हाय! बड़ा दुःख हुआ! हाय प्यारे दारुवर्म्म का हम लोगों से वियोग हो गया। अच्छा! उस वैद्य अभयदत्त ने क्या किया?

विराध०—महाराज! सब कुछ किया।

राक्षस—(हर्ष से) क्या चन्द्रगुप्त मारा गया!

विराध०—दैव ने न मरने दिया।

राक्षस—(शोक से) तो क्या फूलकर कहते हो कि सब कुछ किया?

विराध०—उसने औषधि में विष मिलाकर चन्द्रगुप्त को दिया, पर चाणक्य ने उसको देख लिया और सोने के बरतन में रखकर उसका रंग पलटा जानकर चन्द्रगुप्त से कह दिया कि इस औषधि में विष मिला है, इसको न पीना।

राक्षस—अरे वह ब्राह्मण बड़ा ही दुष्ट है। हाँ, तो वैद्य क्या हुआ!

विराध०—उस वैद्य को वही औषधि पिलाकर मार डाला।

राक्षस—(शोक से) हाय हाय! बड़ा गुणी मारा गया। भला शयनघर के प्रबन्ध करने वाले प्रमोदक ने क्या किया!

विराध०—उसने सब चौका लगाया।

राक्षस—(घबड़ाकर) क्यों?

विराध०—उस मूर्ख को जो आपके यहाँ से व्यय को धन मिला सो उससे उसने अपना बड़ा ठाट-बाट फैलाया। यह देखते ही चाणक्य चौकन्ना हो गया और उससे अनेक प्रश्न किए, जब उसने उन प्रश्नों के उत्तर अंडबंड दिए तो उस पर पूरा संदेह करके दुष्ट चाणक्य ने उसको बुरी चाल से मार डाला।

राक्षस—हा ! क्या दैव ने यहाँ भी उलटा हमीं लोगों को मारा ! भला वह चन्द्रगुप्त को सोते समय मारने के हेतु जो राज-भवन में बीभत्सकादिक वीर सुरंग में छिपा रखे थे उनका क्या हुआ ?

विराध—महाराज ! कुछ न पूछिए।

राक्षस—(घबड़ाकर) क्यों-क्यों ! क्या चाणक्य ने जान लिया ?

विराध०—नहीं तो क्या ?

राक्षस—कैसे ?

विराध०—महाराज ! चन्द्रगुप्त के सोने जाने के पहिले ही वह दुष्ट चाणक्य उस घर में गया और उसको चारों ओर से देखा तो भीतर की एक दरार से चिउँटियाँ चावल के कने लाती हैं। यह देखकर उस दुष्ट ने निश्चय कर लिया कि इस घर के भीतर मनुष्य छिपे हैं। बस, यह निश्चय कर उसने उस घर में आग लगवा दिया और धूआँ से घबड़ाकर निकल तो सके ही नहीं, इस से वे बीभत्सकादिक वहीं भीतर ही जलकर राख हो गए।

राक्षस—(सोच से) मित्र ! देख, चन्द्रगुप्त का भाग्य कि सब के सब मर गए। (चिंता सहित) अहा ! सखा ! देख दुष्ट चन्द्रगुप्त का भाग्य !

कन्या जो विष की गई ताहि हतन के काज।
तासों मार्‌यौ पर्वतक जाको आधो राज॥
सबै नसे कलबल सहित जे पठए बध हेत।
उलटी मेरी नीति सब मौर्यहि को फल देत॥

विराध०—महाराज ! तब भी उद्योग नहीं छोड़ना चाहिए—

प्रारम्भ ही नहिं विघ्न के भय अधम जन उद्यम सजैं।
पुनि करहिं तौ कोउ विघ्न सों डरि मध्य ही मध्यम तजैं॥

धरि जात विघ्न अनेक पै निरभय न उद्यम ते टरैं।
जे पुरुष उत्तम अंत में ते सिद्ध सब कारज करैं॥

और भी—

का सेसहि नहिं भार पै धरती देत न डारि।
कहा दिवसमनि नहिं थकत पै नहिं रुकत विचारि॥
सज्जन ताको हिय करत जेहि किय अंगीकार।
यहै नेम सुकृतीन को निज जिय करहु विचार॥

राक्षस—मित्र! यह क्या तू नहीं जानता कि मैं प्रारब्ध के भरोसे नहीं हूँ? हाँ, फिर।

विराध०—तब से दुष्ट चाणक्य चंद्रगुप्त की रक्षा में चौकन्ना रहता है और इधर-उधर के अनेक उपाय सोचा करता है और पहिचान-पहिचान के नंद के मित्रों को पकड़ता है।

राक्षस—(घबड़ाकर) हाँ! कहो तो, मित्र! उसने किसे-किसे पकड़ा है!

विराध०—सबके पहिले तो जीवसिद्धि क्षपणक को निरादर करके नगर से निकाल दिया।

राक्षस—(आप ही आप) भला, इतने तक तो कुछ चिंता नहीं' क्योंकि वह योगी है उसका घर बिना जी न घबड़ायगा। (प्रकाश) मित्र! उस पर अपराध क्या ठहराया?

विराध०—कि इसी दुष्ट ने राक्षस की भेजी विषकन्या से पर्वतेश्वर को मार डाला।

राक्षस—(आप ही आप) वाह रे कौटिल्य वाह! क्यों न हो?

निज कलंक हम पै धर्यौ, हर्यौ अर्द्ध बँटवार।
नीतिबीज तुव एक ही फल उपजवत हजार॥

(प्रकाश) हाँ, फिर?

विराध०—फिर चंद्रगुप्त के नाश को इसमें दारुवर्म्मादिक नियत किए थे यह दोष लगाकर शकटदास को शूली दे दी।

राक्षस—(दुःख से) हा मित्र शकटदास ! तुम्हारी बड़ी अयोग्य मृत्यु हुई। अथवा स्वामी के हेतु तुम्हारे प्राण गए। इससे कुछ सोच नहीं है, सोच हमीं लोगों का है कि स्वामी के मरने पर भी जीना चाहते हैं।

विराध०—मंत्री ! ऐसा न सोचिए, आप स्वामी का काम कीजिये।

राक्षस—मित्र !

केवल है यह सोक, जीव लोभ अब लौं बचे।
स्वामी गयो परलोक, पै कृतघ्न इतही रहे॥

विराध०—महाराज ! ऐसा नहीं। ('केवल है यह' ऊपर का छंद फिर से पढ़ता है) *

राक्षस—मित्र ! कहो, और भी सैकड़ों मित्रों का नाश सुनने को ये पापी कान उपस्थित हैं।

विराध०—यह सब सुनकर चंदनदास ने बड़े कष्ट से आपके कुटुंब को छिपाया।

राक्षस—मित्र ! उस दुष्ट चाणक्य के तो चंदनदास ने विरुद्ध ही किया।

विराध०—तो मित्र का बिगाड़ करना तो अनुचित ही था।

राक्षस—हाँ, फिर क्या हुआ ?

विराध०—तब चाणक्य ने आपके कुटुंब को चंदनदास से बहुत माँगा पर उसने नहीं दिया, इस पर उस दुष्ट ब्राह्मण ने—

---

*अर्थात् जो लोग जीवलोभ से बचे हैं, वे कृतघ्न हैं, आप तो स्वामी के कार्य्य-साधन को जीते हैं, आप क्यों कृतघ्न हैं।

राक्षस—(घबड़ाकर) क्या चंदनदास को मार डाला ?

विराध०—नहीं, मारा तो नहीं, पर स्त्री-पुत्र-धन-समेत बांधकर बंदीघर में भेज दिया।

राक्षस—तो क्या ऐसे सुखी होकर कहते हो कि बंधन में भेज दिया ? अरे ! यह कहो कि मंत्री राक्षस को कुटुंब-सहित बांध रक्खा है।

(प्रियंबदक आता है)

प्रियंबदक—जय-जय महाराज ! बाहर शकटदास खड़े हैं।

राक्षस—(आश्चर्य से) सच ही !

प्रियं०—महाराज ! आपके सेवक कभी मिथ्या बोलते हैं ?

राक्षस—मित्र विराधगुप्त ! यह क्या ?

विराध०—महाराज ! होनहार जो बचाया चाहे तो कौन मार सकता है ?

राक्षस—प्रियंबदक ! अरे जो सच ही कहता है तो उनको झटपट लाता क्यों नहीं ?

प्रियं०—जो आज्ञा। [जाता है

(सिद्धार्थक के संग शकटदास आता है)

शकटदास—(देखकर आप ही आप)

वह सूली गड़ी जो बड़ी दृढ़ कै,
सोइ चंद्र को राज थिरयो प्रन तें।
लपटी वह फांस की डोर सोई,
मनु श्री लपटी वृषलै मन तें॥
बजी डौंड़ी निरादर की नृप नंद के,
सोऊ लख्यो इन आंखिन तें॥

नहिं जानि परै इतनोहू भए,
केहि हेतु न प्रान कढ़े तन तें ॥

(राक्षस को देखकर) यह मंत्री राक्षस बैठे हैं। अहा!

नंद गए हूँ नहि तजत प्रभुसेवा को स्वाद।
भूमि बैठि प्रगटत मनहुँ स्वामिभक्त-मरजाद ॥

(पास जाकर) मंत्री की जय हो।

राक्षस—(देखकर आनंद से) मित्र शकटदास! आओ, मुझसे मिल लो, क्योंकि तुम दुष्ट चाणक्य के हाथ से बच के आए हो।

शकट०—(मिलता है)

राक्षस—(मिलकर) यहाँ बैठो।

शकट०—जो आज्ञा। (बैठता है)

राक्षस—मित्र शकटदास! कहो तो यह आनंद की बात कैसे हुई?

शकट०—(सिद्धार्थक को दिखाकर) इस प्यारे सिद्धार्थक ने सूली देनेवाले लोगों को हटाकर मुझको बचाया।

राक्षस—(आनंद से) वाह सिद्धार्थक! तुमने काम तो अमूल्य किया है, पर भला! तब भी यह जो कुछ है सो लो। (अपने अंग से आभरण उतारकर देता है)

सिद्धा०—(लेकर आप ही आप) चाणक्य के कहने से मैं सब करूँगा। (पैर पर गिर के प्रकाश) महाराज! यहाँ मैं पहिले-पहल आया हूँ, इससे मुझे यहाँ कोई नहीं जानता कि मैं उसके पास इन भूषणों को छोड़ जाऊँ। इससे आप इसी अँगूठी से इस पर मोहर करके अपने ही पास रखें; मुझे जब काम होगा ले जाऊँगा।

राक्षस—क्या हुआ ? अच्छा शकटदास ! जो यह कहता है वह करो।

शकट०—जो आज्ञा (मोहर पर राक्षस का नाम देखकर धीरे से) मित्र ! यह तो तुम्हारे नाम की मोहर है।

राक्षस—(देखकर बड़े सोच से आप ही आप) हाय-हाय इसको तो जब मैं नगर से निकला था तो ब्राह्मणी ने मेरे स्मरणार्थ ले लिया था, यह इसके हाथ कैसे लगी ? (प्रकाश) सिद्धार्थक ! तुमने यह कैसे पाई !

सिद्धा०—महाराज ! कुसुमपुर में जो चंदनदास जौहरी हैं उनके द्वार पर पड़ी पाई।

राक्षस—तो ठीक है।

सिद्धा०—महाराज ! ठीक क्या है !

राक्षस—यही कि ऐसे धनिकों के घर बिना यह वस्तु और कहाँ मिले !

शकट०—मित्र ! यह मंत्रीजी के नाम की मोहर है, इससे तुम इसको मंत्री को दे दो, तो इसके बदले तुम्हें बहुत पुरस्कार मिलेगा।

सिद्धा०—महाराज ! मेरे ऐसे भाग्य कहाँ कि आप इसे लें। (मोहर देता है)

राक्षस—मित्र शकटदास ! इसी मुद्रा से सब काम किया करो।

शकट०—जो आज्ञा।

सिद्धा०—महाराज ! मैं कुछ बिनती करूँ ?

राक्षस—हाँ हाँ ! अवश्य करो।

सिद्धा०—यह तो आप जानते ही हैं कि उस दुष्ट चाणक्य की बुराई करके फिर मैं पटने में घुस नहीं सकता, इससे कुछ दिन आप ही के चरणों की सेवा चाहता हूँ।

राक्षस—बहुत अच्छी बात है। हम लोग तो ऐसा चाहते ही थे, अच्छा है, यहीं रहो।

सिद्धार्थक—(हाथ जोड़कर) बड़ी कृपा हुई।

राक्षस—मित्र शकटदास ! ले जाओ, इसको उतारो और सब भोजनादिक का ठीक करो।

शकट०—जो आज्ञा।

(सिद्धार्थक को लेकर जाता है)

राक्षस—मित्र विराधगुप्त ! अब तुम कुसुमपुर का वृत्तांत जो छूट गया था सो कहो। वहाँ के निवासियों को मेरी बातें अच्छी लगती हैं कि नहीं !

विराध०—बहुत अच्छी लगती हैं, वरन वे सब तो आप ही के अनुयायी हैं।

राक्षस—ऐसा क्यों ?

विराध०—इसका कारण यह है कि मलयकेतु के निकलने के पीछे चाणक्य को चंद्रगुप्त ने कुछ चिढ़ा दिया और चाणक्य ने भी उसकी बात न सहकर चंद्रगुप्त की आज्ञा भंग करके उसको दुःखी कर रखा है, यह मैं भली भाँति जानता हूँ।

राक्षस—(हर्ष से) मित्र विराधगुप्त ! तो तुम इसी सँपेरे के भेस से फिर कुसुमपुर जाओ और वहाँ मेरा मित्र स्तनकलस नामक कवि है उससे कह दो कि चाणक्य के आज्ञाभंगादिकों के कवित्त बना-बनाकर चंद्रगुप्त को बढ़ावा देता रहे और जो कुछ काम हो जाय वह करभक से कहला भेजे।

विराध०—जो आज्ञा। [जाता है

(प्रियंवदक आता)

प्रियं०—जय हो महाराज ! शकटदास कहते हैं कि ये तीन आभूषण बिकते हैं, इन्हें आप देखें ।

राक्षस—(देखकर) अहा यह तो बड़े मूल्य के गहने हैं। अच्छा शकटदास से कह दो कि दाम चुकाकर ले लें ।

प्रियं०—जो आज्ञा । [जाता है

राक्षस—तो अब हम भी चलकर करभक को कुसमपुर भेजें। (उठता है) अहा ! क्या उस मृतक चाणक्य से चंद्रगुप्त से बिगाड़ हो जायगा ? क्यों नहीं ? क्योंकि सब कामों को सिद्ध ही देखता हूँ ।

चंद्रगुप्त निज तेज बल करत सबन को राज ।
तेहि समझत चाणक्य यह मेरो दियो समाज ॥
अपनो अपनो करि चुके काज रह्यो कछु जौन ।
अब जौ आपुस में लड़ैं तौ बड़ अचरज कौन ॥

[जाता है

—:o:—

तृतीय अंक

स्थान—राजभवन की अटारी

(कंचुकी आता है)

कंचुकी—हे रूप आदिक विषय जो राखे हिये बहु लोभ सों।
सो मिटे इंद्रीगन सहित है सिथिल अतिही छोभ सों॥
मानत कह्यो कोउ नाहिं सब अंग अंग ढोले है गए।
तौहू न तृष्णे! क्यौं तजत तू मोहि बूढ़ोहू भए॥

(आकाश की ओर देखकर) अरे! अरे! शुगांगप्रासाद के लोगो सुनो। महाराज चन्द्रगुप्त ने तुम लोगों को यह आज्ञा दी है कि 'कौमुदी-महोत्सव के होने से परम शोभित कुसुमपुर को देखना चाहता हूँ' इससे उस अटारी को बिछौने इत्यादि से स रखो, देर क्यों करते हो! (आकाश की ओर देखकर) क्या कहा कि क्या महाराज चन्द्रगुप्त नहीं जानते कि कौमुदी-महोत्सव अ की न होगा? दुर दइमारो! क्या मरने को लगे हो? शीघ्र करो।

सवैया

बहु फूल की माल लपेट कै खम्भन धूप सुगन्ध सों ताहि धुपाइए
तापैं चहूँ दिस चन्द छपा से सुसोभित चौंर घने लटकाइए
भार सों चाह सिंहासन के मुरछा में धरा परी धेनु सी पाइए
छींटि कै तापैं गुलाब मिल्यौ जल चन्दन ताकहूँ जाइ जगाइए

(आकाश की ओर देखकर) क्या कहते हो कि 'हम लोग अप

काम में लग रहे हैं?' अच्छा-अच्छा झटपट सब सिद्ध करो। देखो! वह महाराज चन्द्रगुप्त आ पहुँचे।

बहु दिन श्रम करि नन्द नृप बह्यो राज-धुर जौन।
बालेपन ही में लियो चन्द्र सीस निज तौन॥
डिगत न नेकहु विषम पथ दृढ़ प्रतिज्ञ दृढ़ गात।
गिरन चहत सम्हरत बहुरि नेकु न जिय घबरात॥

(नेपथ्य में—इधर महाराज इधर। राजा और प्रतिहारी आते हैं)

राजा—(आप ही आप) राज उसी का नाम है जिसमें अपनी आज्ञा चले, दूसरे के भरोसे राज करना भी एक बोझा ढोना है। क्योंकि—

जो दूजे को हित करै तौ खोवै निज काज।
जो खोयो निज काज तौ कौन बात को राज॥
दूजे ही को हित करै तौ वह परबस मूढ़।
कठपुतरी सो स्वाद कछु पावै कबहुँ न कूढ़॥

और राज्य पाकर भी इस दुष्ट राजलक्ष्मी को सम्हालना बहुत कठिन है। क्योंकि—

क्रूर सदा भाखत पियहि चंचल सहज सुभाव।
नर गुन औगुन नहिं लखति सज्जन खल सम भाव॥
डरति सूर सो भीरु कहँ गिनति न कछु रति-हीन।
बारनारि अरु लच्छमी कहो कौन बस कीन?॥

तद्यपि गुरु ने कहा है कि तू झूठी कलह करके स्वतंत्र होकर अपना प्रबन्ध आप कर ले, पर यह तो बड़ा पाप सा है। अथवा गुरुजी के उपदेश पर चलने से हम लोग तो सदा ही स्वतंत्र हैं।

जब लौं बिगारै काज नहिं तब लौं न गुरु कछु तेहि कहै।
पै शिष्य जाइ कुराह तौ गुरु सीस अंकुस ह्वै रहै॥
तासों सदा गुरु-वाक्य-बश हम नित्य पर-आधीन हैं।

निर्लोभ गुरु से सन्त जन ही जगत में स्वाधीन हैं॥

(प्रकाश) अजी वैहीनर! "सुगांगप्रासाद" का मार्ग दिखाओ।

कंचुकी—इधर आइए, महाराज, इधर।

(राजा आगे बढ़ता है)

कंचुकी—महाराज! सुगांगप्रासाद की यही सीढ़ी है।

राजा—(ऊपर चढ़कर) अहा! शरद ऋतु की शोभा से सब दिशाएँ कैसी सुन्दर हो रही हैं!

सरद बिमल ऋतु सोहई निरमल नील अकास।
निसानाथ पूरन उदित सोलह कला प्रकास॥
चारु चमेली बन रही महमह महँकि सुबास।
नदी तीर फूले लखौ सेत सेत बहु कास॥
कमल कुमोदिनि सरन में फूले सोभा देत।
भौंर वृंद जापैं लखौ गूँजि गूँजि रस लेत॥
बसन चाँदनी, चन्द मुख, उडुगन मोती माल।
कास फूल मधु हास, यह सरद किधौं नव बाल॥

(चारों ओर देखकर) कंचुकी! यह क्या? नगर में "चन्द्रिकोत्सव" कहीं नहीं मालूम पड़ता; क्या तूने सब लोगों से ताकीद करके नहीं कहा था कि उत्सव हो?

कंचुकी—महाराज! सबसे ताकीद कर दी थी।

राजा—तो फिर क्यों नहीं हुआ? क्या लोगों ने हमारी आज्ञा नहीं मानी?

कंचुकी—(कान पर हाथ रखकर) राम राम! भला नगर क्या, इस पृथ्वी में ऐसा कौन है जो आपकी आज्ञा न माने?

राजा—तो फिर चन्द्रिकोत्सव क्यों नहीं हुआ? देख न—

गज रथ बाजि सजे नहीं, बँधी न बन्दनवार।
तने बितान न कहुँ नगर, रंजित कहुँ न द्वार॥
नर नारी डोलत न कहुँ फूल माल गल डार।
नृत्य बाद धुनि गीत नहि सुनियत श्रवन मँझार॥

कंचुकी—महाराज! ठीक है, ऐसा ही है।

राजा—क्यों ऐसा ही है?

कंचुकी—महाराज योंही है।

राजा—स्पष्ट क्यों नहीं कहता?

कंचुकी—महाराज! चंद्रिकोत्सव बंद किया गया है।

राजा—(क्रोध से) किसने बंद किया है?

कंचुकी—(हाथ जोड़कर) महाराज! यह मैं नहीं कह सकता।

राजा—कहीं आर्य चाणक्य ने तो नहीं बंद किया?

कंचुकी—महाराज! और किसको अपने प्राणों से शत्रुता करनी थी?

राजा—(अत्यंत क्रोध से) अच्छा, अब हम बैठेंगे।

कंचुकी—महाराज! यह सिंहासन है, बिराजिए।

राजा—(बैठकर क्रोध से) अच्छा, कंचुकी! आर्य चाणक्य से कहो कि "महाराज आपको देखा चाहते हैं।"

कंचुकी—जो आज्ञा। [बाहर जाता है

(एक ओर परदा उठता है और चाणक्य बैठा हुआ दिखाई पड़ता है)

चाणक्य—(आप ही आप) दुष्ट राक्षस हमारी बराबरी करता है, वह जानता है कि—

जिमि हम नृप-अपमान सों महा क्रोध उर धारि।
करी प्रतिज्ञा नंद नृप नासन की निरधारि॥

सो नृप नंदहि पुत्र सह नासि करी हम पूर्ण।
चंद्रगुप्त राजा कियो करि राक्षस-मद चूर्ण॥
तिमि सोऊ मोहि नीति-बल छलन चहत हति चंद।
पै मो आछत यह जतन वृथा तासु अति मंद॥

(ऊपर देखकर क्रोध से) अरे राक्षस! छोड़-छोड़ यह व्यर्थ का श्रम ; देख—

जिमि नृप नंदहि मारि कै वृषलहि दीनों राज।
आइ नगर चाणक्य किय दुष्ट सर्प सों काज॥
तिमि सोऊ नृप चंद्र को चाहत करन बिगार।
निज लघु मति लाँघ्यो चहत मो बल-बुद्धि-पहार॥

(आकाश की ओर देखकर) अरे राक्षस मेरा पीछा छोड़। क्योंकि—

राज काज मंत्री चतुर करत बिना अभिमान।
जैसो तुव नृप नंद हो चंद्र न तौन समान॥
तुम कछु नहिं चाणक्य जो साधौ कठिनहु काज।
तासों हम सों बैर करि नहिं सरिहै तुव राज॥

अथवा इसमें तो कुछ सोचना ही न चाहिए। क्योंकि—

मम भागुरायन आदि भृत्यन मलय राख्यौ घेरि कै।
तिमि गए सिद्धारथक ऐहैं तेउ काज निबेरि कै॥
अब लखहु करि छल कलह नृप सों भेद बुद्धि उपाइ कै।
पर्वत जनन सों हम बिगारत राक्षसहिं उलटाइ कै॥

कंचुकी—हा! सेवा बड़ी कठिन होती है।

नृप सों सचिव सों सब मुसाहेब-गनन सों डरते रहौ।
पुनि विटहु जे अति पास के तिनकौं कह्यौ करते रहौ॥

मुख लखत बीतत दिवस निसि भय रहत संकित प्रान है।
निज उदर-पूरन हेतु सेवा श्वान-वृत्ति समान है॥
(चारों ओर घूमकर देखकर)

अहा ! यही आर्य्य चाणक्य का घर है तो चलूँ। (कुछ आगे बढ़कर और देखकर) अहाहा ! यह राजाधिराज श्रीमंत्रीजी के घर की संपत्ति है। जो—

कहुँ परे गोमय शुष्क, कहुँ सिल पोर सोभा दै रही।
कहुँ तिल, कहूँ जव-रासि लागी बटुन जो भिक्षा लही॥
कहुँ कुस परे कहूँ समिध सूखत भार सों ताके नयो।
यह लखौ छप्पर महा जरजर होइ कैसो झुकि गयो॥

महाराज चंद्रगुप्त के भाग्य से ऐसा मंत्री मिला है—

बिन गुनहूँ के नृपन कों धन हित गुरुजन धाइ।
सूखो मुख करि झूठहीं बहु गुन कहहिं बनाइ॥
पै जिनको तृष्णा नहीं ते न लबार समान।
तिनसों तृन सम धनिक जन पावत कबहूँ न मान॥

(देखकर डर से) अरे आर्य चाणक्य यहीं बैठे हैं, जिन्होंने—

लोक धरषि चंद्रहि कियो राजा नंद गिराइ।
होत प्रात रवि के कढ़त जिमि ससि तेज नसाइ॥

(प्रगट दंडवत् करके) जय हो ! आर्य की जय हो !!

चाणक्य—(देखकर) कौन है वैहिनर ? क्यों आया है ?

कंचुकी—आर्य ! अनेक राजगणों के मुकुट-माणिक्य से सर्वदा जिनके पदतल लाल रहते हैं उन महाराज चंद्रगुप्त ने आपके चरणों में दंडवत् करके निवेदन किया है कि "यदि आपके किसी कार्य में विघ्न न पड़े तो मैं आपका दर्शन किया चाहता हूँ।"

चाणक्य—वैहीनर! क्या वृषल मुझे देखा चाहता है? क्या मैंने कौमुदी-महोत्सव का प्रतिषेध कर दिया है यह वृषल नहीं जानता?

कंचुकी—आर्य्य, क्यों नहीं।

चाणक्य—(क्रोध से) हैं? किसने कहा बोल तो?

कंचुकी—(भय से) महाराज प्रसन्न हों, जब सुगांगप्रासाद की अटारी पर गये थे तो देखकर महाराज ने आप ही जान लिया कि कौमुदी-महोत्सव अब की नहीं हुआ।

चाणक्य—अरे ठहर, मैंने जाना यह तुम्हीं लोगों ने वृषल का जी मेरी ओर से फेरकर उसे चिढ़ा दिया है, और क्या।

(कंचुकी भय से नीचा मुँह करके चुप रह जाता है)

चाणक्य—अरे राज के कारबारियों का चाणक्य के ऊपर बड़ा ही विद्वेष पक्षपात है। अच्छा, वृषल कहाँ है? बता।

कंचुकी—(डरता हुआ) आर्य! सुगांगप्रासाद की अटारी पर से महाराज ने मुझे आपके चरणों में भेजा है।

चाणक्य—(उठकर) कंचुकी! सुगांगप्रासाद का मार्ग बता।

कंचुकी—इधर, महराज। (दोनों घूमते हैं)

कंचुकी—महाराज! यह सुगांगप्रासाद की सीढ़ियाँ हैं, चढ़ें।

(दोनों सुगांगप्रासाद पर चढ़ते हैं और चाणक्य के घर का परदा गिरके छिप जाता है)

चाणक्य—(चढ़कर और चंद्रगुप्त को देखकर प्रसन्नता से आप ही आप) अहा! वृषल सिंहासन पर बैठा है—

हीन नंद सों रहित नृप चंद्र करत जेहि भोग।
परम होत संतोष लखि आसन राजा जोग॥

(पास जाकर) जय हो वृषल की!

चंद्रगुप्त—(उठकर और पैरों पर गिरकर) आर्य्य ! चंद्रगुप्त दंडवत् करता है।

चाणक्य—(हाथ पकड़कर उठाकर) उठो बेटा ! उठो।

जहँ लौं हिमालय के सिखर सुरधुनी-कन सीतल रहै।
जहँ लौ विविध मणिखंड-मंडित समुद दच्छिन दिसि बहै॥
तहँ लौं सबै नृप आइ भय सों तोहि सीस झुकावहीं।
तिनके मुकुट-मणि-रँगे तुव पद निरखि हम सुख पावहीं॥

चंद्र०—आर्य्य ! आपकी कृपा से ऐसा ही हो रहा है॥ बैठिए।

(दोनो यथास्थान बैठते हैं)

चाणक्य—वृषल ! कहो, मुझे क्यों बुलाया है ?

चंद्रगुप्त—आर्य के दर्शन से कृतार्थ होने को।

चाणक्य—(हँसकर) भया, बहुत शिष्टाचार हुआ, अब बताओ क्यों बुलाया है ? क्योंकि राजा लोग किसी को बेकाम नहीं बुलाते।

चंद्र०—आर्य्य ! आपने कौमुदी-महोत्सव के न होने में क्या फल सोचा है ?

चाणक्य—(हँसकर) तो यही उलहना देने को बुलाया है न ?

चंद्र०—उलाहना देने को कभी नहीं।

चाणक्य—तो क्यों ?

चद्र०—पूछने को।

चाणक्य—जब पूछना ही है तब तुमको इससे क्या ? शिष्य को सर्वदा गुरु की रुचि पर चलना चाहिए।

चंद्र०—इसमें कोई संदेह नहीं पर आपकी रुचि बिना प्रयोजन नहीं प्रवृत्त होती, इससे पूछा।

चाणक्य—ठीक है, तुमने मेरा आशय जान लिया, बिना प्रयोजन के चाणक्य की रुचि किसी ओर कभी फिरती ही नहीं।

चंद्र०—इसी से तो सुनने बिना मेरा जी अकुलाता है।

चाणक्य—सुनो, अर्थशास्त्रकारों ने तीन प्रकार के राज्य लिखे हैं—एक राजा के भरोसे, दूसरा मंत्री के भरोसे, तीसरा राजा और मंत्री दोनों के भरोसे; सो तुम्हारा राज तो केवल सचिव के भरोसे है, फिर इन बातों के पूछने से क्या? व्यर्थ मुँह दुखाना है, यह सब हम लोगों के भरोसे है, हम लोग जानें।

(राजा क्रोध से मुँह फेर लेता है; नेपथ्य में दो वैतालिक गाते हैं)

(राग बिहाग)

प्रथम वै०—अहो यह शरद शंभु है आई।

कास फूल फूले चहुँ दिसि तें सोइ मनु भस्म लगाई।
चंद उदित सोइ सीस अभूषन सोभा लगति सुहाई।
तासों रंजित घन-पटली सोइ मनु गज-खाल बनाई॥
फूले कुसुम मुंडमाला सोइ सोहत अति धवलाई।
राजहंस सोभा सोइ मानों हास-विभव दरसाई॥
अहो यह शरद शंभु बनि आई

(राग कलिंगड़ा)

हरौ हरि-नैन तुम्हारी बाधा।
सरद-अंत लखि सेस-अंक तें जगे जगत-सुभ-साधा॥

कछु कछु खुले मुँदे कछु सोभित आलस भरि अनियारे।
अरुन कमल से मद के माते थिर भे जदपि हारे॥
सेस-सीस-मनि-चमक-चकौंधन तनिकहुँ नहिं सकुचाहीं।
नींद भरे श्रम जगे चुभन जे नित कमला-उर माहीं॥
हरौ हरि-नैन तुम्हारी बाधा।

दूसरा वै०—(कड़खे की चाल में)

अहो, जिनकों बिधि सब जीव सों बढ़ि दीनो जग काज।
अरे, दान-सलिल-धारे सदा जे जीतहिं गजराज॥
अहा, झुक्यो न जिनको मान ते नृपवर जग सिरताज।
अरे, सहहिं न आज्ञा-भंग जिमि दंतपात मृगराज॥
अरे, केवल बहु गहिना पहिरि राजा होइ न कोय।
अहा, जाकी नहिं आज्ञा टरै सो नृप तुम सम होय॥

चाणक्य—(सुनकर आप ही आप) भला पहिले ने तो देवता रूप शरद के वर्णन में आशीर्वाद दिया, पर इस दूसरे ने क्या कहा ? (कुछ सोच कर) अरे जाना, यह सब राक्षस की करतूत है। अरे दुष्ट राक्षस ! क्या तू नहीं जानता कि अभी चाणक्य सो नहीं गया है !

चंद्र०—अजी वैहीनर ! इन दोनों गानेवालों को लाख-लाख मोहर दिलवा दो।

वैहीनर—जो आज्ञा महाराज। (उठ कर जाना चाहता है)

चाणक्य—वैहीनर, ठहर अभी मत जा। वृषल, कुपात्र को इतना क्यों देते हो ?

चन्द्र०—आप मुझे सब बातों में योंही रोक दिया करते हैं, तब यह मेरा राज क्या है वरन उलटा बंधन है।

चाणक्य—वृषल ! जो राजा आप असमर्थ होते हैं उनमें

इतना ही तो दोष है, इससे जो ऐसी इच्छा हो तो तु अपने राज का प्रबंध आप कर लो।

चंद्र०—बहुत अच्छा, आज से मैंने सब काम सम्हाला।

चाणक्य—इससे अच्छी और क्या बात है, तो मैं भी अप अधिकार पर सावधान हूँ।

चंद्र०—जब यही है तो पहिले मैं पूछता हूँ कि कौमुदी-महोत्स का निषेध क्यों किया गया?

चाणक्य—मैं भी यही पूछता हूँ कि उसके होने का प्रयोज क्या था?

चंद्र०—पहिले तो मेरी आज्ञा का पालन।

चाणक्य—मैंने भी आपकी आज्ञा के अपालन के हेतु ह कौमुदी-महोत्सव का प्रतिषेध किया, क्योंकि—

आइ चारहू सिधु के छोरहु के भूपाल।
जो शासन सिर पैं धरैं जिमि फूलन को माल॥
तेहि हम जौ कछु टारहीं सोउ तुव हित उपदेस।
जासों तुमरो विनय गुन जग मैं बढ़ै नरेस॥

चंद्र०—और जो दूसरा प्रयोजन है वह भी सुनूँ।

चाणक्य—वह भी कहता हूँ।

चंद्र०—कहिए।

चाणक्य—शोणोत्तरे! अचलदत्त कायस्थ से कहो कि तुम्हा पास जो भद्रभट इत्यादिकों का लेखपत्र है वह माँगा है।

प्रतिहारी—जो आज्ञा। (बाहर से पत्र लाकर देती है)

चाणक्य—वृषल, सुनो।

चंद्र०—मैं उधर ही कान लगाए हूँ।

चाणक्य—(पढ़ता है) स्वस्ति परम सिद्ध नाम महाराज श्री चंद्रगुप्त देव के साथी जो अब उनको छोड़ कर कुमार मलयकेतु के आश्रित हुए हैं उनका यह प्रतिज्ञापत्र है। पहिला गजाध्यक्ष भद्रभट, अश्वाध्यक्ष पुरुषदत्त महा-प्रतिहार चंद्रभानु का भानजा हिंगुरात, महाराज के नाते-दार महाराज बलगुप्त, महाराज के लड़कपन का सेवक राजसेन, सेनापति सिंहबलदत्त का छोटा भाई भागुरायण, मालव के राजा का पुत्र रोहिताक्ष और क्षत्रियों में सबसे प्रधान विजयवर्म्मा (आपही आप) ये हम सब लोग यहाँ महाराज का काम सावधानी से साधते हैं (प्रकाश) यही इस पत्र में लिखा है। सुना?

चंद्र०—आर्य्य! मैं इन सबों के उदास होने का कारण सुनना चाहता हूँ।

चाणक्य—वृषल! सुनो—वे जो गजाध्यक्ष और अश्वाध्यक्ष थे वे रात-दिन मद्य, स्त्री और जुआ में डूबकर अपने काम से निरे बेसुध रहते थे। इससे मैंने उनसे अधिकार लेकर केवल निर्वाह के योग्य जीविका कर दी थी, इससे उदास होकर कुमार मलयकेतु के पास चले गए और वहाँ अपना-अपना कार्य्य सुनाकर फिर उसी पद पर नियुक्त हुए हैं, और हिंगुरात और बलगुप्त ऐसे लालची हैं कि कितना भी दिया पर अंत में मारे लालच के कुमार मलयकेतु के पास इस लोभ से जा रहे कि यहाँ बहुत मिलेगा, और जो आपका लड़कपन का सेवक राजसेन था उसने आपकी थोड़ी ही कृपा से हाथी, घोड़ा, घर और धन सब पाया, पर इस भय से भागकर मलयकेतु के पास चला गया कि यह सब छिन न जाय, और वह जो सिंहबलदत्त सेनापति

का छोटा भाई भागुरायण है उससे पर्वतक से बड़ी प्रीति थी सो उसने कुमार मलयकेतु से यह कहा कि "जैसे विश्वासघात करके चाणक्य ने तुम्हारे पिता को मार डाला वैसे ही तुम्हें भी मार डालेगा, इससे यहाँ से भाग चलो", ऐसे ही बहकाकर कुमार मलयकेतु का भगा दिया और जब आपके बैरी चन्दनदासादिकों को दंड हुआ तब मारे डर के मलयकेतु के पास जा रहा। उसने भी यह समझ कर कि इसने मेरे प्राण बचाए और मेरे पिता का परिचित भी है उसको कृतज्ञता से अपना अंतरंगी मंत्री बनाया है, और वे जो रोहिताक्ष और विजयवर्मा थे वे ऐसे अभिमानी थे कि जब आप उनके और नातेदारों का आदर करते थे तब वह कुढ़ते थे, इसी से वे भी मलयकेतु के पास चले गए, बस, यही उन लोगों की उदासी का कारण है।

चंद्र०—आर्य्य! जब इन सबके भागने का उद्यम जानते ही थे तो क्यों न रोक रखा?

चाणक्य—ऐसा कर नहीं सके।

चंद्र०—क्या आप इसमें असमर्थ हो गए वा कुछ उसमें भी प्रयोजन था?

चाणक्य—असमर्थ कैसे हो सकते हैं! उसमें भी कुछ प्रयोजन ही था।

चंद्र०—आर्य! वह प्रयोजन मैं सुनना चाहता हूँ।

चाणक्य—सुनो और भूल मत जाओ।

चंद्र०—आर्य! मैं सुनता हूँ, भूलूँगा भी नहीं, कहिए।

चाणक्य—अब जो लोग उदास हो गए हैं या बिगड़ गए हैं उनके दो ही उपाय हैं, या तो फिर से उन पर अनुग्रह करें या

उनको दंड दें और भद्रभट, पुरुषदत्त से जो अधिकार ले लिया गया है तो अब उन पर अनुग्रह यही है कि फिर उनको उनका अधिकार दिया जाय; और यह हो नहीं सकता, क्योंकि उनको मृगया, मद्यपानादिक का जो व्यसन है इससे इस योग्य नहीं हैं कि हाथी, घोड़ों को सम्हालें और सब सेना की जड़ हाथी घोड़े ही हैं। वैसे ही डिंगुरात, बलगुप्त को कौन प्रसन्न कर सकता है, क्योंकि उनको सब राज्य पाने से भी सन्तोष न होगा, और राजसेन और भागुरायण तो धन और प्राण के डर से भागे हैं; ये तो प्रसन्न होई नहीं सकते, और रोहिताक्ष, विजयवर्म्मा का तो कुछ पूछना ही नहीं है, क्योंकि वे तो और नातेदारों के मान से जलते हैं और उनका कितना भी मान करो, उन्हें थोड़ा ही दिखलाता है; तो इसका क्या उपाय है। यह तो अनुग्रह का वर्णन हुआ, अब दंड का सुनिए। यदि हम इन सबों को प्रधान पद पाकर के जो बहुत दिनों से नन्दकुल के सर्वदा शुभाकांक्षी और साथी रहे दंड देकर दुखी करें तो नन्दकुल के साथियों का हम पर से विश्वास उठ जाय, इससे छोड़ ही देना योग्य समझा. सो इन्हीं सब हमारे भृत्यों को पक्षपाती बनाकर राक्षस के उपदेश से म्लेच्छराज की बड़ी सहायता पाकर और अपने पिता के वध से क्रोधित होकर पर्वतक का पुत्र कुमार मलयकेतु हम लोगों से लड़ने को उद्यत हो रहा है, सो यह लड़ाई के उद्योग का समय है उत्सव का समय नहीं। इससे गढ़ के संस्कार के समय कौमुदी-महोत्सव क्या होगा, यही सोच कर उसका प्रतिषेध कर दिया।

चंद्र०—आर्य ! मुझे अभी इसमें बहुत कुछ पूछना है।

चाणक्य—भली भाँति पूछो, क्योंकि मुझे भी बहुत कहना है।

चंद्र०—यह पूछता हूँ—

चाणक्य—हाँ! मैं भी कहता हूँ।

चंद्र०—यह कि हम लोगों के सब अनर्थों की जड़ मलयकेतु है; उसे आपने भागते समय क्यों नहीं पकड़ा?

चाणक्य—वृषल! मलयकेतु के भागने के समय भी दो ही उपाय थे—या तो मेल करते या दंड देते। जो मेल करते तो आधा राज देना पड़ता और जो दंड देते तो फिर यह हम लोगों की कृतघ्नता सब पर प्रसिद्ध हो जाती कि इन्हीं लोगों ने पर्वतक को भी मरवा डाला और जो आधा राज देकर अब मेल कर लें तो उस बिचारे पर्वतक के मारने का पाप ही पाप हाथ लगे। इससे मलयकेतु को भागते समय छोड़ दिया।

चंद्र०—और भला राक्षस इसी नगर में रहता था, उसका भी आपने कुछ न किया इसका क्या उत्तर है?

चाणक्य—सुनो, राक्षस अपने स्वामी की स्थिर भक्ति से और यहाँ बहुत दिन रहने से यहाँ के लोगों का और नन्द के सब साथियों का विश्वासपात्र हो रहा है और उसका स्वभाव सब लोग जान गए हैं। उसमें बुद्धि और पौरुष भी है, वैसे ही उसके सहायक भी हैं और कोषबल भी है, इससे जो वह यहाँ रहे तो भीतर के सब लोगों को फोड़कर उपद्रव करे और जो यहाँ से दूर रहे तो वह ऊपरी जोड़-तोड़ लगावे पर उनके मिटाने में इतनी कठिनाई न हो। इससे उसके जाने के समय उपेक्षा कर दी गई।

चंद्र०—तो जब वह यहाँ था तभी उसको वश में क्यों नहीं कर लिया ?

चाणक्य—वश क्या कर लें, अनेक उपायों से तो वह छाती में गड़े काँटे की भाँति निकालकर दूर किया गया है ! उसे दूर करने में और कुछ प्रयोजन ही था ।

चंद्र०—तो बल से क्यों नहीं पकड़ रखा ?

चाणक्य—वह राक्षस ऐसा नहीं है, उस पर जो बल किया जाता तो या तो वह आप मारा जाता या तुम्हारी सेना का नाश कर देता ।

और—

हम खोवैं इक महत नर जो वह पावै नास ।
जो वह नासै सैन तुव तौहू जिय अति त्रास ॥
तासों कल बल करि बहुत अपने बस करि वाहि ।
जिमि गज पकरैं सुअर तिमि बाँधैंगे हम ताहि ॥

चंद्र०—मैं आप की बात तो नहीं काट सकता, पर इससे तो मंत्री राक्षस ही बढ़-चढ़ के जान पड़ता है ।

चाणक्य—(क्रोध से) 'आप नहीं' इतना क्यों छोड़ दिया ? ऐसा कभी नहीं है । उसने क्या किया है कहो तो ?

चंद्र०—जो आप न जानते हों तो सुनिए कि वह महात्मा—

जदपि आपु जीती पुरी तदपि धारि कुशलात ।
जब लौं जिय चाह्यो रह्यो धारि सीस पै लात ॥
डौंड़ी फेरन के समय निज बल जय प्रगटाय ।
मेरे दल के लोग कों दीनों तुरत हराय ॥
मोहे परिजन रीति सों जाके सब बिनु त्रास ।
जो मो पै निज लोकहू आनहिँ नहिँ विश्वास ॥

चाणक्य—(हँसकर) वृषल ! राक्षस ने यह सब किया !

चंद्र०—हाँ ! हाँ अमात्य राक्षस ने यह सब किया।

चाणक्य—तो हमने जाना, जिस तरह नंद का नाश करके तुम राजा हुए वैसे ही अब मलयकेतु राजा होगा।

चंद्र०—आर्य ! यह उपालंभ आपको नहीं शोभा देता ; करनेवाला सब दूसरा है।

चाणक्य—रे कृतघ्न !

अतिहि क्रोध करि खोलिकै सिखा प्रतिज्ञा कीन।
सो सब देखत भुव करी नव नृप नंद विहीन॥
घिरी स्वान अरु गीध सों भय उपजावनिहारि।
जारि नंदहू नहिं भई सांत मसान दवारि॥

चंद्र०—यह सब किसी दूसरे ने किया।

चाणक्य—किसने ?

चंद्र०—नंदकुल के द्वेषी दैव ने।

चाणक्य—दैव तो मूर्ख लोग मानते हैं।

चंद्र०—और विद्वान् लोग भी यद्वा तद्वा करते हैं।

चाणक्य—(क्रोध नाट्य करके) अरे वृषल ! क्या नौकरों की तरह मुझ पर आज्ञा चलाता है ?

खुली सिखाहूँ बाँधिबे चंचल भे पुनि हाथ।
(क्रोध से पैर पृथ्वी पर पटक कर)
घोर प्रतिज्ञा पुनि चरन करन चहत कर साथ॥
नंद नसे सों निरुज ह्वै तू फूल्यो गरबाय।
सो अभिमान मिटाइहौं तुरतहि तोहि गिराय॥

चंद्र०—(घबड़ाकर) अरे ! क्या आर्य को सचमुच क्रोध आ गया !

फर फर फरकत अधर पुट, भए नयन जुग लाल।
चढ़ो जाति भौंहैं कुटिल. स्वाँस तजत जिमि ब्याल॥
मनहुँ अचानक रुद्रदृग खुल्यौ त्रितिय दिखरात।
(आवेग सहित)
धरनी धार्‍यो बिनु धँसे हा हा क्रिमि पदघात॥

चाणक्य—(नकली क्रोध रोककर) तो वृषल ! इस कोरी बकवाद से क्या लाभ है ! जो राक्षस चतुर है तो यह शस्त्र उसी को दे। (शस्त्र फेंककर और उठाकर—आप ही आप) ह ह ह ! राक्षस। यही तुमने चाणक्य का जीतने का उपाय किया।

तुम जानो चाणक्य सों नृप चंदहि लरवाय।
सहजहि लै हैं राज हम निज बल बुद्धि उपाय॥
सो हम तुमहीं कहँ छलन कियो क्रोध परकास।
तुमरोई करिहै उलटि यह तुव भेद बिनास॥

(क्रोध प्रकट करता हुआ चला जाता है)

चंद्र०—आर्य वैहीनर ! "चाणक्य का अनादर करके आज से चंद्रगुप्त सब काम-काज आप ही सम्हालेंगे," यह लोगों से कह दो।

कंचुकी—(आप ही आप) अरे ! आज महाराज ने चाणक्य के पहले आर्य शब्द नहीं कहा ! क्यों ! क्या सचमुच अधिकार छीन लिया ? वा इसमें महराज का क्या दोष है !

सचिव-दोष सों होत हैं नृपहु बुरे ततकाल।
हाथीवान-प्रमाद सों गज कहावत ब्याल॥

चंद्र०—क्यों जी ? क्या सोच रहे हो ?

कंचुकी—यही कि महाराज को महाराज शब्द अब यथार्थ शोभा देता है।

चंद्र०—(आप ही आप) इन्हीं लोगों के धोखा खाने से आर्य्य का काम होगा। (प्रगट) शोणोत्तरे ! इस सूखी कलह से हमारा सिर दुखने लगा, इससे शयनगृह का मार्ग दिखलाओ।

प्रतिहारी—इधर आवें, महाराज, इधर आवें।

चंद्र०—(उठकर चलता हुआ आप ही आप)

गुरु आयसु छल सों कलह करिहू जीय डराय।
किमि नर गुरुजन सों लरहिं, यहै सोच जिय हाय॥

(सब जाते हैं—जवनिका गिरती है)

चतुर्थ अंक

स्थान—मंत्री राक्षस के घर के बाहर का प्रान्त

(करभक घबड़ाया हुआ आता है)

करभक—अहाहा हा! अहाहा हा!

अतिसय दुरगम ठाम मैं सत जाजन सों दूर।
कौन जात है धाइ बिनु प्रभु निदेस भरपूर॥

अब राक्षस मंत्री के घर चलूँ। (थका सा घूमकर) अरे कोई चौकीदार है! स्वामी राक्षस मंत्री से जाकर कहो कि 'करभक काम पूरा करके पटने से दौड़ा आता है'।

(दौवारिक आता है)

दौवारिक—अजी! चिल्लाओ मत, स्वामी राक्षस मंत्री को राजकाज सोचते-सोचते सिर में ऐसी बिथा हो गई है कि अब तक सोने के बिछौने से नहीं उठे, इससे एक घड़ी भर ठहरो, अवसर मिलता है तो मैं निवेदन किये देता हूँ।

(परदा उठता है और सोने के बिछौने पर चिंता में भरा राक्षस और शकटदास दिखाई पड़ते हैं)

राक्षस—(आप ही आप)

कारज उलटो होत है कुटिल नीति के जोर।
का कीजै सोचत यही जागि होयहै भोर॥

और भी

आरंभ पहिले सोचि रचना वेश की करि लावहीं।
इक बात में गर्भित बहुत फल गूढ़ भेद दिखावहीं।
कारन अकारन सोचि फैली क्रियन कों सकुचावहीं।
जे करहिं नाटक बहुत दुख हम सरसि तेऊ पावहीं॥

और भी वह दुष्ट ब्राह्मण चाणक्य—

दौवा०—(प्रवेश कर) जय जय।

राक्षस—किसी भाँति मिलाया या पकड़ा जा सकता है!

दौवा०—अमात्य—

राक्षस—(बाएँ नेत्र के फड़कने का अपशकुन देखकर आप ही आप) 'ब्राह्मण चाणक्य जय जय' और 'पकड़ा जा सकता है अमात्य' यह उलटी बात हुई और उसी समय असगुन भी हुआ। तो भी क्या हुआ, उद्यम नहीं छोड़ेंगे। (प्रकाश) भद्र! क्या कहता है?

दौवा०—अमात्य! पटने से करभक आया है सो आपसे मिला चाहता है।

राक्षस—अभी लाओ।

दौवा०—जो आज्ञा। (करभक के पास जाकर, उसको संग ले आकर) भद्र! मंत्री जी वह बैठे हैं, उधर जाओ।

[जाता है

कर०—(मंत्री को देखकर) जय हो, जय हो।

राक्षस—अजी करभक! आओ-आओ, अच्छे हो?—बैठो।

कर०—जो आज्ञा। (पृथ्वी पर बैठ जाता है)

राक्षस—(आप ही आप) अरे! मैंने इसको किस काम का भेद लेने को भेजा था यह भूला जाता है। (चिंता करता है)

(बेंत हाथ में लेकर एक पुरुष आता है)

पुरुष—हटे रहना, बचे रहना।—अजी दूर रहो—दूर रहो, क्या नहीं देखते ?

नृप द्विजादि जिन नरन को मंगल रूप प्रकास।
ते न नीच मुखहू लखहिं, कैसो पास निवास॥*

(आकाश की ओर देखकर) अजी क्या कहा, कि क्यों हटाते हो ? अमात्य राक्षस के सिर में पीड़ा सुनकर कुमार मलयकेतु उनको देखने को इधर ही आते हैं।

[जाता है

(भागुरायण और कंचुकी के साथ मलयकेतु आता है)

मलयकेतु—(लंबी साँस लेकर—आप ही आप) हा ! देखो पिता को मरे आज दस महीने हुए और व्यर्थ वीरता का अभिमान करके अब तक हम लोगों ने कुछ भी नहीं किया, वरन तर्पण करना भी छोड़ दिया। या क्या हुआ, मैंने तो पहिले यही प्रतिज्ञा की है कि

कर वलय उर ताड़त गिरे, आँचरहुँ को सुधि नहिं परी।
मिलि करहिं आरतनाद हाहा, अलक खुलि रज सों भरी॥
जो शोक सों भइ मातुगन की दशा सो उलटायहैं।
करि रिपु जुवतिगन की सोई गति पितहिं तृप्त करायहैं॥

और भी—

रन मरि पितु ढिग जात हम बीरन की गति पाय।
कै माता दृग-जल धरत रिपु-जुवती मुख लाय॥

(प्रकाश) अजी जाजले ! सब राजा लोगों से कहो कि "मैं बिना कहे-सुने राक्षस मंत्री के पास अकेला जाकर उनको प्रसन्न करूँगा, इससे वे सब लोग उधर ही ठहरें।"

---

* प्राचीन काल में आचार्य, राजा आदि नीचों को नहीं देखते थे।

कंचुकी—जो आज्ञा ! (घूमते-घूमते नेपथ्य की ओर देखकर) अजी राजा लोग ! सुनो, कुमार की आज्ञा है कि मेरे साथ कोई न चले (देखकर आनन्द से) महाराज कुमार ! आप देखिए। आपकी आज्ञा सुनते ही सब राजा रुक गए—

अति चपल जे रथ चलत, ते सुनि चित्र से तुरतहि भए।
जे खुरन खोदत नभ-पथहि, ते बाजिगन झुकि रुकि गए॥
जे रहे धावत, ठिठकि ते गज मूक घंटा सह सधे।
मरजाद तुव नहिं तजहिं नृपगण जलधि से मानहुँ बँधे।

मलय०—अजी जाजले ! तुम भी सब लोगों को लेकर जाओ, एक केवल भागुरायण मेरे संग रहे।

कंचुकी—जो आज्ञा। [सबको लेकर जाता है

मलय०—मित्र भागुरायण ! जब मैं यहाँ आता था तो भद्रभट प्रभृति लोगों ने मुझसे निवेदन किया कि "हम राक्षस मंत्री के द्वारा कुमार के पास नहीं रहा चाहते, कुमार के सेनापति शिखरसेन के द्वारा रहेंगे। दुष्ट मंत्री ही के डर तो चंद्रगुप्त को छोड़कर यहाँ सब बात का सुबीता जानकर कुमार का आश्रय लिया है।" सो उन लोगों की बात का मैंने आशय नहीं समझा।

भागु०—कुमार ! यह तो ठीक ही है, क्योंकि अपने कल्याण के हेतु सब लोग स्वामी का आश्रय हित और प्रिय के द्वारा करते हैं।

मलय०—मित्र भागुरायण ! तो फिर राक्षस मंत्री तो हम लोगों का परम प्रिय और बड़ा हित है।

भागु०—ठीक है, पर बात यह है कि अमात्य राक्षस का बैर चाणक्य से है, कुछ चन्द्रगुप्त से नहीं है, इससे जो चाणक्य

की बातों से रूठकर चन्द्रगुप्त उससे मंत्री का काम ले ले और नन्दकुल की भक्ति से "यह नन्द ही के वंश का है" यह सोचकर राक्षस चन्द्रगुप्त से मिल जाय और चन्द्रगुप्त भी अपने बड़े लोगों का पुराना मंत्री समझकर उसको मिला ले, तो ऐसा न हो कि कुमार हम लोगों पर भी विश्वास न करें।

मलय०—ठीक है, मित्र भागुरायण! राक्षस मंत्री का घर कहाँ है?

भागु०—इधर, कुमार, इधर। (दोनों घूमते हैं) कुमार! यही राक्षस मंत्री का घर है—चलिए।

मलय०—चलें। [दोनों भीतर जाते हैं

राक्षस—अहा! स्मरण आया। (प्रकाश) कहो जी! तुमने कुसुमपुर में स्तनकलस वैतालिक को देखा था?

कर०—क्यों नहीं?

मलय०—मित्र भागुरायण! जब तक कुसुमपुर की बातें हों तब तक हम लोग इधर ही ठहरकर सुनें कि क्या बात होती है; क्योंकि—

भेद न कछु जामैं खुलै याही भय सब ठौर।
नृप सों मंत्रीजन कहहिं बात और की और॥

भागु०—जो आज्ञा। (दोनों ठहर जाते हैं)

राक्षस—क्यों जी! वह काम सिद्ध हुआ?

कर०—अमात्य की कृपा से सब काम सिद्ध ही हैं।

मलय०—मित्र भागुरायण! वह कौन सा काम है?

भागु०—कुमार! मंत्री के जी की बातें बड़ी गुप्त हैं। कौन जाने? इससे देखिए अभी सुन लेते हैं कि क्या कहते हैं।

राक्षस—अजी, भली भाँति कहो।

कर०—सुनिए—जिस समय आपने आज्ञा दिया कि करभक, तुम जाकर वैतालिक स्तनकलस से कह दो कि जब-जब चाणक्य चन्द्रगुप्त की आज्ञा भंग करे तब-तब तुम ऐसे श्लोक पढ़ो जिससे उसका जी और भी फिर जाय।

राक्षस—हाँ, तब ?

कर०—तब मैंने पटने में जाकर स्तनकलस से आपका संदेसा कह दिया।

राक्षस—तब ?

कर०—इसके पीछे नन्दकुल के विनाश से दुःखी लोगों का जी बहलाने के हेतु चन्द्रगुप्त ने कुसुमपुर में कौमुदीमहोत्सव होने की डौंड़ी पिटा दी और उसको बहुत दिन से बिछुड़े हुए मित्रों के मिलाप की भाँति पुर के निवासियों ने बड़ी प्रसन्नतापूर्व्वक स्नेह से मान लिया।

राक्षस—(आँसू भरकर) हा देव नन्द !

जदपि उदित कुमुदन सहित पाइ चाँदनी चन्द।
तदपि न तुम बिन लसत हे नृपससि ! जगदानन्द॥

हाँ, फिर क्या हुआ ?

कर०—तब चाणक्य दुष्ट ने सब लोगों के नेत्र के परमानंददायक उस उत्सव को रोक दिया और उसी समय स्तनकलस ने ऐसे-ऐसे श्लोक पढ़े कि राजा का भी मन फिर जाय।

राक्षस—कैसे श्लोक थे।

कर०—('जिनको बिधि सब' पढ़ता है)

राक्षस—वाह मित्र स्तनकलस, वाह क्यों न हो ! अच्छे समय में भेदबीज बोया है, फल अवश्य होगा। क्योंकि—

नृप रूठे अचरज कहा, सकल लोग जा संग।
छोटे हु मानैं बुरो परे रंग में भंग॥

मलय०—ठीक है। (नृप रूठे यह दोहा फिर पढ़ता है)

राक्षस—हाँ, फिर क्या हुआ ?

कर०—तब अज्ञाभंग से रुष्ट होकर चंद्रगुप्त ने आपकी बड़ी प्रशंसा की और दुष्ट चाणक्य से अधिकार ले लिया।

मलय०—मित्र भागुरायण ! देखो प्रशंसा करके राक्षस में चंद्रगुप्त ने अपनी भक्ति दिखाई।

भागु०—गुण-प्रशंसा से बढ़कर चाणक्य का अधिकार लेने से।

राक्षस—क्यों जी, कौमुदीमहोत्सव के निषेध ही से चाणक्य चंद्रगुप्त में बिगाड़ हुआ कि कोई और कारण भी है ?

मलय०—क्यों मित्र भागुरायण ! अब और बैर में यह क्या फल निकालेंगे ?

भागु०—यह फल निकाला है कि चाणक्य बड़ा बुद्धिमान् है, वह व्यर्थ चंद्रगुप्त को क्रोधित न करावेगा और चंद्रगुप्त भी उसकी बात जानता है, वह भी बिना बात चाणक्य का ऐसा अपमान न करेगा, इससे उन लोगों में बहुत झगड़े से जो बिगाड़ होगा तो पक्का होगा।

कर०—आर्य्य ! और भी कई कारण हैं।

राक्षस—कौन ?

कर०—कि जब पहिले यहाँ से राक्षस और कुमार मलयकेतु भागे तब उसने क्यों नहीं पकड़ा ?

राक्षस—(हर्ष से) मित्र शकटदास ! अब तो चंद्रगुप्त हाथ में आ जायगा।

शकट०—अब चंदनदास छूटेगा, और आप कुटुंब से मिलेंगे, वैसे ही जीवसिद्धि इत्यादि लोग क्लेश से छूटेंगे।

भागु०—(आप ही आप) हाँ, अवश्य जीवसिद्धि का क्लेश छूटा।

मलय०—मित्र भागुरायण! अब मेरे हाथ चंद्रगुप्त आवेगा, इसमें इनका क्या अभिप्राय है?

भागु०—और क्या होगा? यही होगा कि यह चाणक्य से छूटे चंद्रगुप्त के उद्धार का समय देखते हैं।

राक्षस—अजी, अब अधिकार छिन जाने पर वह ब्राह्मण कहाँ है?

कर०—अभी तो पटने ही में है।

राक्षस—(घबड़ाकर) हैं! अभी वहीं है? तपोवन नहीं चला गया? या फिर कोई प्रतिज्ञा नहीं की?

कर०—अब तपोवन जायगा—ऐसा सुनते हैं।

राक्षस—(घबड़ाकर) शकटदास, यह बात तो काम की नहीं,

देव नंद को नहिं सह्यौ जिन भोजन अपमान।
सो निज कृत नृप चंद की बात न सहिहै जान॥

मलय०—मित्र भागुरायण! चाणक्य के तपोवन जाने वा फिर प्रतिज्ञा करने में कौन कार्य्य-सिद्धि निकाली है।

भागु०—कुमार! यह तो कोई कठिन बात नहीं है, इसका आशय तो स्पष्ट ही है कि चंद्रगुप्त से जितनी दूर चाणक्य रहेगा। उतनी ही कार्य्यसिद्धि होगी।

शकट०—अमात्य! आप व्यर्थ सोच न करें, क्योंकि देखें

सबहि भाँति अधिकार लहि अभिमानी नृप चंद।
नहिं सहिहै अपमान अब राजा होइ स्वच्छंद॥
तिमि चाणक्यहु पाइ दुख एक प्रतिज्ञा पूरि।
अब दूजो करिहै न कछु निज उद्यम मद चूरि॥

राक्षस—ऐसा ही होगा। मित्र शकट दास! जाकर करभक को डेरा इत्यादि दो।

शकट०—जो आज्ञा।

(करभक को लेकर जाता है)

राक्षस—इस समय कुमार से मिलने की इच्छा है।

मलय०—(आगे बढ़कर) मैं आप ही आप से मिलने को आया हूँ।

राक्षस—(आसन से उठकर) अरे कुमार आप ही आ गए! आइए, इस आसन पर बैठिए।

मलय०—मैं बैठता हूँ आप बिराजिए।

(दोनों बैठते हैं)

मलय०—इस समय सिर की पीड़ा कैसी है?

राक्षस—जब तक कुमार के बदले महाराज कहकर आपको नहीं पुकार सकते तब तक यह पीड़ा कैसे छूटेगी।

मलय०—आपने जो प्रतिज्ञा की है तो सब कुछ होईगा। परन्तु सब सेना सामंत के होते भी अब आप किस बात का आसरा देखते हैं?

राक्षस—किसी बात का नहीं, अब चढ़ाई कीजिए।

मलय०—अमात्य! क्या इस समय शत्रु किसी संकट में है?

राक्षस—बड़े।

मलय०—किस संकट में!

राक्षस—मंत्री-संकट में।

मलय०—मंत्री-संकट तो कोई संकट नहीं है।

राक्षस—और किसी राजा को न हो तो न हो, चंद्रगुप्त को तो अवश्य है।

मलय०—आर्य ! मेरी जान में चंद्रगुप्त को और भी नहीं है।

राक्षस—आपने कैसे जाना कि चंद्रगुप्त को मंत्री-संकट संकट नहीं है?

मलय०—क्योंकि चंद्रगुप्त के लोग तो चाणक्य के कारण उससे उदास रहते हैं, जब चाणक्य ही न रहेगा तब उसके सब कामों को लोग और भी संतोष से करेंगे।

राक्षस—कुमार, ऐसा नहीं है, क्योंकि वहाँ दो प्रकार के लोग हैं—एक चंद्रगुप्त के साथी, दूसरे नंदकुल के मित्र, उनमें जो चंद्रगुप्त के साथी हैं उनको चाणक्य ही से दुःख था; नंदकुल के मित्रों को कुछ दुःख नहीं है, क्योंकि वह लोग तो यही सोचते हैं कि इसी कृतघ्न चंद्रगुप्त ने राज के लोभ से अपने पितृकुल का नाश किया है, पर क्या करें उनका कोई आश्रय नहीं है इससे चंद्रगुप्त के आसरे पड़े हैं। जिस दिन आपको शत्रु के नाश में और अपने पक्ष के उद्धार में समर्थ देखेंगे उसी दिन चंद्रगुप्त को छोड़कर आपसे मिल जायँगे, इसके उदाहरण हमी लोग हैं।

मलय०—आर्य ! चंद्रगुप्त पर चढ़ाई करने का एक यही कारण है कि कोई और भी है?

राक्षस—और बहुत क्या होंगे एक यही बड़ा भारी है।

मलय०—क्यों आर्य ! यही क्यों प्रधान है? क्या चंद्रगुप्त और मंत्रियों से या आप अपना काम करने में असमर्थ है?

राक्षस—निरा असमर्थ है।

मलय०—क्यों?

राक्षस—क्योंकि जो आप राज्य सँभालते हैं या जिनका राज राजा और मंत्री दोनों करते हैं वह राजा ऐसे हों तो हों; परंतु चंद्रगुप्त तो कदापि ऐसा नहीं है। चंद्रगुप्त एक तो दुरात्मा है, दूसरे वह तो सचिव ही के भरोसे सब काम करता है, इसमें वह कुछ व्यवहार जानता ही नहीं, तो फिर वह सब काम कैसे कर सकता है ? क्योंकि—

लक्ष्मी करत निवास अति प्रबल सचिव नृप पाय।
पै निज बाल-सुभाव सों इकहिं तजत अकुलाय॥

और भी—

जो नृप बालक सों रहत सदा सचिव के गोद।
बिन कछु जग देखे सुने, सो नहिं पावत मोद॥

मलय०—(आप ही आप) तो हम अच्छे हैं कि सचिव के अधिकार में नहीं। (प्रकाश) अमात्य ! यद्यपि यह ठीक है तथापि जहाँ शत्रु के अनेक छिद्र हैं तहाँ एक इसी सिद्धि से सब काम न निकालेगा।

राक्षस—कुमार के सब काम इसी से सिद्ध होंगे। देखिए,

चाणक्य को अधिकार छूट्यौ चंद्र हैं राजा नए।
पुर नंद में अनुरक्त तुम निज बल सहित चढ़ते भए॥
जब आप हम—(कहकर लज्जा से कुछ ठहर जाता है)
तुव बस सकल उद्यम सहित रन मति कारी।
वह कौन सो नृप ! बात जो नहिं सिद्धि है है ता घरी॥

मलय०—अमात्य ! जो अब आप ऐसा लड़ाई का समय देखते हैं तो देर करके क्यों बैठे हैं ? देखिए—

इनको ऊँचो सीस है, वाको उच्च करार।
स्याम दोऊ, वह जल स्रवत, ये गंडन मधु-धार॥

उतै भँवर को शब्द, इत भँवर करत गुंजार।
निज सम तेहि लखि नासिहैं, दंतन तोरि कछार॥
सीस सोन सिंदूर सों ते मतंग बल दाप।
सोन सहज ही सोखिहैं निश्चय जानहु आप॥

और भी—

गरजि गरजि गंभीर रव, बरसि बरसि मधु-धार।
सत्रु-नगर गज घेरिहैं, घन जिमि विविध पहार॥

(शस्त्र उठाकर भागुरायण के साथ जाता है)

राक्षस—कोई है ?

(प्रियंबदक आता है)

प्रियंबदक—आज्ञा।

राक्षस—देख तो द्वार पर कौन भिक्षुक खड़ा है ?

प्रियं०—जो आज्ञा। (बाहर जाकर फिर आता है) अमात्य ! एक क्षपणक भिक्षुक।

राक्षस—(असगुन जानकर आप ही आप) पहिले ही क्षपणक का दर्शन हुआ।

प्रियं०—जीवसिद्धि है।

राक्षस—अच्छा बोलाकर ले आ।

प्रियं०—जो आज्ञा। [जाता है

(क्षपणक आता है)

क्षपणक—पहिले कटु परिणाम मधु, औषध-सम उपदेस।
मोह व्याधि के वैद्य गुरु, तिनका सुनहु निदेस॥
(पास जाकर) उपासक ! धर्म लाभ हो !

राक्षस—ज्योतिषीजी, बताओ, अब हम लोग प्रस्थान किस दिन करें ?

क्षप०—(कुछ सोचकर) उपासक ! मुहूर्त्त तो देखो । आज भद्रा तो पहर पहिले ही छूट गई है और तिथि भी संपूर्णचंद्रा पौर्णमासी है । आप लोगों को उत्तर से दक्षिण जाना और नक्षत्र भी दक्षिण ही है ।

अथए सूरहि, चंद के उदए गमन प्रशस्त ।
पाइ लगन बुध केतु तौ उदयो हू भो अस्त ॥*

राक्षस—अजी, पहिले तो तिथि ही नहीं शुद्ध है ।

क्षप०—उपासक !

---

* भद्रा छूट गई अर्थात् कल्याण को तो आपने जब चंद्रगुप्त का पक्ष छोड़ा तभी छोड़ा और संपूर्ण-चन्द्रा पौर्णमासी है अर्थात् चंद्रगुप्त का प्रताप पूर्ण व्याप्त है। उत्तर नाम, प्राचीन पक्ष छोड़ कर दक्षिण अर्थात यम की दिशा का जाना है। नक्षत्र दक्षिण है अर्थात आपका वाम (विरुद्ध पक्ष) नक्षत्र और आपका दक्षिण पक्ष (मलयकेतु) नक्षत्र (बिना क्षत्र के)है । अथए इत्यादि, तुम जो सूर हो उसकी बुद्धि के अस्त के समय और चंद्रगुप्त के उदय के समय जाना अच्छा है अर्थात चाणक्य की ऐसे समय में जय होगी । लग्न अर्थात् कारण भाव में बुध चाणक्य पड़ा है इससे केतु अर्थात् मलयकेतु का उदय भी है तौ भी अस्त ही होगा । अर्थात् इस युद्ध में चंद्रगुप्त जीतेगा और मलयकेतु हारेगा । सूर अथए-इस पद से जीवसिद्धि ने अमंगल भी किया । आश्विन पूर्णिमा तिथि, भरणी नक्षत्र, गुरुवार मेष के चंद्रमा मीन लग्न में उसने यात्रा बतलाई । इसमें भरणी नक्षत्र गुरुवार, पूर्णिमा तिथि यह सब दक्षिण की यात्रा में निषिद्ध हैं । फिर सूर्य्य मृत है, चंद्र जीवित है यह भी बुरा है । लग्न में मीन का बुध पड़ने से नीच का होने से बुरा है । यात्रा में नक्षत्र दक्षिण होने ही से बुरा है ।

एक गुनी तिथि होत है, त्यौं चौगुन नक्षत्र।
लगन होत चौंतिस गुनी, यह भाखत सब पत्र॥
लगन होत है शुभ लगन छोड़ि क्रूर ग्रह एक।
जाहु चँद बल देखि कै पावहु लाभ अनेक॥*

राक्षस—अजी, तुम और जोतिषियों से जाकर झगड़ो।

क्षप०—आप ही झगड़ए, मैं जाता हूँ।

राक्षस—क्या आप रूस तो नहीं गए?

क्षप०—नहीं, तुमसे जोतिषी नहीं रूसा है।

राक्षस—तो कौन रूसा है?

क्षप०—(आप ही आप) भगवान्, कि तुम अपना पक्ष छोड़कर शत्रु का पक्ष ले बैठे हो। [जाता है

राक्षस—प्रियंवदक! देख तो कौन समय है।

प्रियं०—जो आज्ञा। (बाहर से हो आता है) आर्य! सूर्यास्त होता है।

राक्षस—(आसन से उठकर और देखकर) अहा! भगवान् सूर्य अस्ताचल को चले—

जब सूरज उदयो प्रबल, तेज धारि आकास।
तब उपवन तरुवर सबै छायाजुत भे पास॥
दूर परे ते तरु सबै अस्त भए रवि-ताप।
जिमि धन-बिन स्वामिहि तजै भृत्य स्वारथी आप॥

(दोनों जाते हैं)

---

* अर्थात् मलयकेतु का साथ छोड़ दो तो तुम्हारा भला हो। वास्तव में चाणक्य के मित्र होने से जीवसिद्ध ने साइत भी उलटी दी। ज्योतिष के अनुसार अत्यंत क्रूर बेला; क्रूर ग्रहवेष में युद्ध आरंभ होना चाहिए उसके विरुद्ध सौम्य समय में युद्ध यात्रा कही, जिसका फल पराजय है।

पंचम अंक

(हाथ में मोहर, गहिने की पेंटी और पत्र लेकर सिद्धार्थक आता है)

सिद्धार्थक—अहाहा !

देशकाल के कलश में सिंचो बुद्धि-जल जौन।
लता-नीति चाणक्य की बहु फल दैहै तौन ॥

आमत्य राक्षस की मोहर का, आर्य्य चाणक्य का लिखा हुआ यह लेख और मोहर की हुई यह आभूषण की पेटिका लेकर मैं पटने जाता हूँ। (नेपथ्य की ओर देखकर) अरे! यह क्या क्षपणक आता है ? हाय हाय ! यह तो बुरा असगुन हुआ। तो मैं सूरज को देखकर इसका दोष छुड़ा लूँ।

(क्षपणक आता है)

क्षप०—नमो नमो अर्हंत कों, जो निज बुद्धि-प्रताप।
लोकोत्तर की सिद्धि सब करत हस्तगत आप ॥

सिद्धा०—भदंत ! प्रणाम।

क्षप०—उपासक ! धर्म लाभ हो। (भली भाँति देखकर) आज तो समुद्र पार होने का बड़ा भारी उद्योग कर रखा है।

सिद्धा०—भदंत ! तुमने कैसे जाना ?

क्षप०—इसमें छिपी कौन बात है ! जैसे समुद्र में नाव पर सब के आगे मार्ग दिखलाने वाला माँझी रहता है, वैसे ही तेरे हाथ में लखौटा है।

सिद्धा०—अजी भदंत ! भला यह तुमने ठीक जाना कि मैं परदेश जाता हूँ, पर यह कहा कि आज दिन कैसा है ?

क्षप०(हँसकर) वाह श्रावक वाह ! तुम मूँड़ मुँड़ाकर भी नक्षत्र पूछते हो ?

सिद्धा०—भला अभी क्या बिगड़ा है ? कहते क्यों नहीं ? दिन अच्छा होगा जायँगे, न अच्छा होगा न जायँगे।

क्षप०—चाहे दिन अच्छा हो या न अच्छा हो, मलयकेतु के कटक से बिना मोहर लिए कोई जाने नहीं पाता।

सिद्धा०—यह नियम कब से हुआ ?

क्षप०—सुनो, पहिले तो कुछ भी रोक-टोक नहीं थी, पर जब से कुसुमपुर के पास आए हैं तब से यह नियम हुआ है कि बिना मोहर के न कोई जाय न आवे। इससे जो तुम्हारे पास भागुरायण की मोहर हो तो जाओ नहीं तो चुप बैठ रहो, क्योंकि पीछे से तुम्हें हाथ-पैर न बँधवाना पड़े।

सिद्धा०—क्या यह तुम नहीं जानते कि हम राक्षस के अंतरंग खेलाड़ी मित्र हैं ? हमें कौन रोक सकता है ?

क्षप०—चाहे राक्षस के मित्र हो चाहे पिशाच के, बिना मोहर के कभी न जाने पाओगे।

सिद्धा०—भदंत ! क्रोध मत करो, कहो कि काम सिद्ध हो।

क्षप०—जाओ, काम सिद्ध होगा, हम भी पटने जाने के हेतु भागुरायण से मोहर लेने जाते हैं।

(दोनों जाते हैं)

इति प्रवेशक

(भागुरायण और सेवक आते हैं)

भागु०—(आप ही आप) चाणक्य की नीति भी बड़ी विचित्र है।

कहूँ बिरल, कहुँ सघन, कहुँ विफल, कहूँ फलवान।
कहुँ कृस, कहुँ अति थूल, कछु भेद परत नहिं जान॥
कहूँ गुप्त अति हीं रहत, कबहूँ प्रगट लखात।
कठिन नीति चाणक्य की, भेद न जान्यो जात॥

(प्रगट) भासुरक ! मलयकेतु से मुझे क्षण भर भी दूर रहने में दुःख होता है इससे बिछौना बिछा तो बैठें।

सेवक— जो आज्ञा। बिछौना बिछा है, विराजिए।

भागु०—(आसन पर बैठकर) भासुरक ! बाहर कोई मुझसे मिलने आवे तो आने देना।

सेवक—जो आज्ञा। [जाता है

भागु०—(आप ही आप करुणा से) राम राम ! मलयकेतु तो मुझसे इतना प्रेम करता है, मैं उसका बिगाड़ किस तरह करूँगा ? अथवा—

जस-कुल तजि, अपमान सहि, धन-हित परबस होय।
जिन बेंच्यो निज प्रान तन, सबै सकत करि सोय॥

(आगे-आगे मलयकेतु और पीछे प्रतिहारी आते हैं)

मलय०—(आप ही आप) क्या करें राक्षस का चित्त मेरी ओर से कैसा है यह सोचते हैं तो अनेक प्रकार के विकल्प उठते हैं, कुछ निर्णय नहीं होता।

नंदवंश को जानिकै ताहि चंद्र को चाह।
कै अपनायो जानि निज मेरो करत निबाह॥
को हित अनहित तासु को यह नहिं जान्यो जात।
तासों जिय संदेह अति, भेद न कछू लखात॥

(प्रगट) विजये ! भागुरायण कहाँ हैं देख तो !

प्रति०—महाराज ! भागुरायण वह बैठे हुए आपकी सेना के जानेवाले लोगों को राह-खर्च और परवाना बाँट रहे हैं।

मलय०—विजये ! तुम दबे पाँव से उधर से आओ, मैं पीछे से जाकर मित्र भागुरायण की आँख बंद करता हूँ।

प्रति०—जो आज्ञा।

(दोनों दबे पाँव से चलते हैं और भसुरक आता है)

भासुरक—(भागुरायण से) बाहर क्षपणक आया है, उसको परवाना चाहिए।

भागु०—अच्छा, यहाँ भेज दो।

भासु०—जो आज्ञा। [जाता है

(क्षपणक आता है।)

क्षप०—श्रावक को धर्म लाभ हो !

भागु०—(छल से उसकी ओर देखकर) यह तो राक्षस का मित्र जीवसिद्धि है। (प्रगट) भदंत ! तुम नगर में राक्षस के किसी काम से जाते होगे।

क्षप०—(कान पर हाथ रख कर) छी-छी ! हमसे राक्षस वा पिशाच से क्या काम ?

भागु०—आज तुमसे और मित्र से कुछ प्रेम-कलह हुआ है, पर यह तो बताओ कि राक्षस ने तुम्हारा कौन अपराध किया है ?

क्षप०—राक्षस ने कुछ अपराध नहीं किया है, अपराधी तो हम हैं।

भागु०— ह ह ह ह ! भदंत ! तुम्हारे इस कहने से तो मुझको सुनने की और भी उत्कंठा होती है।

मलय०—(आप ही आप) मुझको भी।

भागु०—तो भदंत ! कहते क्यों नहीं ?

क्षप०—तुम सुनके क्या करोगे ?

भागु०—तो जाने दो, हमें कुछ आग्रह नहीं है, गुप्त हो तो मत कहो।

क्षप०—नहीं उपासक ! गुप्त ऐसा नहीं है, पर वह बहुत बुरी बात है।

भागु०—तो जाओ, हम तुमको परवाना न देंगे।

क्षप०—(आप ही आप की भाँति) जो यह इतना आग्रह करता है तो कह दें। (प्रगट) श्रावक ! निरुपाय होकर कहना पड़ा। सुनो। मैं पहिले कुसुमपुर में रहता था, तब संयोग से मुझसे राक्षस से मित्रता हो गई, फिर उस दुष्ट राक्षस ने चुपचाप मेरे द्वारा विषकन्या का प्रयोग कराके बिचारे पर्वतेश्वर को मार डाला।

मलय०—(आँखों में पानी भर के) हाय-हाय ! राक्षस ने हमारे पिता को मारा, चाणक्य ने नहीं मारा। हा !

भागु०—हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

क्षप०—फिर मुझे राक्षस का मित्र जानकर उस दुष्ट चाणक्य ने मुझको नगर से निकाल दिया; तब मैं राक्षस के यहाँ आया, पर राक्षस ऐसा जालिया है कि अब मुझको ऐसा काम करने को कहता है जिससे मेरा प्राण जाय।

भागु०—भदंत ! हम तो यह समझते हैं कि पहिले जो आधा राज देने को कहा था, वह न देने को चाणक्य ही ने यह दुष्ट कर्म किया, राक्षस ने नहीं किया।

क्षप०—(कान पर हाथ रखकर) कभी नहीं, चाणक्य तो विष-

कन्या का नाम भी नहीं जानता; यह घोर कुकर्म उस दुर्बुद्धि राक्षस ही ने किया है।

भागु०—हाय-हाय! बड़े कष्ट की बात है। लो, मुहर तो तुमको देते हैं, पर कुमार को भी यह बात सुना दो।

मलय०—(आगे बढ़कर)

सुन्यो मित्र, श्रुति-भेद-कर शत्रु कियो जो हाल।
पिता-मरन को मोहि दुख दुगुन भयो एहि काल॥

क्षप०—(आप ही आप) मलयकेतु दुष्ट ने यह बात सुन ली तो मेरा काम हो गया। [जाता है

मलय०—(दाँत पीसकर ऊपर देखकर) अरे राक्षस!

जिन तोपै विश्वास करि सौंप्यो सब धन धाम।
ताहि मारि दुख दै सबन सांचो किय निज नाम॥

भागु०—(आप ही आप) आर्य चाणक्य की आज्ञा है कि "अमात्य राक्षस के प्राण की सर्वथा रक्षा करना" इससे अब बात फेरें। (प्रकाश) कुमार! इतना आवेग मत कीजिए। आप आसन पर बैठिए तो मैं कुछ निवेदन करूँ।

मलय०—मित्र, क्या कहते हो? कहो। (बैठ जाता है)

भागु०—कुमार! बात यह है कि अर्थशास्त्रवालों की मित्रता और शत्रुता अर्थ ही के अनुसार होती है, साधारण लोगों की भाँति इच्छानुसार नहीं होती। उस समय सर्वार्थसिद्धि को राक्षस राजा बनाया चाहता था तब देव पर्वतेश्वर ही उस कार्य में कंटक थे तो उस कार्य की सिद्धि के हेतु यदि राक्षस ने ऐसा किया तो कुछ दोष नहीं। आप देखिए—

मित्र शत्रु ह्वै जात हैं, शत्रु करहिं अति नेह।
अर्थ-नीति-बस लोग सब बदलहिं मानहुँ देह॥

इससे राक्षस को ऐसी अवस्था में दोष नहीं देना चाहिए। और जब तक नन्दराज्य न मिले तब तक उस पर प्रकट स्नेह ही रखना नीतिसिद्ध है; राज मिलने पर कुमार जो चाहेंगे करेंगे।

मलय०—मित्र! ऐसा ही होगा। तुमने बहुत ठीक सोचा है। इस समय इसके वध करने से प्रजागण उदास हो जायँगे और ऐसा होने से जय में भी संदेह होगा।

(एक मनुष्य आता है)

मनुष्य—कुमार की जय हो! कुमार के कटकद्वार के रक्षाधिकारी दीर्घचक्षु ने निवेदन किया है कि "मुद्रा लिए बिना एक पुरुष कुछ पत्र-सहित बाहर जाता हुआ पकड़ा गया है सो उसको एक बेर आप देख लें।"

भागु०—अच्छा, उसको ले आओ।

पुरुष—जो आज्ञा।

(जाता है और हाथ बँधे हुए सिद्धार्थक को लेकर आता है)

सिद्धा०—(आप ही आप)

गुन पै रिझवति दोस सों दूर बचावति जौन।
स्वामि-भक्ति जननी सरिस, प्रनमत नित हम तौन॥

पुरुष—(हाथ जोड़कर) कुमार! यही मनुष्य है।

भागु०—(अच्छी तरह देखकर) यह क्या बाहर का मनुष्य है या यहीं किसी का नौकर है?

सिद्धा०—मैं अमात्य राक्षस का पासवर्ती सेवक हूँ।

भागु०—तो तुम क्यों मुद्रा लिए बिना कटक के बाहर जाते थे?

सिद्धा०—आर्य! काम की जल्दी से।

भागु०—ऐसा कौन काम है जिसके आगे राजाज्ञा का भी कुछ मोल नहीं गिना?

(सिद्धार्थक भागुरायण के हाथ में लेख देता है)

भागु०—(लेख लेकर देखकर) कुमार ! इस लेख पर अमात्य राक्षस की मुहर है ।

मलय०—ऐसी तरह से खोलकर दो कि मुहर न टूटे ।

(भागुरायण पत्र खोलकर मलयकेतु को देता है)

मलय०—(पढ़ता है) स्वस्ति । यथास्थान में कहीं से कोई किसी पुरुष-विशेष को कहता है । हमारे विपक्ष को निराकरण करके सच्चे मनुष्य ने सचाई दिखलाई । अब हमारे पहिले के रखे हुए हमारे हितकारी मित्रों को भी जो-जो देने को कहा था वह देकर प्रसन्न करना । यह लोग प्रसन्न होंगे तो अपना आश्रय छूट जाने पर सब भाँति अपने उपकारी की सेवा करेंगे । सच्चे लोग कहीं नहीं भूलते तो भी हम स्मरण कराते हैं । इनमें से कोई तो शत्रु का कोष और हाथी चाहते हैं और कोई राज चाहते हैं । हमको सत्यवादी ने जो तीन अलंकार भेजे सो मिले । हमने भी लेख अशून्य करने को कुछ भेजा है सो लेना । और जबानी हमारे अत्यन्त प्रामाणिक सिद्धार्थक से सुन लेना ।*

मलय०—मित्र भागुरायण ! इस लेख का आशय क्या है ?

भागु०—भद्र सिद्धार्थक ! यह लेख किसका है ?

सिद्धा०—आर्य ! मैं नहीं जानता ।

भागु०—धूर्त ! लेख लेकर जाता है और यह नहीं जानता कि किसने लिखा है, और संदेसा किससे कहेगा ?

---

* यह वही लेख है जिसको चाणक्य ने शटकदास से धोखा देकर लिखवाया था और अपने हाथ से राक्षस की मुहर उस पर करके सिद्धार्थक को दिया था ।

सिद्धा०—(डरते हुए की भाँति) आपसे।

भागु०—क्यों रे! हमसे?

सिद्धा०—आपने पकड़ लिया। हम कुछ नहीं जानते कि क्या बात है।

भागु०—(क्रोध से) अब जानेगा। भद्र भासुरक! इसको बाहर ले जाकर जब तक यह सब कुछ न बतलावे तब तक खूब मारो।

पुरुष—जो आज्ञा (सिद्धार्थक को बाहर लेकर जाता है और हाथ में एक पेटी लिए फिर आता है) आर्य! उसको मारने के समय उसके बगल में से यह मुहर की हुई पेटी गिर पड़ी।

भागु०—(देखकर) कुमार! इस पर भी राक्षस की मुहर है।

मलय०—यही लेख अशून्य करने को होगी। इसकी भी मुहर बचाकर हमको दिखलाओ।

(भागुरायण पेटी खोलकर दिखलाता है)

मलय०—अरे! यह तो वही सब आभरण हैं जो हमने राक्षस को भेजे थे। निश्चय यह चंद्रगुप्त को लिखा है।

भागु०—कुमार! अभी सब संशय मिट जाता है। भासुरक! उसको और मारो।

पुरुष—जो आज्ञा। (बाहर जाकर फिर आता है) आर्य! हमने उसको बहुत मारा है। अब कहता है कि अब हम कुमार से सब कह देंगे।

मलय०—अच्छा, ले आओ।

पुरुष—जो कुमार की आज्ञा। (बाहर जाकर सिद्धार्थक को लेकर आता है)

सिद्धा०—(मलयकेतु के पैरों पर गिरकर) कुमार ! हमको अभय-दान दीजिए।

मलय०—भद्र ! उठो, शरणागत जन यहाँ सदा अभय हैं। तुम इसका वृत्तांत कहो।

सिद्धा०—(उठकर) सुनिए। मुझको अमात्य राक्षस ने यह पत्र देकर चंद्रगुप्त के पास भेजा था।

मलय०—ज़बानी क्या कहने को कहा था वह कहो।

सिद्धा०—कुमार ! मुझको अमात्य राक्षस ने यह कहने को कहा था कि मेरे मित्र कुलूत देश के राजा चित्रवर्म्मा, मलयाधिपति सिंहनाद, कश्मीरेश्वर पुष्कराक्ष, सिंधु-महाराज सिंधुसेन और पारसीक-पालक मेघाक्ष, इन पाँच राजाओं से आपसे पूर्व में संधि हो चुकी है। इसमें पहिले तीन तो मलयकेतु का राज चाहते हैं और बाकी दो खजाना और हाथी चाहते हैं। जिस तरह महाराज ने चाणक्य को उखाड़कर मुझको प्रसन्न किया उसी तरह इन लोगों को भी प्रसन्न करना चाहिए। यही राजसंदेश है।

मलय०—(आप ही आप) क्या चित्रवर्म्मादिक भी हमारे द्रोही हैं ! तभी राक्षस में उन लोगों की ऐसी प्रीति है। (प्रकाश) विजये ! हम अमात्य राक्षस को देखा चाहते हैं।

प्रति०—जो आज्ञा। [जाती है

(एक परदा हटता है और राक्षस आसन पर बैठा हुआ चिंता की मुद्रा में एक पुरुष के साथ दिखाई पड़ता है)

राक्षस—(आप ही आप) चंद्रगुप्त की ओर के बहुत लोग हमारी सेना में भरती हो रहे हैं इससे हमारा मन शुद्ध नहीं है। क्योंकि—

रहत साध्य तें अन्वित अरु विलसत निज पच्छहिं।
सोई साधन साधक जो नहिं छुअत विपच्छहिं॥
जो पुनि आपु असिद्ध सपच्छ विपच्छहु में सम।
कछु कहुँ नहिं निज पच्छ माँहि जाको है संगम॥
नरपति ऐसे साधनन कों अनुचित अंगीकार करि।
सब भाँति पराजित होत हैं बादी लौं बहु विधि बिगरि॥

वा जो लोग चंद्रगुप्त से उदास हो गए हैं वही लोग इधर मिले हैं, मैं व्यर्थ सोच करता हूँ। (प्रगट) प्रियंवदक! कुमार के अनुयायी राजा लोगों से हमारी ओर से कह दो कि अब कुसुमपुर दिन-दिन पास आता जाता है, इससे सब लोग अपनी सेना अलग-अलग करके जो जहाँ नियुक्त हों वहाँ सावधानी से रहें।

आगे खस अरु मगध चलें जयध्वजहिं उड़ाए।
यवन और गंधार रहें मधि सैन जमाए॥
चेदि-हून-सकराज लोग पीछे सों धावहिं।
कौलूतादिक नृपति कुमारहि घेरे आवहिं॥

प्रियं०—अमात्य की जो आज्ञा। [जाता है

(प्रतिहारी आती है)

प्रति०—अमात्य की जय हो। कुमार अमात्य को देखना चाहते हैं।

राक्षस—भद्र! क्षण भर ठहरो। बाहर कौन है?

(एक मनुष्य आता है)

मनुष्य—अमात्य! क्या आज्ञा है?

राक्षस—भद्र! शकटदास से कहो कि जब से कुमार ने हमको आभरण पहिराया है तब से उनके सामने नंगे अंग जाना

हमको उचित नहीं है। इससे जो तीन आभरण मोल लिए हैं उनमें से एक भेज दूं।

मनुष्य—जो अमात्य की आज्ञा। (बाहर जाता है और आभरण लेकर आता है) अमात्य! अलंकार लीजिए।

राक्षस—(अलंकार धारण करके) भद्रे! राजकुल में जाने का मार्ग बतलाओ।

प्रति०—इधर से आइए।

राक्षस—अधिकार ऐसी बुरी वस्तु है कि निर्दोष मनुष्य का भी जी डरा करता है।

सेवक प्रभु सों डरत सदाहीं। पराधीन सपने सुख नाहीं॥
जे ऊँचे पद के अधिकारी। तिनको मनहीं मन भय भारी॥
सबही द्वेष बड़न सों करहीं। अनुछिन कान स्वामि को भरहीं॥
जिमि जे जनमे ते मरें, मिले अवसि बिलगाहिं।
तिमि जे अति ऊँचे चढ़ें, गिरिहैं संसय नाहिं॥

प्रति०—(आगे बढ़ कर) अमात्य! कुमार यह बिराजते हैं, आप जाइए।

राक्षस—अरे, कुमार यह बैठे हैं।

लखत चरन की ओर हू, तऊ न देखत ताहि।
अचल दृष्टि इक ओर ही, रही बुद्धि अवगाहि॥
कर पै धारि कपोल निज लसत झुको अवनीस।
दुसह काज के भार सों मनहुँ नमित भो सीस॥

(आगे बढ़कर) कुमार की जय हो!

मलय०—आर्य! प्रणाम करता हूँ। आसन पर बिराजिए।

(राक्षस बैठता है)

मलय०—आर्य! बहुत दिनों से हम लोगों ने आपको नहीं देखा।

राक्षस—कुमार! सेना को आगे बढ़ाने के प्रबन्ध में फँसने के कारण हमको यह उपालंभ सुनना पड़ा।

मलय०—अमात्य! सेना के प्रयाण का आपने क्या प्रबन्ध किया है? मैं भी सुनना चाहता हूँ।

राक्षस—कुमार! आपके अनुयायी राजा लोगों को यह आज्ञा दी है। ('आगे खस अरु मगध' इत्यादि छंद पढ़ता है)

मलय०—(आप ही आप) हाँ, जाना; जो हमारा नाश करने के हेतु चंद्रगुप्त से मिले हैं वही हमको घेरे रहेंगे। (प्रकाश) आर्य, अब कुसुमपुर से कोई आता है या वहाँ जाता है कि नहीं?

राक्षस—अब यहाँ किसी के आने-जाने से क्या प्रयोजन। पाँच-छः दिन में हम लोग ही वहाँ पहुँचेंगे।

मलय०—(आप ही आप) अभी सब खुल जाता है। (प्रगट) जो यही बात है तो इस मनुष्य को चिट्ठी लेकर आपने कुसुमपुर क्यों भेजा था?

राक्षस—(देखकर) अरे! सिद्धार्थक है? भद्र! यह क्या?

सिद्धा०—(भय और लज्जा नाट्य करके) अमात्य! हमको क्षमा कीजिए। अमात्य! हमारा कुछ भी दोष नहीं है, मार खाते-खाते हम आपका रहस्य छिपा न सके।

राक्षस—भद्र! वह कौन सा रहस्य है यह हमको नहीं समझ पड़ता।

सिद्धा०—निवेदन करते हैं, मार खाने से। (इतना ही कह लज्जा से नीचा मुँह कर लेता है)

मलय०—भागुरायण! स्वामी के सामने लज्जा और भय से यह कुछ न कह सकेगा, इससे तुम सब बात आर्य से कहो।

भागु०—कुमार की जो आज्ञा। अमात्य! यह कहता है कि अमात्य राक्षस ने हमको चिट्ठी देकर और संदेश कह कर चंद्रगुप्त के पास भेजा है।

राक्षस—भद्र सिद्धार्थक! क्या यह सत्य है?

सिद्धा०—(लज्जा नाट्य करके) बहुत मार खाने के डर से मैंने कह दिया।

राक्षस—कुमार! यह झूठ है, मार खाने से लोग क्या नहीं कह देते?

मलय०—भागुरायण! चिट्ठी दिखला दो और संदेशा वह अपने मुँह से कहेगा।

(भागुरायण चिट्ठी खोलकर 'स्वस्ति कहीं से कोई किसी को' इत्यादि पढ़ता है)

राक्षस—कुमार! कुमार! यह सब शत्रु का प्रयोग है।

मलय०—लेख अशून्य करने को आर्य ने जो आभरण भेजे हैं वह शत्रु कैसे भेजेगा? (आभरण दिखलाता है)।

राक्षस—कुमार! यह मैंने किसी को नहीं भेजा। कुमार ने यह मुझको दिया और मैंने प्रसन्न होकर सिद्धार्थक को दिया।

भागु०—अमात्य! क्या ऐसे उत्तम आभरणों का, विशेष कर क्या अपने अंग से उतारकर कुमार की दी हुई वस्तु का यह पात्र है?

मलय०—और संदेश भी बड़े प्रामाणिक सिद्धार्थक से सुनना, यह आर्य ने लिखा है।

राक्षस—कैसा संदेश और कैसी चिट्ठी? यह हमारा कुछ नहीं है!

मलय०—तो मुहर किसकी है ?

राक्षस—धूर्त्त लोग कपटमुद्रा भी बना लेते हैं।

भागु०—कुमार ! अमात्य सच कहते हैं ! सिद्धार्थक, यह चिट्ठी किसकी लिखी है ?

(सिद्धार्थक राक्षस का मुँह देखकर चुप रह जाता है)

भागु०—चुप मत रहो। जी कड़ा करके कहो।

सिद्धा०—आर्य ! शकटदास ने।

राक्षस—शकटदास ने लिखा तो मानों मैंने ही लिखा

मलय०—विजये ! शकटदास को हम देखा चाहते हैं।

भागु०—(आप ही आप) आर्य चाणक्य के लोग बिना निश्चय समझे हुए कोई बात नहीं करते। जो शकटदास आकर यह चिट्ठी किस प्रकार लिखी गई है यह सब वृत्तांत कह देगा तो मलयकेतु फिर बहक जायगा। (प्रकाश) कुमार ! शकटदास, अमात्य राक्षस के सामने लिखा होगा तो भी न स्वीकार करेंगे; इससे उनका कोई और लेख मँगाकर अक्षर मिला लिए जायँ।

मलय०—विजये ! ऐसा ही करो।

भागु०—और मुहर भी आवे।

मलय०—हाँ, वह भी।

कंचुकी—जो आज्ञा। (बाहर जाती है और पत्र और मुहर लेकर आती है) कुमार ! यह शकटदास का लेख और मुहर है।

मलय०—(देखकर और अक्षर और मुहर की मिलान करके) आर्य ! अक्षर तो मिलते हैं।

राक्षस—(आप ही आप) अक्षर निःसंदेह मिलते हैं, किन्तु शकटदास हमारा मित्र है, इस हिसाब से नहीं मिलते। तो क्या शकटदास ही ने लिखा, अथवा—

पुत्र-दार की याद करि स्वामि भक्ति तजि देत।
छोड़ि अचल जस कों करत चल धन सों जन हेत॥
या इसमें संदेह ही क्या है!
मुद्रा ताके हाथ में, सिद्धार्थक हू मित्र।
ताही के कर को लिख्यौ, पत्रहु साधन चित्र॥
मिलि कै शत्रन सों करन भेद भूलि निज धर्म।
स्वामि-विमुख शकटहि कियो, निश्चय यह खल कर्म।

मलय०—आर्य! श्रीमान् ने तीन आभरण भेजे सो मिले, यह जो आपने लिखा है सो उसी में का एक आभरण यह भी है? (राक्षस के पहने हुए आभरण को देखकर आप ही आप) क्या यह पिता के पहने हुए आभरण हैं? (प्रकाश) आर्य, यह आभरण आपने कहाँ से पाया?

राक्षस—जौहरी से मोल लिया था।

मलय०—विजये! तुम इन आभरणों को पहचानती हौ?

प्रति०—(देख कर आँसू भर के) कुमार! हम सुगृहीत-नामधेय महाराज पर्वतेश्वर के पहिरने के आभरणों को न पहचानेंगी!

मलय०—(आँखों में आँसू भर के)

भूषण-प्रिय! भूषण सबै, कुल-भूषण! तुव अंग।
तुव मुख ढिग इमि सोहतो, जिमि ससि तारन-संग॥

राक्षस—(आप ही आप) ये पर्वतेश्वर के पहिने हुए आभरण हैं! (प्रकाश) जाना, यह भी निश्चय चाणक्य के भेजे हुए जौहरियों ने ही बेचा है।

मलय०—आर्य! पिता के पहने हुए आभरण और फिर चंद्रगुप्त के हाथ पड़े हुए जौहरी बेंचे, यह कभी हो नहीं सकता। अथवा हो सकता है—

अधिक लाभ के लोभ सों क्रूर ! त्यागि सब नेह ।
बदले इन आभरन के तुम बेंच्यौ मम देह ॥

राक्षस—(आप ही आप) अरे ! यह दाँव तो पूरा बैठ गया

मम लेख नहिं यह किमि कहैं मुद्रा छपी जब हाथ की ।
विश्वास होत न शकट तजिहैं प्रीति कबहूँ साथ की ॥
पुनि बेंचिहैं नृप चंद भूषण कौन यह पतियाइहै ।
तासों भलो अब मौन रहनो कथन तें पति जाइहै ॥

मलय०—आर्य ! हम यह पूछते हैं ।

राक्षस—जो आर्य हो उससे पूछो ; हम अब पापकारी अनार्य हो गए हैं ।

मलय०—स्वामि-पुत्र तुव मौर्य, हम मित्र-पुत्र सह हेत ।
पैहौ उत वाको दियो, इत तुम हमकों देत ॥
सचिवहु भे उत दास ही, इत तुम स्वामी आप ।
कौन अधिक फिर लोभ जो, तुम कीनो यह पाप ॥

राक्षस—(आँखों में आँसू भर के) कुमार ! कुमार ! इसका निर्णय तो आप ही ने कर दिया—

स्वामि-पुत्र मम मौर्य्य, तुम मित्र-पुत्र सह हेत ।
पैहैं उत वाको दियो, इत हम तुमकों देत ॥
सचिवहु भे उत दास ही, इत हम स्वामी आप ।
कौन अधिक फिर लोभ जो, हम कीनो यह पाप ॥

मलय०—(चिट्ठी, पेटी इत्यादि दिखला कर) यह सब क्या है ?

राक्षस—(आँखों में आँसू भर के) यह सब चाणक्य ने नहीं किया, दैव ने किया ।

निज प्रभु सों करि नेह जे भृत्य समर्पत देह ।
तिन सों अपने सुत सरिस सदा निबाहत नेह

ते गुणगाहक नृप सबै जिन मारे छन माहिं।
ताही बिधि को दास यह औरन को कछु नाहिं ॥

मलय०—(क्रोधपूर्वक) अनार्य ! अब तक छल किए जाते हो कि यह सब दैव ने किया।

विषकन्या दै पितु हत्यौ प्रथम प्रीति उपजाय।
अब रिपु सों मिलि हम सबन बधन चहत ललचाय ॥

राक्षस—(दुःख से आप ही आप) हा ! यह और जले पर नमक है। (प्रगट कानों पर हाथ रखकर) नारायण ! देव पर्वतेश्वर का कोई अपराध हमने नहीं किया।

मलय०—फिर पिता को किसने मारा ?

राक्षस०—यह दैव से पूछो।

मलय०—दैव से पूछें, जीवसिद्धि क्षपणक से न पूछें ?

राक्षस—(आप ही आप) क्या जीवसिद्धि भी चाणक्य का गुप्तचर है ! हाय ! शत्रु ने हमारे हृदय पर भी अधिकार कर लिया !

मलय०—(क्रोध से) भासुरक शिखरसेन सेनापति से कहो कि राक्षस से मिलकर चंद्रगुप्त को प्रसन्न करने को पाँच राजे जो हमारा बुरा चाहते हैं, उनमें कौलूत चित्रवर्मा, मलयाधिपति सिंहनाद और कश्मीराधीश पुष्कराक्ष ये तीन हमारी भूमि की कामना रखते हैं, सो इनको भूमि ही में गाड़ दे; और सिंधुराज सुषेण और पारसीकपति मेघाक्ष हमारी हाथी की सेना चाहते हैं सो इनको हाथी ही के पैर के नीचे पिसवा दे।

पुरुष—जो कुमार की आज्ञा ! [जाता है

मलय—राक्षस ! हम मलयकेतु हैं, कुछ तुमसे विश्वासघाती राक्षस नहीं हैं । इससे तुम जाकर अच्छी तरह चंद्रगुप्त का आश्रय करो ।

चंद्रगुप्त चाणक्य सों मिलिए सुख सों आप ।
हम तीनहुँ को नासिहैं जिमि त्रिवर्ग कहँ पाप ॥

भागु०—कुमार ! व्यर्थ अब कालक्षेप मत कीजिए । कुसुमपुर घेरने को हमारी सेना चढ़ चुकी है ।

उड़िकै तियगन गंड जुगल कहँ मलिन बनावति ।
अलिकुल से कल अलकन निज कन धवल छवावति ॥
चपल तुरग-खुर-घात उठी घन घुमड़ि नवीनी ।
सत्रु-सीस पैं धूरि परै गजमद सों भीनी ॥

(अपने भृत्यों के साथ मलयकेतु जाता है)

राक्षस—(घबड़ाकर) हाय ! हाय ! चित्रवर्मादिक साधु सब व्यर्थ मारे गए । हाय ! राक्षस की सब चेष्टा शत्रु को नहीं, मित्रों ही के नाश करने को होती है । अब हम मंदभाग्य क्या करें ?

जाहिं तपोवन, पै न मन शांत होत सह क्रोध ।
प्रान देहिं रिपु के जियत यह नारिन को बोध ॥
खींचि खड्ग कर पतँग समाजहिं अनल अरि-पास ।
पै या साहस होइहै चंदनदास निवास ।

(सोचता हुआ जाता है)

—: ० :—

षष्ठ अंक

स्थान—नगर के बाहर सड़क

(कपड़ा, गहिना पहिने हुए सिद्धार्थक आता है)

सिद्धार्थक—

जलद्-नील-तन जयति जय, केशव केशी-काल।
जयति सुजन-तन-दृष्टि-ससि, चंद्रगुप्त नरपाल॥
जयति आर्य चाणक्य की नीति सहज बल-भौन।
बिनहो साजे सैन नित, जीतत अरि-कुल जौन॥

चलो, आज पुराने मित्र समिद्धार्थक से भेंट करें। (घूमकर) अरे! मित्र सिद्धार्थक आप ही इधर आता है।

(समिद्धार्थक आता है)

समिद्धार्थक—

मिटत ताप नहिं पान सों, होत उछाह बिनास।
बिना मीत के सुख सबै, औरहु करत उदास॥

सुना है कि मलयकेतु के कटक से मित्र समिद्धार्थक आ गया है। उसी को खोजने को हम भी निकले हैं कि मिले तो बड़ा आनंद हो। (आगे बढ़कर) अहा! सिद्धार्थक तो यहीं है। कहो मित्र! अच्छे तो हो?

सिद्धा०—अहा! मित्र समिद्धार्थक आप ही आ गए। (बढ़कर) कहो मित्र! क्षेम कुशल तो है?

(दोनों गले से मिलते हैं)

समि०—भला ! यहाँ कुशल कहाँ कि तुम्हारे ऐसा मित्र बहुत दिन पीछे घर भी आया तो बिना मिले फिर चला गया ?

सिद्धा०—मित्र ! क्षमा करो ! मुझको देखते ही आर्य चाणक्य ने आज्ञा दी कि इस प्रिय वृत्तांत को अभी चंद्रमा सदृश प्रकाशित शोभावाले परम प्रिय महाराज प्रियदर्शन से जाकर कहो। मैं उसी समय महाराज के पास चला गया और उनसे निवेदन करके यह सब पुरस्कार पाकर तुमसे मिलने को तुम्हारे घर अभी जाता ही था।

समि०—मित्र ! जो सुनने के योग्य हो तो महाराज प्रियदर्शन से जो प्रिय वृत्तांत कहा है वह हम भी सुनें।

सिद्धा०—मित्र ! तुमसे भी कोई बात छिपी है ! सुनो। आर्य चाणक्य की नीति से मोहित-मति होकर उस नष्ट मलय-केतु ने राक्षस को दूर कर दिया और चित्रवर्मादिक पाँचों प्रबल राजों को मरवा डाला। यह देखते ही और सब राजे अपने प्राण और राज्य का संशय समझकर उसको छोड़कर सेना-सहित अपने-अपने देश चले गए। जब शत्रु ऐसी निर्बल अवस्था में हुआ, तो भद्रभट, पुरुषदत्त, हिंगुरात, बलगुप्त. राजसेन, भागुरायण, रोहिताक्ष, विजय वर्मा इत्यादि लोगों ने मलयकेतु को कैद कर लिया।

समि०—मित्र ! लोग तो यह जानते हैं कि भद्रभट इत्यादि लोग महाराज चंद्रश्री को छोड़कर मलयकेतु से मिल गए; तो क्या कुकवियों के नाटक की भाँति इसके मुख में और तथा निर्वहण में और बात है ?

सिद्धा०—वयस्य ! सुनो, जैसे दैव की गति नहीं जानी जाती वैसे ही आर्य चाणक्य की जिस नीति की भी गति नहीं जानी जाती उसको नमस्कार है।

समि०—हाँ ! कहो, तब क्या हुआ !

सिद्धा०—तब इधर से सब सामग्री लेकर आर्य चाणक्य बाहर निकले और विपक्ष के शेष राजाओं को निःशेष करके बर्बर लोगों की सब सामग्री लूट ली।

समि०—तो वह सब अब कहाँ हैं।

सिद्धा०—वह देखो।

स्रवत गंडमद गरब गज, नदत मेघ अनुहार।
चाबुक भय चितवत चपल, खड़े अस्व बहु द्वार॥

समि०—अच्छा, यह सब जाने दो। यह कहो कि सब लोगों के सामने इतना अनादर पाकर फिर भी आर्य चाणक्य उसी मंत्री के काम क्यों करते हैं।

सिद्ध०—मित्र ! तुम अब तक निरे सीधे साधे बने हो। अरे, अमात्य राक्षस भी आर्य चाणक्य की जिन चालों को नहीं समझ सकते उनको हम-तुम क्या समझेंगे !

समि०—वयस्य ! अमात्य राक्षस अब कहाँ हैं ?

सिद्धा०—उस प्रलय कोलाहल के बढ़ने के समय मलयकेतु की सेना से निकलकर उंदुर नामक चर के साथ कुसुमपुर ही की ओर वह आते हैं, यह आर्य चाणक्य को समाचार मिला है।

समि०—मित्र ! नंदराज्य के फिर स्थापन की प्रतिज्ञा करके स्वनाम-तुल्य-पराक्रम अमात्य राक्षस, उस काम को पूरा किए बिना फिर कैसे कुसुमपुर आते हैं ?

सिद्धा०—हम सोचते हैं कि चंदनदास के स्नेह से।

समि०—ठीक है, चंदनदास के स्नेह ही से। किन्तु तुम सोचते हो कि चंदनदास के प्राण बचेंगे ?

सिद्धा०—कहाँ उस दीन के प्राण बचेंगे ? हमीं दोनों को वध-स्थान में ले जाकर उसको मारना पड़ेगा।

समि०—(क्रोध से) क्या आर्य चाणक्य के पास कोई घातक नहीं है कि ऐसा नीच काम हम लोग करें ?

सिद्धा०—मित्र ! ऐसा कौन है जिसको इस जीवलोक में रहना हो और वह आर्य चाणक्य की आज्ञा न माने ! चलो, हम लोग चांडाल का वेष बनाकर चन्दनदास को वधस्थान में ले चलें।

(दोनों जाते हैं)

इति प्रवेशक

स्थान—बाहरी प्रांत में प्राचीन बारी

(फाँसी हाथ में लिए हुए एक पुरुष आता है)

पुरुष—
षट गुन सुदृढ़ गुथी मुख फाँसी।
जय उपाय परिपाटी गाँसी॥
रिपु-बंधन मैं पटु प्रति पोरी।
जय चाणक्य-नीति की डोरी॥

आर्य चाणक्य के चर उंदुर ने इसी स्थान में मुझको अमात्य राक्षस से मिलने को कहा है। (देखकर) यह अमात्य राक्षस सब अंग छिपाए हुए आते हैं। तब तक इस पुरानी बारी में छिपकर हम देखें कि यह कहाँ ठहरते हैं। (छिपकर बैठता है)

(सब अंग छिपाए हुए राक्षस आता है)

राक्षस०—(आँखों में आँसू भर के) हाय ! कष्ट की बात है
आश्रय बिनसैं और पैं जिमि कुलटा तिय जाय।
तजि तिमि नन्दहि चञ्चला चंद्रहि लपटी धाय॥

देखादेखी प्रजहु सब कीनो ता अनुगौन।
तजि कै निज नृप-नेह सब कियो कुसुमपुर भौन॥
होइ बिफल उद्योग मैं, तजि कै कारज-भार।
आप्त मित्रहू थकि रहे, सिर बिनु जिमि अहि छार॥
तजि कै निज पति भुवन-पति सुकुल-जात नृप नंद।
श्री वृषली गइ वृषल ढिग सील त्यागि करि छंद॥
जाइ तहाँ थिर ह्वै रही निज गुन सहज बिसारि।
बस न चलत जब बाम बिधि सब कछु देत बिगारि॥
नंद मरे सैलेश्वरहि देन चह्यौ हम राज।
सोऊ बिनसे तब कियो ता सुत हित सो साज॥
बिगर्‍यौ तौन प्रबन्ध हू, मिट्यौ मनोरथ-मूल।
दोस कहा चाणक्य को दैवहि भो प्रतिकूल॥

वाह रे म्लेच्छ मलयकेतु की मूर्खता! जिसने इतना नहीं समझा कि—

मरे स्वामिहू नहिं तज्यौ जिन निज-नृप-अनुराग।
लोभ छाँडि दै प्रान जिन करी सत्रु सों लाग॥
सोई राक्षस शत्रु सों मिलिहै यह अंधेर।
इतनो सूझ्यौ वाहि नहिं दई दैव मति फेर॥

सो अब भी शत्रु के हाथ में पड़के राक्षस नाश हो जायगा, पर चंद्रगुप्त से संधि न करेगा। लोग झूठा कहें, यह अपयश हो, पर शत्रु की बात कौन सहेगा? (चारों ओर देखकर) हा! इसी प्रांत में देव नंद रथ पर चढ़कर फिरने आते थे।

इतहि देव अभ्यास हित सर तजि धनु संधानि।
रचत रहे भुव चित्र सम रथ सुचक्र परिखानि॥

जहँ नृपगन संकित रहें इत उत थमे लखात।
सोई भुव ऊजर भई दृगन लखी नहिं जात॥

हाय! यह मंदभाग्य अब कहाँ जाय? (चारों ओर देखकर) चलो, इस पुरानी बारी में कुछ देर ठहरकर मित्र चंदनदास का कुछ समाचार लें। (घूमकर आप ही आप) अहा! पुरुषों के भाग्य की उन्नति-अवनति की भी क्या-क्या गति होती है कोई नहीं जानता।

जिमि नव ससि कहँ सब लखत निज-निज करहिं उठाय।
तिमि पुरजन हम को रहे लखत अनंद बढ़ाय॥
चाहत हे नृपगन सबै जासु कृपा-दृग-कोर।
सो हम इत संकित चलत मानहुँ कोऊ चोर॥

वा जिसके प्रसाद से यह सब था, जब वही नहीं है तो यह होहीगा। (देखकर) यह पुराना उद्यान कैसा भयानक हो रहा है।

नसे बिपुल नृप-कुल-सरसि बड़े बड़े गृह-जाल।
मित्र-नास सों साधुजन-हिय सम सूखे ताल॥
तरुवर भे फलहीन जिमि बिधि बिगरे सब नीति।
तृन सों लोपी भूमि जिमि मति लहि मूढ़ कुरीति॥
तीछन परसु-प्रहार सों कटे तरोवर-गात।
रोअत मिलि पिंडुक सँग ताके घाव लखात॥
दुखी जानि निज मित्र कहँ अहि मनु लेत उसास।
निज कँचुल मिस धरत हैं, फाहा तरु-ब्रन पास॥
तरुगन को सूख्यौ हियो, छिदे कीट सों गात।
दुखी पत्र-फल-छाँह बिनु; मनु मसान सब जात॥

तो तब तक हम इस सिला पर, जो भाग्यहीनों को सुलभ

है, लेटें। (बैठकर और कान देकर सुनकर) अरे ! यह शंख डंके से मिला हुआ नांदी शब्द कहाँ हो रहा है ?

अति ही तीखन होन सों फोरत स्रोता-कान।
जब न समायो घरन मैं तब इन कियो पयान॥
संख पटह धुनि सों मिल्यौ भारी मंगल-नाद।
निकस्यौ मनहु दिगंत की दूरी देखन स्वाद॥

(कुछ सोचकर) हाँ, जाना। यह मलयकेतु के पकड़े जाने पर राजकुल (रुककर) मौर्यकुल को आनन्द देने को हो रहा है।

(आँखों में आँसू भरकर) हाय ! बड़े दुःख की बात है।

मेरे बिनु अब जीति दल शत्रु पाइ बल घोर।
मोहि सुनावन हेतु ही कीन्हों शब्द कठोर॥

पुरुष—अब तो यह बैठे हैं तो अब आर्य चाणक्य की आज्ञा पूरी करें। (राक्षस की ओर न देखकर अपने गले में फाँसी लगाना चाहता है)

राक्षस—(देखकर आप ही आप) अरे यह फांसी क्यों लगाता है ? निश्चय कोई हमारा सा दुखिया है। जो हो, पूछें तो सही। (प्रकाश) भद्र, यह क्या करते हो ?

पुरुष—(रोकर) मित्रों के दुःख से दुखी होकर हमारे ऐसे मन्द-भाग्यों का जो कर्त्तव्य है।

राक्षस—(आप ही आप) पहले ही कहा था, कोई हमारा सा दुखिया है। (प्रकाश) भद्र, जो अति गुप्त वा किसी विशेष कार्य की बात न हो तो हमसे कहो कि तुम क्यों प्राण त्याग करते हो।

पुरुष—आर्य ! न तो गुप्त ही है न कोई बड़े काम की बात है; परन्तु मित्र के दुःख से मैं अब क्षण भर भी ठहर नहीं सकता।

राक्षस—(आप ही आप दुःख से) मित्र की विपत्ति में हम पराए लोगों की भाँति उदासीन होकर जो देर करते हैं मानो उसमें शीघ्रता करने की यह अपना दुःख कहने के बहाने शिक्षा देता है। (प्रकाश) भद्र! जो रहस्य है तो हम सुना चाहते हैं कि तुम्हारे दुःख का क्या कारण है?

पुरुष—आपको इसमें बड़ा ही हठ है तो कहना पड़ा। इस नगर में जिष्णुदास नामक एक महाजन है।

राक्षस—(आप ही आप) वह तो चंदनदास का बड़ा मित्र है।

पुरुष—वह हमारा प्यारा मित्र है।

राक्षस—(आप ही आप) कहता है कि वह हमारा प्यारा मित्र है। इस अति निकट संबंध से इसको चंदनदास का वृत्तांत ज्ञात होगा।

पुरुष—(रोकर) सो दीन जनों को सब धन देकर वह अब अग्निप्रवेश करने जाता है। यह सुनकर हम यहाँ आए हैं कि इस दुःख-वार्ता सुनने के पूर्व ही अपने प्राण दे दें।

राक्षस—भद्र! तुम्हारे मित्र के अग्निप्रवेश का कारण क्या है?

कै तेहि रोग असाध्य भयो
कोऊ जाको न औषध नाहिं निदान है?

पुरुष—नहीं आर्य!

राक्षस—कै विष अग्निहु सो बढ़ि कै
नृपकोप महा फँसि त्यागत प्रान है?

पुरुष—राम-राम! चंद्रगुप्त के राज्य में लोगों को प्राणहिंसा का भय कहाँ?

राक्षस—कै कोउ सुंदरी पै जिय देत
लग्यो हिय माँहि वियोग को बान है?

पुरुष—राम-राम ! महाजन लोगों को यही चाल नहीं, विशेष करके साधु जिष्णुदास की।

राक्षस—तौ कहुँ मित्रहि को दुख वाहू के
नास को हेतु तुम्हारे समान है?

पुरुष—हाँ, आर्य।

राक्षस—(घबड़ा कर आप ही आप) अरे, इसके मित्र का प्रिय मित्र तो चंदनदास ही है और यह कहता है कि सुहृद-विनाश ही उसके विनाश का हेतु है इससे मित्र के स्नेह से मेरा चित्त बहुत ही घबड़ाता है। (प्रकाश) भद्र ! तुम्हारे मित्र का चरित्र हम सविस्तर सुना चाहते हैं।

पुरुष—आर्य ! अब मैं किसी प्रकार से मरने में विलंब नहीं कर सकता।

राक्षस—यह वृत्तांत तो अवश्य सुनने के योग्य है, इससे कहो।

पुरुष—क्या करूं ? आप ऐसा हठ करते हैं तो सुनिए।

राक्षस—हाँ ! जी लगाकर सुनते हैं, कहो।

पुरुष—आपने सुना ही होगा कि इस नगर में प्रसिद्ध जौहरी सेठ चंदनदास हैं।

राक्षस—(दुःख से आप ही आप) दैव ने हमारे विनाश का द्वार अब खोल दिया। हृदय ! स्थिर हो, अभी न जाने क्या-क्या कष्ट तुमको सुनना होगा। (प्रकाश) भद्र ! हमने भी सुना है कि वह साधु अत्यंत मित्रवत्सल है।

पुरुष—वह जिष्णुदास के अत्यंत मित्र हैं।

राक्षस—(आप ही आप) यह सब हृदय के हेतु शोक का वज्रपात है। (प्रकाश) हाँ, आगे।

पुरुष—सो जिष्णुदास ने मित्र की भाँति चंद्रगुप्त से बहुत विनय किया।

राक्षस—क्या-क्या ?

पुरुष—कि देव ! हमारे घर में जो कुछ कुटुम्बपालन का द्रव्य है आप सब ले लें, पर हमारे मित्र चंदनदास को छोड़ दें।

राक्षस—(आप ही आप) वाह जिष्णुदास ! तुम धन्य हो ! तुमने मित्रस्नेह का निर्वाह किया।

जा धन के हित नारि तजै पति पूत तजैं पितु सीलहिं खोई।
भाई सों भाई लरैं रिपु से पुनि मित्रता मित्र तजै दुख जोई॥
ता धन को बनिया ह्वै गिन्यौ न दियो दुख मीत सों आरत होई।
स्वारथ अर्थ तुम्हारोई है तुमरे सम और न या जग कोई॥

(प्रकाश) इस बात पर मौर्य ने क्या कहा ?

पुरुष—आर्य ! इस पर चंद्रगुप्त ने उससे कहा कि 'जिष्णुदास ! हमने धन के हेतु चंदनदास को नहीं दंड दिया है। इसने अमात्य राक्षस का कुटुम्ब अपने घर में छिपाया था, और बहुत माँगने पर भी न दिया, अब भी जो यह दे-दे तो छूट जाय, नहीं तो इसको प्राणदंड होगा। तभी हमारा क्रोध शांत होगा और दूसरे लोगों को भी इससे डर होगा'—यह कह उसको वधस्थान में भेज दिया। जिष्णुदास ने कहा कि "हम कान से अपने मित्र का अमंगल सुनने के पहिले मर जायँ तो अच्छी बात है" और अग्नि में प्रवेश करने को बन में चले गए। हमने भी इसी हेतु कि उनका मरण न सुनें यह निश्चय किया कि फाँसी लगाकर मर जायँ और इसी हेतु यहाँ आए हैं।

राक्षस—(घबड़ाकर) अभी चंदनदास को मारा तो नहीं ?

पुरुष—आर्य ! अभी नहीं मारा है, बारंबार अब भी उनसे अमात्य राक्षस का कुटुम्ब माँगते हैं और वह मित्रवत्सलता से नहीं देते, इसी में इतना विलंब हुआ।

राक्षस—(सहर्ष आप ही आप) वाह मित्र चंदनदास ! वाह ! धन्य ! धन्य !

मित्र—परोच्छहुँ मैं कियो सरनागत-प्रतिपाल ।
निरमल जस सिवि सो लियो तुम या काल कराल ॥

(प्रकाश) भद्र ! तुम शीघ्र जाकर जिष्णुदास को जलने से रोको ; हम जाकर अभी चंदनदास को छुड़ाते हैं ।

पुरुष—आर्य ! आप किस उपाय से चंदनदास को छुड़ाइएगा ?

राक्षस—(खड्ग मियान से खींचकर) इन दुःखों में एकांत मित्र निष्कृप कृपाण से ।

समर साध तन पुलकित नित साथी मम कर को ।
रन महँ बारहिं बार परिछ्यौ जिन बल पर को ॥
बिगत जलद नभ नील खड्ग यह रोस बढ़ावत ।
मीत-कष्ट सों दुखिहु मोहिं रनहित उमगावत ॥

पुरुष—सेठ चंदनदास के प्राण बचाने का उपाय मैंने सुना किंतु ऐसे टेढ़े समय में इसका परिणाम क्या होगा, यह मैं नहीं कह सकता। (राक्षस को देखकर पैर पर गिरता है) आर्य ! क्या सुगृहीत-नामधेय अमात्य राक्षस आप ही हैं ? यह मेरा संदेह आप दूर कीजिए ।

राक्षस—भद्र ! भर्तृकुल-विनाश से दुखी और मित्र के नाश का कारण यथार्थ-नामा अनार्य राक्षस मैं ही हूँ ।

पुरुष—(फिर पैर पर गिरता है) धन्य हैं ! बड़ा ही आनंद हुआ । आपने हमको आज कृतकृत्य किया ।

राक्षस—भद्र ! उठो । देर करने की कोई आवश्यकता नहीं । जिष्णुदास से कहो कि राक्षस चंदनदास को अभी छुड़ाता है ।

(खङ्ग खींचे हुए 'समर साध' इत्यादि पढ़ता हुआ इधर-उधर टहलता है)

पुरुष—(पैर पर गिरकर) अमात्यचरण ! प्रसन्न हों। मैं यह बिनती करता हूँ कि चंद्रगुप्त दुष्ट ने पहले शकटदास के वध की आज्ञा दी थी। फिर न जानें कौन शकटदास को छुड़ाकर उसको कहीं परदेश में भगा ले गया। आर्य शकटदास के वध में धोखा खाने से चंद्रगुप्त ने क्रोध करके प्रमादी समझकर उन वधिकों ही को मार डाला। तब से वधिक जो किसी को वधस्थान में ले जाते हैं और मार्ग में किसी को शस्त्र खींचे हुए देखते हैं तो छुड़ा ले जाने के भय से अपराधी को बीच ही में तुरंत मार डालते हैं। इससे शस्त्र खींचे हुए आपके वहाँ जाने से चंदनदास की मृत्यु में और भी शीघ्रता होगी।

[जाता है

राक्षस—(आप ही आप) उस चाणक्य बटु का नीति-मार्ग कुछ समझ नहीं पड़ता क्योंकि—

सकट बच्यौ जो ता कहे तो क्यों घातक-घात।
जाल भयो का खेल मैं कछु समझ्यौ नहिं जात॥
(सोचकर) नहिं शस्त्र को यह काल यासों मीत-जीवन जाइहै।
जौ नीति सोचैं या समय तो व्यर्थ समय नसाइहै॥
चुप रहनहू नहिं जोग जब मम हित विपति चंदन परयौ।
तासों बचावन प्रियहि अब हम देह निज बिक्रय करयौ॥

(तलवार फेंककर जाता है)

सप्तम अंक

स्थान—सूली देने का मसान

(पहिला चांडाल आता है)

चांडाल—हटो लोगो हटो, दूर हो भाइयो, दूर हो। जो अपना प्राण, धन और कुल बचाना हो तो दूर हो। राजा का विरोध यत्नपूर्वक छोड़ो।

करि कै पथ्य-विरोध इक रोगी त्यागत प्रान।
पै विरोध नृप सों किए नसत सकुल नर जान॥

जो न मानो तो इस राजा के विरोधी को देखो जो स्त्री-पुत्र समेत यहाँ सूली देने को लाया जाता है। (ऊपर देखकर) क्या कहा कि 'इस चंदनदास के छूटने का कुछ उपाय भी है ?' भला इस बिचारे के छूटने का कौन उपाय है। पर हाँ, जो यह मंत्री राक्षस का कुटुम्ब दे दे तो छूट जाय। (फिर ऊपर देखकर) क्या कहा कि 'यह शरणागतवत्सल प्राण देगा पर यह बुरा कर्म न करेगा।' तो फिर इसकी बुरी गति होगी क्योंकि बचने का तो यही एक उपाय है।

(कंधे पर सूली रखे मृत्यु का कपड़ा पहिने चंदनदास, उसकी स्त्री और पुत्र, और दूसरा चांडाल आते हैं)

स्त्री—हाय हाय ! जो हम लोग नित्य अपनी बात बिगड़ने के डर से फूँक-फूँककर पैर रखते थे उन्हीं हम लोगों की चोरों की भाँति मृत्यु होती है। काल देवता को

नमस्कार है, जिसको मित्र उदासीन सभी एक से हैं, क्योंकि—

छोड़ि मांस-भख मरन-भय जियहिं खाइ तृन घास।
तिन गरीब मृग को करहिं निरदय व्याधा नास॥

(चारों ओर देखकर)

अरे भाई जिष्णुदास ! मेरी बात का उत्तर क्यों नहीं देते? हाय ! ऐसे समय में कौन ठहर सकता है।

चंदन०—(आँसू भरकर) हाय ! यह मेरे सब मित्र बिचारे कुछ नहीं कर सकते, केवल रोते हैं और अपने को अकर्मण्य समझ शोक से सूखा-सूखा मुँह किए आँसूभरी आँखों से एकटक मेरी ही ओर देखते चले आते हैं।

दोनों चंडाल—अजी चंदनदास ! अब तुम फाँसी के स्थान पर आ चुके इससे कुटुम्ब को बिदा करो।

चंदन०—(स्त्री से) अब तुम पुत्र को लेकर जाओ, क्योंकि आगे तुम्हारे जाने की भूमि नहीं है।

स्त्री—ऐसे समय में तो हम लोगों को बिदा करना उचित ही है, क्योंकि आप परलोक जाते हैं, कुछ परदेश नहीं जाते। (रोती है)

चंदन०—सुनो, मैं कुछ अपने दोष से नहीं मारा जाता, एक मित्र के हेतु मेरे प्राण जाते हैं, तो इस हर्ष के स्थान पर क्यों रोती है?

स्त्री—नाथ ! जो यह बात है तो कुटुम्ब को क्यों बिदा करते हो?

चंदन०—तो फिर तुम क्या कहती हो?

स्त्री—(आँसू भरकर) नाथ ! कृपा करके मुझे भी साथ ले चलो।

चंदन०—हा ! यह तुम कैसी बात कहती हो? अरे ! तुम इस बालक का मुँह देखो और इसकी रक्षा करो, क्योंकि

१ चंडाल०—(राक्षस को लेकर घूमकर) अरे! यहाँ पर कौन नंदकुल-सेनासंचय के चूर्ण करनेवाले वज्र से, वैसे ही मौर्य्यकुल में लक्ष्मी और धर्म्म स्थापना करनेवाले, आर्य्य चाणक्य से कहो—

राक्षस—(आप ही आप) हाय! यह भी राक्षस को सुनना लिखा था!

१ चंडाल—कि आप की नीति ने जिसकी बुद्धि को घेर लिया है, वह अमात्य राक्षस पकड़ा गया।

(परदे में सब शरीर छिपाए केवल मुँह खोले चाणक्य आता है)

चाणक्य—अरे कहो, कहो।

किन जिन बसननि मैं धरी कठिन अगिनि की ज्वाल?
रोकी किन गति वायु की डोरिन ही के जाल?
किन गजपति-मर्द्दन प्रबल सिंह पींजरा दीन?
किन केवल निज बाहु-बल पार समुद्रहि कीन?

१ चंडाल—परमनीतिनिपुण आप ही ने तो।

चाणक्य—अजी! ऐसा मत कहो, वरन् "नंदकुलद्वेषी दैव ने" यह कहो।

राक्षस—(देखकर आप ही आप) अरे! क्या यही दुरात्मा वा महात्मा कौटिल्य है?

सागर जिमि बहु रत्नमय तिमि सब गुन की खानि।
तोष होत नहिं देखि गुन बैरी हू निज जानि॥

चाणक्य—(देखकर) अरे! यही अमात्य राक्षस हैं? जिस महात्मा ने—

नसत स्वामिकुल जिन लख्यौ निज चख शत्रु-समान।
मित्रदुःख हू मैं धरयौ निजज होइ जिन प्रान॥
तुम सों हारि बिगारि सब कढ़ी न जाकी साँस।
ता राक्षस के कंठ मैं डारहु यह जमफाँस॥

चंदन०—(देखकर और आँखों में आँसू भरकर) अमात्य, यह क्या करते हो।

राक्षस—मित्र, तुम्हारे सच्चरित्र का एक छोटा सा अनुकरण।

चंदन०—अमात्य, मेरा किया तो सब निष्फल हो गया, पर आपने ऐसे समय यह साहस अनुचित किया।

राक्षस—मित्र चंदनदास ! उलाहना मत दो, सभी स्वार्थी हैं। (चंडाल से) अजी ! तुम उस दुष्ट चाणक्य से कहो।

दोनों चंडाल—क्या कहें ?

राक्षस—

जिन कलि मैं हू मित्र-हित तृन सम छोड़े प्रान।
जाके जस-रवि सामुहे सिवि-जस दीप समान॥
जाका अति निर्मल चरित, दया आदि नित जानि।
बौद्धहु सब लज्जित भए, परम शुद्ध जेहि मानि॥
ता पूजा के पात्र कों मारत तू धरि पाप।
जाके हित सो शत्रु तुव आयो इत मैं आप॥

१ चंडाल—अरे वेणुवेत्रक ! तू चंदनदास को पकड़कर इस मसान के पेड़ की छाया में बैठ, तब से मंत्री चाणक्य को मैं समाचार दूँ कि अमात्य राक्षस पकड़ा गया।

२ चांडाल—अच्छा रे वज्रलोमक ! (चंदनदास, स्त्री, बालक और सूली को लेकर जाता है)

यह बिचारा कुछ भी लोकव्यवहार नहीं जानता । यह किसका मुँह देख के जाएगा ?

स्त्री—इसकी रक्षा कुलदेवी करेंगी । बेटा ! अब पिता फिर न मिलेंगे इससे मिलकर प्रणाम कर ले ।

बालक—(पैरों पर गिरके) पिता ! मैं आपके बिना क्या करूँगा ?

चंदन०—बेटा, जहाँ चाणक्य न हो वहाँ बसना ।

दोनों चांडाल—(सूली खड़ी करके) अजी चंदनदास ! देखो, सूली खड़ी हुई, अब सावधान हो जाओ ।

स्त्री—(रोकर) लोगो, बचाओ ! अरे ! कोई बचाओ !

चंदन०—भाइयो, तनिक ठहरो । (स्त्री से) अरे ! अब तुम रो-रोकर क्या नंदों को स्वर्ग से बुला लोगी ? अब वे लोग यहाँ नहीं हैं जो स्त्रियों पर सर्वदा दया रखते थे ।

१ चांडाल—अरे वेणुवेत्रक ! पकड़ इस चंदनदास को, घरवाले आप ही रो-पीट कर चले जायँगे ।

२ चांडाल—अच्छा वज्रलोमक, मैं पकड़ता हूँ ।

चंदन०—भाइयो ! तनिक ठहरो, मैं अपने लड़के से तो मिल लूँ । (लड़के को गले लगाकर और माथा सूंघकर) बेटा ! मरना तो था ही पर एक मित्र के हेतु मरते हैं इससे सोच मत कर ।

पुत्र—पिता, क्या हमारे कुल के लोग ऐसा ही करते आए हैं ? (पैर पर गिर पड़ता है) ।

२ चांडाल—पकड़ रे वज्रलोमक ! (दोनों चंदन को पकड़ते हैं)

स्त्री—लोगो ! बचाओ रे, बचाओ !

(वेग से राक्षस आता है)

राक्षस—डरो मत, डरो मत । सुनो सुनो, घातको ! चंदनदास को मत मारना, क्योंकि—

बहु दुख सों सोवत सदा जागत रैन बिहाय।
मेरी मति अरु चंद्र की सैनहि दई थकाय॥

(परदे से बाहर निकलकर) अजी अजी अमात्य राक्षस! मैं विष्णुगुप्त आपको दंडवत् करता हूँ। (पैर छूता है)

राक्षस—(आप ही आप) अब मुझे अमात्य कहना तो केवल मुँह चिढ़ाना है। (प्रगट) अजी विष्णुगुप्त! मैं चांडालों से छू गया हूँ इससे मुझे मत छूओ।

चाणक्य—अमात्य राक्षस! वह श्वपाक नहीं है, वह आपका जाना-सुना सिद्धार्थक नामा राजपुरुष है और दूसरा भी समिद्धार्थक नामा राजपुरुष ही है; और इन्हीं दोनों द्वारा विश्वास उत्पन्न करके उस दिन शकटदास को धोखा देकर मैंने वह पत्र लिखवाया था।

राक्षस—(आप ही आप) अहा! बहुत अच्छा हुआ कि मेरा शकटदास पर से संदेह दूर हो गया।

चाणक्य—बहुत कहाँ तक कहूँ—

वे सब भद्रभटादि, वह सिद्धार्थक, वह लेख।
वह भदंत, वह भूषनहु, वह नट आरत भेख॥
वह दुख चन्दनदास को, जो कछु दियो दिखाय।
सो सब मम (लज्जा से कुछ सकुचकर)
सो सब राजा चंद्र को तुम सों मिलन उपाय॥

देखिए, यह राजा भी आपसे मिलने आप ही आते हैं।

राक्षस—(आप ही आप) अब क्या करें? (प्रगट) हाँ! मैं देख रहा हूँ।

(सेवकों के संग राजा आता है)

राजा—(आप ही आप) गुरुजी ने बिना युद्ध ही दुर्जय शत्रु का

कुल जीत लिया इसमें कोई संदेह नहीं। मैं तो बड़ा लज्जित हो रहा हूँ, क्योंकि—

है बिनु काम लजाय करि नीचो मुख भरि सोक।
सोवत सदा निषंग में मम बानन के थोक।
सोवहिं धनुष उतारि हम जदपि सकहिं जग जीति।
जा गुरु के जागत सदा नीति-निपुण गत-भीति॥

(चाणक्य के पास जाकर) आर्य ! चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है।

चाणक्य—वृषल ! अब सब असीस सच्ची हुई, इससे इन पूज्य अमात्य राक्षस को नमस्कार करो, यह तुम्हारे पिता के सब मंत्रियों में मुख्य हैं।

राक्षस—(आप ही आप) लगाया न इसने संबंध—

राजा—(राक्षस के पास जाकर) आर्य ! चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है।

राक्षस—(देखकर आप ही आप) अहा ! यही चंद्रगुप्त है !

होनहार जाको उदय बालपने ही जोइ।
राज लह्यो जिन बाल गज जूथाधिप सम होइ॥

(प्रगट) महाराज ! जय हो।

राजा—आर्य !

तुमरे आछत बहुरि गुरु जागत नीति-प्रवीन।
कहहु कहा या जगत में जाहि न जय हम कीन॥

राक्षस—(आप ही आप) देखो, यह चाणक्य का सिखाया-पढ़ाया मुझसे कैसी सेवकों की सी बात करता है ! नहीं-नहीं, यह आप ही विनीत है। अहा ! देखो, चंद्रगुप्त पर डाह के बदले उलटा अनुराग होता है। चाणक्य सब स्थान पर यशस्वी है, क्योंकि—

पाइ स्वामि सतपात्र जो मंत्री मूरख होइ।
तौहू पावै लाभ अस, इत तौ पंडित दोइ॥

मूरख स्वामी लहि गिरै चतुर सचिव हू हारि।
नदी-तीर-तरु जिमि नसत जीरन है लहि बारि॥

चाणक्य—क्यों अमात्य राक्षस! आप क्या चंदनदास के प्राण बचाया चाहते हैं?

राक्षस—इसमें क्या संदेह है?

चाणक्य—पर अमात्य! आप शस्त्र ग्रहण नहीं करते, इससे संदेह होता है कि आपने अभी राजा पर अनुग्रह नहीं किया. इससे जो सच ही चंदनदास के प्राण बचाया चाहते हों तो यह शस्त्र लीजिए।

राक्षस—सुनो विष्णुगुप्त! ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि हम उस योग्य नहीं; विशेष करके जब तक तुम शस्त्र ग्रहण किए हो तब तक हमारे शस्त्र ग्रहण करने का क्या काम है?

चाणक्य—भला अमात्य! आपने कहाँ से निकाला कि हम योग्य हैं और आप अयोग्य हैं? क्योंकि देखिए—

रहत लगामहिं कसे अश्व की पीठ न छोड़त।
खान पान असनान भोग तजि मुख नहिं मोड़त॥
छूटे सब सुख-साज नींद नहिं आवत नयनन।
निसि दिन चौंकत रहत बीर सब भय धरि निज मन॥
वह हौदन सों सब छन कस्यो नृप-गजगन अवरेखिए।
रिपुदर्प-दूर-कर अति प्रबल निज महात्मबल देखिए॥

वा इन बातों से क्या! आपके शस्त्र ग्रहण किए बिना तो चंदनदास बचता भी नहीं।

राक्षस—(आप ही आप)

नंद-नेह छूट्यौ नहीं दास भए अरि साथ।
ते तरु कैसे काटिहैं जे पाले निज हाथ॥

कैसे करिहैं मित्र पैं हम निज कर सों घात।
अहो भाग्य-गति अति प्रबल मोहिं कछु जानि न जात॥

(प्रकाश) अच्छा विष्णुगुप्त! मँगाओ खड्ग "नमस्सर्व-कार्य्यप्रतिपत्तिहेतवे सुहृत्स्नेहाय" देखो, मैं उपस्थित हूँ।

चाणक्य—(राक्षस को खड्ग देकर हर्ष से) राजन् वृषल! बधाई है, बधाई है! अब अमात्य राक्षस ने तुम पर अनुग्रह किया। अब तुम्हारी दिन-दिन बढ़ती ही है।

राजा—यह सब आपकी कृपा का फल है।

(पुरुष आता है)

पुरुष—जय हो महाराज की, जय हो। महाराज! भद्रभट-भागुरायणादिक मलयकेतु को हाथ-पैर बाँधकर लाए हैं और द्वार पर खड़े हैं। इसमें महाराज की क्या आज्ञा होती है?

चाणक्य—हाँ, सुना। अजी! अमात्य राक्षस से निवेदन करो, अब सब काम वही करेंगे।

राक्षस—(आप ही आप) कैसे अपने वश में करके मुझी से कहलाता है। क्या करें? (प्रकाश) महाराज, चंद्रगुप्त! यह तो आप जानते ही हैं कि हम लोगों का मलयकेतु का कुछ दिन तक संबंध रहा है। इससे उसका प्राण तो बचाना ही चाहिये।

(राजा चाणक्य का मुँह देखता है)

चाणक्य—महाराज! अमात्य राक्षस की पहिली बात तो सर्वथा माननी ही चाहिए। (पुरुष से) अजी! तुम भद्रभटादिकों से कह दो कि "अमात्य राक्षस के कहने से महाराज चंद्रगुप्त मलयकेतु को उसके पिता का राज्य देते हैं" इससे तुम लोग संग जाकर उसको राज पर बिठा आओ।

पुरुष—जो आज्ञा।

चाणक्य—अजी अभी ठहरो, सुनो! दुर्गपाल विजयपाल से यह कह दो कि अमात्य राक्षस के शस्त्र ग्रहण से प्रसन्न होकर महाराज चंद्रगुप्त यह आज्ञा करते हैं कि "चंदनदास को सब नगरों का जगत्सेठ कर दो।"

पुरुष—जो आज्ञा। (जाता है)

चाणक्य—चंद्रगुप्त! अब और मैं क्या तुम्हारा प्रिय करूँ?

राजा—इससे बढ़कर और क्या भला होगा?

मैत्री राक्षस सों भई, मिल्यो अकंटक राज।
नंद नसे सब अब कहा यासों बढ़ि सुख-साज॥

चाणक्य—(प्रतिहारी से) विजये! दुर्गपाल विजयपाल से कहो कि "अमात्य राक्षस के मेल से प्रसन्न होकर महाराज चंद्रगुप्त आज्ञा करते हैं कि हाथी, घोड़ों को छोड़कर और सब बँधुओं का बंधन छोड़ दो" वा जब अमात्य राक्षस मंत्री हुए तब अब हाथी-घोड़ों का क्या सोच है! इससे—

छोड़ौ सब गज तुरग अब कछु मत राखौ बाँधि।
केवल हम बाँधत सिखा निज परतिज्ञा साधि॥

(शिखा बाँधता है)

प्रतिहारी—जो आज्ञा। (जाती है)

चाणक्य—अमात्य राक्षस! मैं इससे बढ़कर और कुछ भी आपका प्रिय कर सकता हूँ?

राक्षस—इससे बढ़कर और हमारा क्या प्रिय होगा ? पर जो इतने पर भी संतोष न हो तो यह आशीर्वाद सत्य हो—

"वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिम्प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।
म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना पीवरं राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीम्पार्थिवश्चन्द्रगुप्त ॥"

(सब जाते हैं)

———

उपसंहार (क)

इस नाटक में आदि, अंत तथा अंकों के विश्रामस्थल में रंगशाला में ये गीत गाने चाहिएँ। यथा—

सबके पूर्व मंगलाचरण में।

(ध्रुवपद चौताला)

जय जय जगदीस राम, श्याम-धाम पूर्ण-काम,
आनँदघन ब्रह्म विष्णु, सत्-चित-सुखकारी।
कंस-रावनादि-काल, सतत-प्रनत भक्त-पाल,
सोभित - गल - मुकमाल, दीनतापहारी॥
प्रेमभरन पापहरन, असरन-जन-सरन-चरन,
सुखहि-करन दुखहि-दरन, वृंदावनचारी।
रमावास जगनिवास, राम रमन समनत्रास,
विनवत 'हरिचंद' दास, जयजय गिरिधारी॥

(प्रस्तावना के अंत में प्रथम अंक के आरंभ में। चाल लखनऊ की ठुमरी "शाहजादे आलम तेरे लिये" इस चाल की)

जिनके हितकारक पंडित हैं तिनकों कहा सत्रुन को डर है।
समुझैं जग में सब नीतिन्ह जो तिन्हैं दुर्ग बिदेस मनो घर है।
जिन मित्रता राखी है लायक सों तिनकों तिनकाहु महा सर है।
जिनकी परतिज्ञा टरै न कबौं तिनकी जय ही सब ही थर है॥

(पहले अंक की समाप्ति और दूसरे अंक के प्रारंभ में)

जग में घर की फूट बुरी।
घर के फूटहि सों बिनसाई सुबरन लंकपुरी॥

फूटहि सों सब कौरव नासे भारत जुद्ध भयो।
जाको घाटो या भारत मैं अबलौं नहिं पुजयो ॥
फूटहि सों जयचंद बुलायो जवनन भारत धाम।
जाको फल अबलौं भोगत सब आरज होइ गुलाम ॥
फूटहि सों नव नंद बिनासे गयो मगध को राज।
चंद्रगुप्त को नासन चाह्यौ आपु नसे सह साज ॥
जो जग मैं धन मान और बल अपुनो राखन होय।
तो अपुने घर मैं भूलेहू फूट करौ मति कोय ॥

(दूसरे अंक की समाप्ति और तीसरे अंक के आरंभ में)

जग में तेई चतुर कहावैं।
जे सब बिधि अपने कारज को नीकी भाँति बनावैं ॥
पढ़यौ लिख्यौ किन होइ जु पै नहिं कारज साधन जानै।
ताही को मूरख या जग मैं सब कोऊ अनुमानै ॥
छल मैं पातक होत जदपि यह शास्त्रन मैं बहु गायो।
पै अरि सों छल किए दोष नहिं मुनियन यहै बतायो ॥

(तीसरे अंक की समाप्ति और चौथे अंक के आरंभ में)

ठुमरी

तिनको न कछू कबहूँ बिगरै, गुरु लोगन को कहनो जे करैं।
जिनको गुरु पंथ दिखावत हैं ते कुपंथ पैं भूलि न पाँव धरैं ॥
जिनको गुरु रच्छत आप रहैं ते बिगारे न बैरिन के बिगरैं ॥
गुरु को उपदेस सुनौ सब ही, जग कारज जासों सबै सँभरैं ॥

(चौथे अंक की समाप्ति और पाँचवें अंक के आरंभ में)

पूरबी

करि मूरख मित्र मिताई, फिर पछितैहौ रे भाई।
अंत दगा खैहौ सिर धुनिहौ रहिहौ सबै गँवाई ॥

मूरख जो कछु हितहु करै तो तामैं अंत बुराई।
उलटो उलटो काज करत सब दैहै अंत नसाई॥
लाख करौ हित मूरख सों पै ताहि न कछु समुझाई।
अंत बुराई सिर पैं ऐहै रहि जैहौ मुँह बाई॥
फिर पछितैहौ रे भाई

(पाँचवें अंक की समाप्ति और छठे अंक के आरंभ में

[काफी ताल होली का]

छलियन सों रहो सावधान नहि तो पछताओगे।
इनकी बातन में फँसि रहिहौ सबहि गँवाओगे॥
स्वारथ लोभी जन सों आखिर दगा उठाओगे।
तब सुख पैहौ जब साँचन सों नेह बढ़ाओगे॥
छलियन सों० ॥

(छठे अंक की समाप्ति और सातवें अंक के आरंभ में)

['जिनके मन में सिय राम बसें' इस धुन की]

जग सूरज चन्द टरें तो टरैं पै न सज्जन-नेहु कबौं बिचलै।
धन संपति सर्बस गेह नसो नहिं प्रेम की मेड़ सों एड़ टलै।
सतवादिन कों तिनका सम प्रान रहै तो रहै वा ढलै तो ढलै।
निज मीत की प्रीत प्रतीत रहौ इक और सबै जग जाउ भलै॥

(अंत में गाने को)

[बिहाग—श्लोक के अर्थ के अनुसार]

हरौ हरि-रूप सबै जग-बाधा।
जा सरूप सों धरनि उधारी निज जन कारज साधा॥
जिमि तव दाढ़ अग्र लै राखो महि हति असुर गिरायो।
कनक-दृष्टि म्लेच्छन हूँ तिमि किन अब लौं मारि नसायो॥

आरज राज रूप तुम तासों माँगत यह बरदाना।
प्रजा कुमुदगन चंद्र नृपति को करहु सकुल कल्याना॥

[बिहाग ठुमरी]

पूरी अमी की कटोरिया सी चिरजीयो सदा विकटोरिया रानी।
सूरज चंद प्रकास करैं जब लौं रहै सात हू सिंधु मैं पानी॥
राज करौ सुख सों तब लौं निज पुत्र औ पौत्र समेत सयानी।
पालौ प्रजागन कों सुख सों जग कीरति गान करैं गुन गानी॥

[कलिंगड़ा]

लहौ सुख सब बिधि भारतवासी।
विद्या कला जगत की सीखौ तजि आलस की फाँसी॥
अपनो देस धरम कुल समुझहु छोड़ि वृत्ति निज दासी।
उद्यम करिकै होहु एकमति निज बल बुद्धि प्रकासी॥
पंचपीर की भगति छोड़ि कै ह्वै हरिचरन उपासी।
जग के और नरन सम होऊ होउ सबै गुनरासी॥

———

उपसंहार (ख)

इस नाटक के विषय में विलसन साहिब लिखते हैं कि यह नाटक और नाटकों से अति विचित्र है, क्योंकि इसमें संपूर्ण राजनीति के व्यवहारों का वर्णन है। चंद्रगुप्त (जो यूनानी लोगों का सैंड्रोकोत्तस Sandrocottus है) और पाटलिपुत्र (जो यूरपकी पालीबोत्तरा Palibothra है) के वर्णन का ऐतिहासिक नाटक होने के कारण यह विशेष दृष्टि देने के योग्य है।

इस नाटक का कवि विशाखदत्त, महाराज पृथु का पुत्र और सामंत वटेश्वरदत्त का पौत्र था। इस लिखने से अनुमान होता है कि दिल्ली के अंतिम हिंदूराजा पृथ्वीराज चौहान ही का पुत्र विशाखदत्त है, क्योंकि अंतिम श्लोक से विदेशी शत्रु की जय की ध्वनि पाई जाती है, भेद इतना ही है कि रायसे में पृथ्वीराज के पिता का नाम सोमेश्वर और दादा का आनंद लिखा है। मैं यह अनुमान करता हूँ कि सामंत वटेश्वर इतने बड़े नाम को कोई शीघ्रता में या लघु करके कहे तो सोमेश्वर हो सकता है और संभव है कि चंद ने भाषा में सामंत वटेश्वर को ही सोमेश्वर लिखा हो।

मेजर विल्फर्ड ने मुद्राराक्षस के कवि का नाम गोदावरी-तीर निवासी अनंत लिखा है, किंतु यह केवल भ्रममात्र है। जितनी प्राचीन पुस्तकें उत्तर वा दक्षिण में मिलीं, किसी में अनंत का नाम नहीं मिला है।

इस नाटक पर वटेश्वर मैथिल पंडित की एक टीका भी है। कहते हैं कि गुहसेन नामक किसी अपर पंडित की भी एक टीका है, किंतु देखने में नहीं आई। महाराज तंजौर के पुस्तकालय में व्यासराज यज्वा की एक टीका और है।

चंद्रगुप्त * की कथा विष्णुपुराण, भागवत आदि पुराणों में और बृहत्कथा में वर्णित है। कहते हैं कि विकटपल्ली के राजा चंद्रहास का उपाख्यान लोगों ने इन्हीं कथाओं से निकाल लिया है।

महानंद अथवा महापद्मनंद भी शूद्रा के गर्भ से था, और कहते हैं कि चंद्रगुप्त इसकी एक नाइन स्त्री के पेट से पैदा हुआ था। यह पूर्वपीठिका में लिख आए हैं कि इन लोगों की राजधानी पाटलिपुत्र थी। इस पाटलिपुत्र (पटने) के विषय में यहाँ कुछ लिखना अवश्य हुआ। सूर्यवंशी सुदर्शन† राजा की पुत्री पाटली ने पूर्व में इस नगर को बनाया। कहते हैं कि कन्या को वंध्यापन के दुःख और दुर्नाम से छुड़ाने को राजा ने एक नगर बसाकर उसका नाम पाटलिपुत्र रख दिया था। वायुपुराण में "जरासंध के पूर्वपुरुष वसु राजा ने बिहार प्रांत का राज्य संस्थापन किया" यह लिखा है। कोई कहते हैं कि "वेदों में जिस वसु के यज्ञों का वर्णन है वही राज्यगिरि राज्य का संस्थापक है।" जो लोग चरणाद्रि को राज्यगृह का पर्वत बतलाते हैं उनको

---

* प्रियदर्शी, प्रियदर्शन, चंद्र, चंद्रगुप्त, श्रीचंद्र, चंद्रश्री, मौर्य यह सब चंद्रगुप्त के नाम हैं; और चाणक्य, विष्णुगुप्त, द्रोमिल वा द्रोहिण, अंशुल, कौटिल्य यह सब चाणक्य के नाम हैं।

† सुदर्शन, सहस्रबाहु अर्जुन का भी नामांतर था, किसी किसी ने भ्रम से पाटली को शूद्रक की कन्या लिखा है।

केवल भ्रम है। इस राज्य का प्रारंभ चाहे जिस तरह हुआ हो पर जरासंध ही के समय से यह प्रख्यात हुआ। मार्टिन साहब ने जरासंध ही के विषय में एक अपूर्व कथा लिखी है। वह कहते हैं कि जरासंध दो पहाड़ियों पर दो पैर रखकर द्वारका में जब स्त्रियाँ नहाती थीं तो ऊँचा होकर उनको घूरता था। इसी अपराध पर श्रीकृष्ण ने उसको मरवा डाला।

मगध शब्द मग से बना है। कहते हैं कि "श्रीकृष्ण के पुत्र सांब ने शाकद्वीप से मग जाति के ब्राह्मणों को अनुष्ठान करने को बुलाया था और वे जिस देश में बसे उसकी मगध संज्ञा हुई।" जिन अँगरेज विद्वानों ने 'मगध देश' शब्द को मद्ध (मध्यदेश) का अपभ्रंश माना है उन्हें शुद्ध भ्रम हो गया है जैसा कि मेजर विल्फर्ड पाली-बोत्रा को राजमहल के पास गंगा और कोसी के संगम पर बतलाते और पटने का शुद्ध नाम पद्मावती कहते हैं। यों तो पाली इस नाम के कई शहर हिंदुस्तान में प्रसिद्ध हैं किन्तु पालीबोत्रा पाटलिपुत्र ही है। सोन के किनारे मावलीपुर एक स्थान है जिसका शुद्ध नाम महाबलीपुर है। महाबली नंद का नामांतर भी है, इसी से और वहाँ प्राचीन चिह्न मिलने से कोई-कोई शंका करते हैं कि बलीपुर वा बलीपुत्र का पालीबोत्रा अपभ्रंश है, किंतु यह भी भ्रम ही है। राजाओं के नाम से अनेक ग्राम बसते हैं इसमें कोई हानि नहीं, किंतु इन लोगों की राजधानी पाटलिपुत्र ही थी।

कुछ विद्वानों का मत है कि मग लोग मिश्र से आए और यहाँ आकर Isiris और Osiris नामक देव और देवी की पूजा प्रचलित की। यह दोनों शब्द ईश और ईश्वरी के अपभ्रंश बोध होते हैं। किसी पुराण में "महाराज दशरथ ने शाक-द्वीपियों को बुलाया" यह लिखा है। इस देस में पहले कोल और चेरु (चोल) लोग बहुत रहते थे। शुनक और अजक इस वंश में

प्रसिद्ध हुए। कहते हैं कि ब्राह्मणों ने लड़कर इन दोनों को निकाल दिया। इसी इतिहास से भुइँहार जाति का भी सूत्रपात होता है और जरासंध के यज्ञ से भुइँहारों की उत्पत्तिवाली किंवदंती इसका पोषण करती है। बहुत दिन तक ये युद्धप्रिय ब्राह्मण यहाँ राज्य करते रहे। किंतु एक जैन पंडित, जो ८०० वर्ष ईसामसीह के पूर्व हुआ है, लिखता है कि इस देश के प्राचीन राजा को मग नामक राजा ने जीतकर निकाल दिया। कहते हैं कि बिहार के पास बारागंज में इसके किले का चिह्न भी है। यूनानी विद्वानों और वायु पुराण के मत से उदयाश्व ने मगधराज संस्थापन किया। इसका समय ५०० ई० पू० बतलाते हैं और चंद्रगुप्त को इससे तेरहवाँ राजा मानते हैं। यूनानी लोगों ने सोन का नाम Erannobaos (इरन्नोबा-ओस) लिखा है, यह शब्द हिरण्यवाह का अपभ्रंश है। हिरण्यवाह, स्वर्णनद और शोण का अपभ्रंश सोन है। मेगस्थनीज अपने लेख में पटने के नगर को ८० स्टेडिया (आठ मील) लंबा और १५ चौड़ा लिखता है, जिससे स्पष्ट होता है कि पटना पूर्वकाल ही से लंबा नगर है*। उसने उस समय नगर के चारों ओर ३० फुट गहरी खाई, फिर ऊँची दीवार और उसमें ५७० बुर्ज और ६४ फाटक लिखे हैं। यूनानी लोग जो इस देश को (Prassi) प्रास्सि कहते हैं वह

* जिस पटने का वर्णन उस काल के यूनानियों ने उस समय इस धूम से किया है उसकी वर्त्तमान स्थिति यह है। पटने का जिला २४° ५८′ से ५° ४२′ लैटि० और ८४° ४४′ से ८६° ०५′ लौंगि० पृथ्वी २१०१ मील समचतुष्कोण १५५९६३८ मनुष्य-संख्या। पटने की सीमा उत्तर गंगा, पश्चिम सोन, पूर्व मुँगेर का जिला और दक्षिण गया का जिला। नगर की बस्ती अब सवा तीन लाख मनुष्य और बावन हजार घर हैं।

पलाशी का अपभ्रंश बोध होता है, क्योंकि जैनग्रंथों में उस भूमि के पलाशवृक्ष से आच्छादित होने का वर्णन देखा गया है।

जैन और बौद्धों से इस देश से और भी अनेक संबंध हैं। मसीह के छः सौ बरस पहले बुद्ध पहले पहल राजगृह ही में उदास होकर चले गए थे। उस समय इस देश की बड़ी समृद्धि लिखी है और राजा का नाम विंबिसार लिखा है। (जैन लोग अपने बीसवें तीर्थंकर सुव्रत स्वामी का राजगृह में कल्याणक भी मानते हैं)। विंबिसार ने राजधानी के पास ही इनके रहने को कलंद नामक विहार भी बना दिया था। फिर अजातशत्रु और अशोक के समय में भी बहुत से स्तूप बने। बौद्धों के बड़े-बड़े धर्मसमाज इस देश में हुए। उस काल में हिंदू लोग इस बौद्ध धर्म के अत्यंत विद्वेषी थे। क्या आश्चर्य है कि बुद्धों के द्वेष ही से मगध देश को इन लोगों ने अपवित्र ठहराया हो और गौतम की निंदा ही के हेतु अहल्या की कथा बनाई हो।

भारत-नक्षत्र नक्षत्री राजा शिवप्रसाद साहब ने अपने इति-हास-तिमिरनाशक के तीसरे भाग में इस समय और देश के विषय में जो लिखा है वह हम पीछे प्रकाशित करते हैं। इससे बहुत सी बातें उस समय की स्पष्ट हो जायँगी।

साढ़े आठ लाख मन के लगभग बाहर से प्रति वर्ष यहाँ माल आता और पाँच लाख मन के लगभग जाता है। हिंदुओं में छः जातियाँ यहाँ विशेष हैं। यथा एक लाख अस्सी हजार ग्वाला, एक लाख सत्तर हजार कुनबी, एक लाख सत्रह हजार भुइँहार, पचासी हजार चमार, अस्सी हजार कोइरी और आठ हजार राजपूत। अब दो लाख के आसपास मुसलमान पटने के जिले में बसते हैं।

प्रसिद्ध यात्री हिश्रानसांग सन् ६३७ ई० में जब भारत-वर्ष में आया था तब मगध देश हर्षवर्द्धन नामक कन्नौज के राजा के अधिकार में था। किंतु दूसरे इतिहास-लेखक सन् २०० से ४०० तक बौद्ध कर्णवंशी राजाओं को मगध का राजा बतलाते हैं और अंध्रवंश का भी राज्यचिह्न संभलपुर में दिखलाते हैं।

सन् १२१२ ई० में पहले इस देश में मुसलमानों का राज्य हुआ। उस समय पटना बनारस के बंदावत राजपूत राजा इंद्रदमन के अधिकार में था। सन् १२२५ में अलतिमश ने गयासुद्दीन को मगध प्रांत का स्वतंत्र सूबेदार नियत किया। इसके थोड़े ही काल पीछे फिर हिंदू लोग स्वतंत्र हो गए। फिर मुसलमानों ने लड़कर अधिकार किया सही, किंतु झगड़ा नित्य होता रहा, यहाँ तक कि सन् १३१३ में हिंदू लोग स्वतंत्र रूप में फिर यहाँ के राजा हो गए और तीसरे महमूद की बड़ी भारी हार हुई। यह दो सौ बरस का समय भारतवर्ष का पैलेस्टाइन का समय था। इस समय में गया के उद्धार के हेतु कई महाराणा उदयपुर के देश को छोड़कर लड़ने आए*। ये और पंजाब से लेकर गुजरात दक्षिण तक के हिंदू मगध देश में जाकर प्राणत्याग करना बड़ा पुण्य समझते थे। प्रजा-

*गया के भूगोल में पंडित शिवनारायण त्रिवेदी भी लिखते हैं—"औरंगाबाद से तीन कोस अग्निकोण पर देव बड़ी भारी बस्ती है। यहाँ श्रीभगवान् सूर्य्यनारायण का बड़ा भारी संगीन पश्चिम रुख का मंदिर है। यह मंदिर देखने से बहुत प्राचीन जान पड़ता है। यहाँ कातिक और चैत की छठ को बड़ा मेला लगता है। दूर दूर के लोग यहाँ आते और अपने लड़कों के मुंडन-छेदन आदि की मनौती उतारते हैं। मंदिर

पाल नामक एक राजा ने सन् १४०० के लगभग बीस बरस मगध देश को स्वतंत्र रखा। किंतु आश्चर्यमत्सरी दैव ने यह स्वतंत्रता स्थिर नहीं रखी और पुण्यधाम गया फिर मुसल्मानों के अधिकार में चला गया। सन् १४७८ तक यह प्रदेश जौनपुर के बादशाह के अधिकार में रहा। फिर बहलूलवंश ने इसको जीत लिया था, किंतु १४६१ में हुसेनशाह ने फिर जीत लिया। इसके पीछे बंगाल के पठानों से और जौनपुर-वालों से कई लड़ाई हुई और सन् १४६४ में दोनों राज्य में एक सुलहनामा हो गया। इसके पीछे सूर लोगों का अधिकार हुआ और शेरशाह ने बिहार छोड़कर पटने को राजधानी

से थोड़ी दूर दक्खिन बाजार के पूरब ओर सूर्य्यकुंड का तालाब है। इस तालाब से सटा हुआ और एक कच्चा तालाब है उसमें कमल बहुत फूलते हैं। देव राजधानी है। यहाँ के राजा महराजा उदयपुर के घराने के मड़ियार राजपूत हैं। इस घराने के लोग सिपाहगरी के काम में बहुत प्रसिद्ध होते आए हैं। यहाँ के महाराज श्रीजयप्रकाशसिंह के० सी० एस० आई० बड़े शूर सुशील और उदार मनुष्य थे। यहाँ से दो कोस दक्खिन कंचनपुर में राजा साहिब का बाग और मकान देखने लायक बना है। देव से तीन कोस पूरब उमगा एक छोटी सी बस्ती है, उसके पास पहाड़ के ऊपर देव के सूर्य्यमंदिर के ढँग का एक महादेव का मंदिर है। पहाड़ के नीचे एक टूटा गढ़ भी देख पड़ता है। जान पड़ता है कि पहले राजा देव के घराने के लोग यहाँ ही रहते थे, पीछे देव में बसे। देव और उमगा दोनों इन्हीं की राजधानी थी, इससे दोनों नाम साथ ही बोले जाते हैं (देवमूँगा)। तिल-संक्रांति को उमगा में बड़ा मेला लगता है।" इससे स्पष्ट हुआ कि उदयपुर से जो राणा लोग आए उन्हीं के खानदान में देव के राजपूत हैं। और बिहारदर्प्पण से भी यह बात पाई जाती है कि, मड़ियार लोग मेवाड़ से आए हैं।

किया। सूरों के पीछे कमान्वय से (१५७५ ई०) यह देश मुगलों के अधीन हुआ और अंत में जरासंध और चंद्रगुप्त की राजधानी पवित्र पाटलिपुत्र ने आर्य वेश और आर्य नाम परित्याग करके औरंगजेब के पोते अजीमशाह के नाम पर अपना नाम अजीमाबाद प्रसिद्ध किया। (१६९७ ई०) बंगाले के सूबेदारों में सबसे पहले सिराजुद्दौला ने अपने को स्वतंत्र समझा था किंतु १७५७ ई० को पलासी की लड़ाई में मीर जाफर अंगरेजों के बल से बिहार, बंगाल और उड़ीसा का अधिनायक हुआ। किंतु अंत में जगद्विजयी अँगरेजों ने सन् १७६३ में पूर्व में पटना पर अधिकार करके दूसरे बरस बकसर की प्रसिद्ध लड़ाई जीतकर स्वतंत्र रूप से सिंहचिह्न की ध्वजा की छाया के नीचे इस देश के प्रांत मात्र को हिंदोस्तान के मानचित्र में लाल रंग से स्थापित कर दिया।

जस्टिन (Justin) कहता है[1]—संद्रकुत्तम महापराक्रमी था। असंख्य सैन्य संग्रह करके विरुद्ध लोगों का इसने सामना किया था। डियोडोरस सिक्यूलस (Deodorus Siculus) कहता है[2]—प्राच्य देश के राजा ज़ंद्रमा के पास २०००० अश्व, २०००० पदाति, २००० रथ और ४००० हाथी थे। यद्यपि यह Xandramas शब्द चंद्रमा का अपभ्रंश है, किंतु कई भ्रांत यूनानियों ने नंद को भी इसी नाम से लिखा है। क्विंतस करशिअस (Quintus Curtius) लिखता है[3]—चंद्रमा के क्षौरकार पिता ने पहले मगधराज को

(1) Justin His. Phellipp. Lib. XV Chap. IV.
(2) Deodorus Siculus XVII. 93.
(3) Quintus Curtius IX. 2.

फिर उसके पुत्रों को नाश करके रानी के गर्भ में अपने उत्पन्न किए हुए पुत्र को गद्दी पर बैठाया। स्ट्राबो (Strabo) कहता है[४]—सेल्यूकस ने मेगास्थनीज को संद्रकुत्तस के निकट भेजा और अपना भारतवर्षीय समस्त राज्य देकर उससे संधि कर ली। आरियन (Orriun) लिखता है[५]—मेगास्थनीज अनेक बार सन्द्रकुत्तस की सभा में गया था। प्लूटार्क (Plutarch) ने चंद्रगुप्त को दो लक्ष सेना का नायक लिखा है[६]। इन सब लेखों को पौराणिक वर्णनों से मिलाने से यद्यपि सिद्ध होता है कि सिकंदरकृत पुरु-पराजय के पीछे मगधराज मंत्री द्वारा निहत हुए और उनके लड़के भी उसी गति को पहुँचे और उसके पीछे चंद्रगुप्त राजा हुआ; किंतु बहुत से यूनानी लेखकों ने चंद्रगुप्त को पट्टरानी के गर्भ में क्षौरकार से उत्पन्न लिखकर व्यर्थ अपने को भ्रम में डाला है। चंद्रगुप्त क्षत्रियवीर्य से दासी में उत्पन्न था यह सर्व साधारण का सिद्धांत है।[७] इस क्रम से ३२७ ई० पू० में नंद का मरण और ३१४ ई० पू० में चंद्रगुप्त का अभिषेक निश्चय होता है। पारस देश की कुमारी के गर्भ से सिल्यूकस को जो एक अति सुंदर कन्या हुई थी वही चंद्रगुप्त को दी गई। ३०२ ई० पू० में यह संधि और विवाह हुआ, इसी कारण अनेक

(4) Strado XV. 2. 9.
(5) Orriun Indica X. 5.
(6) Plutarch Vita Alexandri O. 62.

(७) टाड आदि कई लोगों का अनुमान है कि मोरी वंश के चौहान जो बापाराव के पूर्व चित्तौर के राजा थे वे भी मौर्य्य थे। क्या चंद्रगुप्त चौहान था? या ये मोरा सब शूद्र थे?

यवनसेना चंद्रगुप्त के पास रहती थी। २९२ ई० पू० में चंद्रगुप्त २४ बरस राज्य करके मरा।

चंद्रगुप्त के इस मगधराज को आइनेअकबरी में मकता लिखा है। डिग्विग्नेस (Deguignes) कहता है कि चीनी मगध देश को मकियात कहते हैं। केंफर (Kemfer) लिखता है कि जापानी लोग उसको मगत् कफ कहते हैं। (कफ शब्द जापानी में देशवाची है।) प्राचीन फारसी लेखकों ने इस देश का नाम मावाद वा मुवाद लिखा है। मगधराज में अनुगांग प्रदेश मिलने ही से तिब्बतवाले इस देश को अनुखेक वा अनोनखेक कहते हैं; और तातारवाले इस देश को एनाकाक लिखते हैं।

सिसली डिउडोरस ने लिखा है कि मगधराजधानी पाली-पुत्र भारतवर्षीय हर्क्यूलस (हरिकुल) देवता-द्वारा स्थापित हुई। सिसिरो ने हर्क्यूलस (हरिकुल) देवता का नामांतर बेलस (बलः) लिखा है। बल शब्द बलदेवजी का बोध करता है और इन्हीं का नामांतर बली भी है। कहते हैं कि निज पुत्र अंगद के निमित्त बलदेवजी ने यह पुरी निर्माण की, इसी से बलीपुत्रपुरी इसका नाम हुआ। इसी से पालीपुत्र और फिर पाटलीपुत्र हो गया। पाली भाषा, पाली धर्म, पाली देश इत्यादि शब्द भी इसी से निकले हैं। कहते हैं कि बाणासुर के बसाए हुए जहाँ तीन पुर थे उन्हीं को जीतकर बलदेवजी ने अपने पुत्रों के हेतु पुर निर्माण किए। यह तीनों नगर महाबलीपुर इस नाम से एक मद्रास हाते में, एक विदर्भदेश में (मुजफ्फरपुर वर्त्तमान नाम) और एक (राजमहल वर्त्तमान नाम से) बंगदेश में है। कोई-कोई बालेश्वर, मैसूर, पुरनियाँ प्रभृति को भी

बाणासुर की राजधानी बतलाते हैं। यहाँ एक बात बड़ी विचित्र प्रकट होती है। बाणासुर भी बलीपुत्र है। क्या आश्चर्य है कि पहले उसी के नाम से बलीपुत्र शब्द निकला हो। कोई नंद ही का नामांतर महाबली कहते हैं और कहते हैं कि पूर्व में गंगाजी के किनारे नंद ने केवल एक महल बनाया था, उसके चारों ओर लोग धीरे-धीरे बसने लगे और फिर यह पत्तन (पटना) हो गया। कोई महाबली के पितामह उदसी, उदासी, उदँय, श्रीउदयसिंह (?) ने ४५० ई० पू० इसको बसाया मानते हैं। कोई पाटली देवी के कारण पाटलिपुत्र मानते हैं।

विष्णुपुराण और भागवत में महापद्म के बड़े लड़के का नाम सुमाल्य लिखा है। बृहत्कथा में लिखते हैं कि शकटाल ने इंद्रदत्त का शरीर जला दिया इससे योगानंद (अर्थात् नंद के शरीर में इंद्रदत्त की आत्म) फिर राजा हुआ। व्याड़ि जाने के समय शकटाल को नाश करने का मंत्र दे गया था। वररुचि मंत्री हुआ किंतु योगानंद ने मदमत्त होकर उसका नाश करना चाहा इससे वह शकटाल के घर में छिपा। उसकी स्त्री उपकोशा पति को मृत समझकर सती हो गई। योगानंद के पुत्र हिरण्यगुप्त के पागल होने पर वररुचि फिर राजा के पास गया था, किंतु फिर तपोवन में चला गया। फिर शकटाल के कौशल से चाणक्य नंद के नाश का कारण हुआ। उसी समय शकटाल ने हिरण्यगुप्त जो कि योगानंद का पुत्र था उसको मार कर चंद्रगुप्त को जो कि असली नंद का पुत्र था, गद्दी पर बैठाया।

ढुंढिराज पंडित लिखते हैं कि सर्वार्थसिद्धि नंदों में मुख्य था। इसकी दो स्त्रियाँ थीं। सुनंदा बड़ी थी और दूसरी शूद्रा थी,

उसका नाम मुरा था। एक दिन राजा दोनों रानियों के साथ एक ऋषि के यहाँ गया और ऋषिकृत मार्जन के समय सुनंदा पर नौ और मुरा पर एक छींट पानी की पड़ी। मुरा ने ऐसी भक्ति से उस जल का ग्रहण किया कि ऋषि ने प्रसन्न होकर वरदान दिया। सुनंदा को एक मांसपिंड और मुरा को मौर्य उत्पन्न हुआ। राक्षस ने मांसपिंड काटकर नौ टुकड़े किया, जिससे नौ लड़के हुए। मौर्य को सौ लड़के थे, जिसमें चंद्रगुप्त सबसे बड़ा बुद्धिमान् था। सर्वार्थसिद्धि ने नंदों को राज्य दिया और आप तपस्या करने लगा। नंदों ने ईर्षा से मौर्य और उसके लड़कों को मार डाला, किंतु चंद्रगुप्त चाणक्य ब्राह्मण के पुत्र विष्णुगुप्त की सहायता से नंदों को नाश करके राजा हुआ।

योंही भिन्न-भिन्न कवियों और विद्वानों ने भिन्न-भिन्न कथाएँ लिखी हैं। किंतु सबका मूल का सिद्धांत पास-पास एक ही आता है।

इतिहास-तिमिरनाशक में इस विषय में जो कुछ लिखा है वह नीचे प्रकाश किया जाता है।

बिंबिसार को उसके लड़के अजातशत्रु ने मार डाला। मालूम होता है कि यह फसाद ब्राह्मणों ने उठाया। अजातशत्रु बौद्ध मत का शत्रु था। शाक्यमुनि गौतम बुद्ध श्रावस्ती में रहने लगा। यहाँ भी प्रसेनजित को उसके बेटे ने गद्दी से उठा दिया; शाक्यमुनि गौतम बुद्ध कपिलवस्तु में गया।

अजातशत्रु की दुश्मनी बौद्ध मत से धीरे-धीरे बहुत कम हो गई। शाक्यमुनि गौतम बुद्ध फिर मगध में गया। पटना उस समय एक गाँव था, वहाँ हरकारों की चौकी में ठहरा।

वहाँ से विशाली[1] में गया। विशाली की रानी एक वेश्या थी। वहाँ से पावा[2] गया, वहाँ से कुशीनार गया। बौद्धों के लिखने बमूजिब उसी जगह सन् ईसवी ५४३ बरस पहले ८० बरस की उमर में साल के वृक्ष के नीचे बाईं करवट लेटे हुए इसका निर्वाण[3] हुआ। काश्यप उसका जानशीन हुआ। अजातशत्रु के पीछे तीन राजा अपने बाप को मारकर मगध की गद्दी पर बैठे, यहाँ तक कि प्रजा ने घबराकर विशाली की वेश्या के बेटे शिशुनाग मंत्री को गद्दी पर बैठा दिया। यह बड़ा बुद्धिमान् था। इसके बेटे काल अशोक ने जिसका नाम ब्राह्मणों ने काकवर्ण भी लिखा है, पटना अपनी राजधानी बनाया।

जब सिकंदर का सेनापति बाबिल का बादशाह सिल्यूकस सूबेदारों के तदारुक को आया, पटने से सिंधु किनारे

---

[1] जैनी महावीर के समय विशाली अथवा विशाला का राजा चेटक* बतलाते हैं। यह जगह पटने के उत्तर तिरहुत में है; उजड़ गई है। वहाँ वाले अब उसे बसहर पुकारते हैं।

[2] जैनी यहाँ महावीर का निर्वाण बतलाते हैं, पर जिस जगह को अब पावापुर मानते हैं असल में वह नहीं है; पावा विशाली से पश्चिम और गंगा से उत्तर होने चाहिए।

[3] जैन अपने चौबीसवें अर्थात् सबसे पिछले तीर्थंकर महावीर का निर्वाण विक्रम के संवत् से ४७० बरस, अर्थात् सन् ईसवी से ५२७ बरस पहले बतलाते हैं और महावीर के निर्वाण से २५० बरस पहले अपने तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का निर्वाण मानते हैं।

---

*कैसे आश्चर्य की बात है, चेटक रंडी के भड़वे को भी कहते हैं। (हरिश्चंद्र

तक नंद के बेटे चंद्रगुप्त के अमल दखल में पाया, बड़ा बहादुर था, शेर ने इसका पसीना चाटा था और जंगली हाथी ने इसके सामने सिर झुका दिया था।

पुराणों में बिंबिसार को शिशुनाग के बेटे काकवर्ण का परपोता बतलाया है और नंदिवर्द्धन को बिंबिसार के बेटे अजातशत्रु का परपोता; और कहा है कि नंदिवर्द्धन का बेटा महानन्द और महानंद का बेटा शूद्री से महापद्मनंद और इसी महापद्मनंद और उसके आठ लड़कों के बाद, जिन्हें नवनंद कहते हैं, चंद्रगुप्त मौर्य गद्दी पर बैठा। बौद्ध कहते हैं कि तक्षशिला के रहनेवाले चाणक्य ब्राह्मण ने धननंद को मार के चंद्रगुप्त को राजसिंहासन पर बैठाया और वह मोरिया नगर के राजा का लड़का था और उसी जाति का था जिसमें शाक्यमुनि गौतम बुद्ध पैदा हुआ।

मेगास्थनीज लिखता है कि पहाड़ों में शिव और मैदान में विष्णु पुजाते हैं। पुजारी अपने बदन रँग[1] कर और सिर में फूलों की माला लपेट कर घंटा और झांझ बजाते हैं। एक वर्ण का आदमी दूसरे वर्ण की स्त्री ब्याह नहीं सकता है और पेशा भी दूसरे का इख्तियार नहीं कर सकता है। हिंदू घुटने तक जामा पहनते हैं और सिर और कंधों पर कपड़ा[2] रखते हैं। जूते उनके रंग बरंग के चमकदार और कारचोबी के होते हैं। बदन पर अकसर गहने, भौं मिहदी से रँगते हैं और दाढ़ी मूछ पर खिजाब करते हैं। छतरी, सिवाय बड़े आदमियों के, और कोई नहीं लगा सकता। रथों में लड़ाई के समय घोड़े

[1] चंदन इत्यादि लगाकर।

[2] अर्थात् पगड़ी दुपट्टा।

और मंजिल काटने के लिए बैल जोते जाते हैं। हाथियों पर भारी जर्दोजी झूल डालते हैं। सड़कों की मरम्मत होती है, पुलिस का अच्छा इंतिजाम है। चंद्रगुप्त के लश्कर में औसत चोरी तीस रुपये रोज से जियादा नहीं सुनी जाती है। राजा जमीन की पैदावार से चौथाई लेता है।

चंद्रगुप्त सन् ई० के ९१ बरस पहले मरा। उसके बेटे बिंदुसार के पास (यूनानी एलची दयोमेकस Diamachos) आया था परन्तु वायुपुराण में उसका भद्रसार और भागवत में वारिसार और मत्स्यपुराण में शायद् बृहद्रथ लिखा है। केवल विष्णुपुराण बौद्ध ग्रंथों के साथ बिंदुसार बतलाता है। उसके १६ रानी थीं और उनसे १०१ लड़के, उनमें अशोक[1] जो पीछे से "धर्म्मअशोक" कहलाया, बहुत तेज था, उज्जेन का नाजिम था। वहां के एक सेठ[2] की लड़की देवी उससे ब्याही थी, उसी से महेंद्र लड़का और संघमिता (जिसे सुमित्रा भी कहते हैं) लड़की हुई थी।

---

१ जैनियों के ग्रंथों में इसी का नाम अशोक भी लिखा है।

२ सेठ श्रेष्ठी का अपभ्रंश है, अर्थात् जो सब से बड़ा हो।

भारतदुर्दशा

नाट्यरासक वा लास्य रूपक

संवत् १९३७

भारतदुर्दशा

(मंगलाचरण)

जय सतजुग-थापन-करन, नासन म्लेच्छ-आचार।
कठिन धार तरवार कर, कृष्ण कल्कि अवतार॥

पहिला अंक

स्थान—बीथी

(एक योगी गाता है)

(लावनी)

रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई॥ ध्रुव॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥
सबके पहिले जो रूप-रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो॥
अब सब के पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई॥
जहँ भए शाक्य हरिचंदरु नहुष ययाती।
जहँ राम युधिष्ठिर बासुदेव सर्याती॥

जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती।
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या-राती॥
अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुःख दिखाई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई॥
लरि बैदिक जैन डुबाई पुस्तक सारी।
करि कलह बुलाई जवनसैन पुनि भारी॥
तिन नासी बुधि बल विद्या धन बहु बारी।
छाई अब आलस-कुमति-कलह-अँधियारी॥
भए अंध पंगु सब दीन हीन बिलखाई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई॥
अँगरेजराज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै महँगी काल रोग बिस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई॥

(पटोत्तोलन)

दूसरा अंक

स्थान--श्मशान, टूटे-फूटे मंदिर

कौआ, कुत्ता, स्यार घूमते हुए अस्थि इधर-उधर पड़ी है।

(भारत[1] का प्रवेश)

भारत—हा ! यह वह भूमि है जहाँ साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णचंद्र के दूतत्व करने पर भी वीरोत्तम दुर्योधन ने कहा था "सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव" और आज हम उसी भूमि को देखते हैं कि श्मशान हो रही है। अरे यहाँ की योग्यता, विद्या, सभ्यता, उद्योग, उदारता, धन, बल, मान, दृढ़चित्तता, सत्य सब कहाँ गए ? अरे पामर जयचंद्र ! तेरे उत्पन्न हुए बिना मेरा क्या डूबा जाता था ? हाय ! अब मुझे कोई शरण देने वाला नहीं। (रोता है) मातः, राजराजेश्वरि, विजयिनि ! मुझे बचाओ। अपनाए की लाज रक्खो। अरे दैव ने सब कुछ मेरा नाश कर दिया पर अभी संतुष्ट नहीं हुआ। हाय ! मैंने जाना था कि अंगरेजों के हाथ में आकर हम अपने दुखी मन को पुस्तकों से बहलावेंगे और सुख मानकर जन्म बितावेंगे पर दैव से वह भी न सहा गया। हाय ! कोई बचानेवाला नहीं।

---

1 फटे कपड़े पहिने, सिर पर अर्द्ध किरीट, हाथ में टेकने की छड़ी शिथिल अंग।

(गीत)

कोऊ नहिं पकरत मेरो हाथ।
बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हा हा होय अनाथ॥
जाकी सरन गहत सोई मारत सुनत न कोउ दुखगाथ।
दीन बन्यौ इत सों उत डोलत टकरावत निज माथ॥
दिन-दिन बिपति बढ़त सुख छीजत देत कोऊ नहिं साथ।
सब बिधि दुख सागर मैं डूबत धाइ उबारौ नाथ॥

(नेपथ्य में गंभीर और कठोर स्वर से)

अब भी तुझको अपने नाथ का भरोसा है! खड़ा तो रह। अभी मैंने तेरी आशा की जड़ न खोद डाली तो मेरा नाम नहीं।

भारत—(डरता और काँपता हुआ रोकर) अरे यह विकराल-वदन कौन मुँह बाए मेरी ओर दौड़ता चला आता है? हाय-हाय इससे कैसे बचेंगे! अरे यह तो मेरा एक ही कौर कर जायगा। हाय! परमेश्वर बैकुंठ में और राज-राजेश्वरी सात समुद्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी? हाय अब मेरे प्राण कौन बचावेगा? अब कोई उपाय नहीं। अब मरा, अब मरा। (मूर्छा खाकर गिरता है)

(निर्लज्जता [1] आती है)

निर्लज्जता—मेरे आछत तुमको अपने प्राण की फिक्र। छिः छिः! जीओगे तो भीख माँग खाओगे। प्राण देना तो कायरों

---

[1] जाँघिया—सिर खुला—ऊँची चोली—दुपट्टा ऐसा गिरता पड़ता कि अंग खुले, सिर खुला, खानगियों का सा वेष।

का काम है। क्या हुआ जो धन-मान सब गया "एक जिंदगी हजार नेआमत है।" (देखकर) अरे सचमुच बेहोश हो गया तो उठा ले चलें। नहीं-नहीं, मुझसे अकेले न उठेगा। (नेपथ्य की ओर) आशा! आशा! जल्दी आओ।

(आशा[1] आती है)

निर्लज्जता—यह देखो भारत मरता है, जल्दी इसे घर उठा ले चलो।

आशा—मेरे आछत किसी ने भी प्राण दिया है? ले चलो, अभी जिलाती हूँ।

(दोनों उठाकर भारत को ले जाती हैं)

---

1 लड़की के वेष में।

तीसरा अंक

स्थान—मैदान

(फौज के डेरे दिखाई पड़ते हैं। भारतदुर्दैव[1] आता है)

भारतदु०—कहाँ गया भारत मूर्ख ! जिसको अब भी परमेश्वर और राजराजेश्वरी का भरोसा है ? देखो तो अभी इसकी क्या-क्या दुर्दशा होती है।

(नाचता और गाता हुआ)

अरे !
उपजा ईश्वर कोप से, औ आया भारत बीच।
छार-खार सब हिंद करूँ मैं, तो उत्तम नहिं नीच॥
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी॥
कौड़ी-कौड़ी को करूँ, मैं सब को मुहताज।
भूखे प्रान निकालूँ इनका, तो मैं सच्चा राज॥ मुझे०
काल भी लाऊँ महँगी लाऊँ, और बुलाऊ रोग।
पानी उलटा कर बरसाऊँ, छाऊँ जग में सोग॥ मुझे०
फूट बैर औ कलह बुलाऊँ, ल्याऊँ सुस्ती जोर।
घर-घर में आलस फैलाऊँ, छाऊँ दुख घनघोर॥ मुझे०
काफिर काला नीच पुकारूँ, तोड़ूँ पैर औ हाथ।
दूँ इनको संतोष खुशामद, कायरता भी साथ॥ मुझे०

---

[1] क्रूर, आधा क्रिस्तानी आधा मुसलमानी वेष, हाथ में नंगी तलवार लिए।

मरी बुलाऊँ देस उजाड़ूँ, महँगा करके अन्न।
सबके ऊपर टिकस लगाऊँ, धन है मुझको धन्न॥
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी॥

(नाचता है)

अब भारत कहाँ जाता है, ले लिया है। एक तस्सा बाकी है, अब की हाथ में वह भी साफ है! भला हमारे बिना और ऐसा कौन कर सकता है कि अँगरेजी अमलदारी में भी हिंदू न सुधरें! लिया भी तो अँगरेजों से औगुन! हहाहा! कुछ पढ़े-लिखे मिलकर देश सुधारा चाहते हैं! हहा हाहा! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुकम दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब दो। हैं! हमारी पालिसी के विरुद्ध उद्योग करते हैं, मूर्ख! यह क्यों? मैं अपनी फौज ही भेजके न सब चौपट करता हूँ। (नेपथ्य की ओर देखकर) अरे कोई है? सत्यानाश फौजदार को तो भेजो।

(नेपथ्य में से "जो आज्ञा" का शब्द सुन पड़ता है)

देखो मैं क्या करता हूँ। किधर-किधर भागेंगे।

(सत्यानाश फौजदार आते हैं)

(नाचता हुआ)

सत्या०फौ०-हमारा नाम है सत्यानास। आए हैं राजा के हम पास॥
धरके हम लाखों ही भेस। किया चौपट यह सारा देस॥

बहुत हमने फैलाए धर्म । बढ़ाया छुआछूत का कर्म ॥
होके जयचंद हमने इक बार । खोल ही दिया हिंद का द्वार ॥
हलाकू चंगेजो तैमूर । हमारे अदना अदना सूर ॥
दुरानी अहमद नादिरसाह । फौज के मेरे तुच्छ सिपाह ॥
हैं हम में तीनो कल बल छल । इसी से कुछ नहिं सकती चल ॥
पिलावैंगे हम खूब शराब । करैंगे सबको आज खराब ॥

भारतदु०—अहा सत्यानाश जी आए । आओ, देखो अभी फौज को हुकम दो कि सब लोग मिलके चारों ओर से हिंदुस्तान को घेर लें । जो पहिले से घेरे हैं उनके सिवा औरों को भी आज्ञा दो कि बढ़ चलें ।

सत्या० फौ०—महाराज ! "इंद्रजीत सन जो कछु भाखा, सो सब जनु पहिलहिं करि राखा ।" जिनको आज्ञा हो चुकी है वे तो अपना काम कर ही चुके और जिसको जो हुकम हो, कह दिया जाय ।

भारत दु०—किसने किसने क्या क्या किया है ?

सत्या० फौ०—महाराज ! धर्म ने सबके पहिले सेवा की ।

रचि बहु बिधि के बाक्य पुरानन माँहि घुसाए ।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए ॥
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो ।
खान पान संबंध सबन सों बरजि छुड़ायो ॥
जन्मपत्र बिधि मिले ब्याह नहिं होन देत अब ।
बालकपन में ब्याहि प्रीति-बल नास कियो सब ॥
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मारयो ।
बिधवा-ब्याह निषेध कियो बिभिचार प्रचारयो ॥

रोकि विलायत-गमन कूपमंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो॥
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सों सब विमुख किए हिंदू घबराई॥

भारतदु०—आहा! हाहा! शाबाश! शाबाश! हां, और भी कुछ धर्म्म ने किया?

सत्या० फौ०—हां महाराज।

अपरस सोल्हा छूत रचि, भोजन-प्रीति छुड़ाय।
किए तीन तेरह सबै, चौका चौका लाय॥

भारतदु०—और भी कुछ?

सत्या०—फौ०—हां,

रचिकै मत वेदांत को, सबको ब्रह्म बनाय।
हिंदुन पुरुषोत्तम कियो, तोरि हाथ अरु पाय॥

महाराज, वेदांत ने बड़ा ही उपकार किया। सब हिंदू ब्रह्म हो गए। किसी को इतिकर्त्तव्यता बाकी ही न रही। ज्ञानी बनकर ईश्वर से विमुख हुए, रुक्ष हुए, अभिमानी हुए और इसी से स्नेहशून्य हो गए। जब स्नेह ही नहीं तब देशोद्धार का प्रयत्न कहां! बस, जय शंकर की।

भारतदु०—अच्छा, और किसने-किसने क्या किया?

सत्या० फौ०—महाराज, फिर संतोष ने भी बड़ा काम किया। राजा-प्रजा सबको अपना चेला बना लिया। अब हिंदुओं को खाने मात्र से काम, देश से कुछ काम नहीं। राज न रहा, पेनशन ही सही। रोजगार न रहा, सूद ही सही। वह भी नहीं, तो घर ही का सही, 'संतोषं परमं सुखं', रोटी ही को सराह-सराह के खाते हैं। उद्यम की ओर देखते

ही नहीं। निरुद्यमता ने भी संतोष को बड़ी सहायता दी। इन दोनों को बहादुरी का मेडल जरूर मिले। व्यापार को इन्हीं ने मार गिराया।

भारतदु०—और किसने क्या किया ?

सत्या० फौ०—फिर महाराज जो धन की सेना बची थी उसको जीतने को भी मैंने बड़े बांके वीर भेजे। अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफ़ारिश इन चारों ने सारी दुशमन की फौज तितिर बितिर कर दी। अपव्यय ने खूब लूट मचाई। अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किए। फैशन ने तो बिल और टोटल के इतने गोले मारे कि अंटाधार कर दिया और सिफारिश ने भी खूब ही छकाया। पूरब से पच्छिम और पच्छिम से पूरब तक पीछा करके खूब भगाया। तुहफे, घूस और चंदे के ऐसे बम के गोले चलाए कि "बम बोल गई बाबा की चारों दिसा" धूम निकल पड़ी। मोटा भाई बना-बनाकर मूँड़ लिया। एक तो खुद ही यह सब पँड़िया के ताऊ, उस पर चुटकी बजी, खुशामद हुई, डर दिखाया गया, बराबरी का झगड़ा उठा, धांय धांय गिनी गई*, वर्णमाला कंठ कराई†, बस हाथी के खाए कैथ हो गए। धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली।

भारतदु०—और भला कुछ लोग छिपाकर भी दुश्मनों की ओर भेजे थे ?

सत्या० फौ०—हाँ, सुनिए। फूट, डाह, लोभ, भय, उपेक्षा, स्वार्थपरता, पक्षपात, हठ, शोक, अश्रुमार्जन और निर्बलता

*सलामी मिली।

† सी० आई० ई० आदि उपाधियाँ मिलीं।

इन एक दरजन दूती और दूतों को शत्रुओं की फौज में हिला-मिलाकर ऐसा पंचामृत बनाया कि सारे शत्रु बिना मारे घंटा पर के गरुड़ हो गए। फिर अंत में भिन्नता गई। इसने ऐसा सबको काई की तरह फाड़ा कि भाषा, धर्म, चाल, व्यवहार, खाना, पीना सब एक-एक योजन पर अलग-अलग कर दिया। अब आवें बचा ऐक्य! देखें आ ही के क्या करते हैं!

भारतदु०—भला भारत का शस्य नामक फौजदार अभी जीता है कि मर गया? उसकी पलटन कैसी है?

सत्या० फौ०—महाराज! उसका बल तो आपकी अतिवृष्टि और अनावृष्टि नामक फौजों ने बिलकुल तोड़ दिया। लाही, कीड़े, टिड्डी और पाला इत्यादि सिपाहियों ने खूब ही सहायता की। बीच में नील ने भी नील बन कर अच्छा लंकादहन किया।

भारतदु०—वाह! वाह! बड़े आनंद की बात सुनाई। तो अच्छा तुम जाओ। कुछ परवाह नहीं, अब ले लिया है। बाकी साकी अभी सपराए डालता हूँ। अब भारत कहाँ जाता है। तुम होशियार रहना और रोग, महर्घ, कर, मद्य, आलस और अंधकार को जरा क्रम से मेरे पास भेज दो।

सत्या० फौ०—जो आज्ञा। [जाता है

भारतदु०—अब उसको कहीं शरण न मिलेगी। धन, बल और विद्या तीनों गईं। अब किसके बल कूदेगा?

(जवनिका गिरती है)

पटोत्तोलन

चौथा अंक

(कमरा अँगरेजी सजा हुआ, मेज, कुरसी लगी हुई।
कुरसी पर भारत दुर्दैव बैठा है)

(रोग का प्रवेश)

रोग—(गाता हुआ) जगत सब मानत मेरी आन।
मेरी ही टट्टी रचि खेलत नित सिकार भगवान ॥
मृत्यु कलंक मिटावत मैं ही मो सम और न आन।
परम पिता हमहीं वैद्यन के अत्तारन के प्रान ॥

मेरा प्रभाव जगत विदित है। कुपथ्य का मित्र और पथ्य का शत्रु मैं ही हूँ। त्रैलोक्य में ऐसा कौन है जिस पर मेरा प्रभुत्व नहीं। नजर, श्राप, भूत, प्रेत, टोना, टनमन, देवी-देवता सब मेरे ही नामांतर हैं। मेरी ही बदौलत ओझा, दरसनिए, सयाने, पंडित, सिद्ध लोगों को ठगते हैं। (आतंक से) भला मेरे प्रबल प्रताप को ऐसा कौन है जो निवारण करे। हह! चुंगी की कमेटी सफाई करके मेरा निवारण करनी चाहती है, यह नहीं जानती कि जितनी सड़क चौड़ी होगी उतने ही हम भी "जस जस सुरसा बदन बढ़ावा, तासु दुगुन कपि रूप दिखावा" (भारतदुर्दैव को देख कर) महाराज! क्या आज्ञा है?

भारतदु०—आज्ञा क्या है, भारत को चारों ओर से घेर लो।

रोग—महाराज! भारत तो अब मेरे प्रवेश-मात्र से मर जायगा। घेरने का कौन काम है? धन्वंतरि और काशिराज दिवोदास

का अब समय नहीं है और न सुश्रुतवाग्भट्ट-चरक ही हैं। वैद्गी अब केवल जीविका के हेतु बची है। काल के बल से औषधों के गुणों और लोगों के प्रकृति में भी भेद पड़ गया। बस अब हमें कौन जीतेगा और फिर हम ऐसी सेना भेजेंगे जिनका भारतवासियों ने कभी नाम तो सुना ही न होगा; तब भला वे उसका प्रतिकार क्या करेंगे! हम भेजेंगे विस्फोटक, हैजा, डेंगू, अपाप्लेक्सी। भला इनको हिंदू लोग क्या रोकेंगे? ये किधर से चढ़ाई करते हैं और कैसे लड़ते हैं जानेंगे तो हई नहीं, फिर छुट्टी हुई। वरंच महाराज, इन्हीं से मारे जायँगे और इन्हीं को देवता करके पूजेंगे, यहाँ तक कि मेरे शत्रु डाक्टर और विद्वान इसी विस्फोटक के नाश का उपाय टीका लगाना इत्यादि कहेंगे तो भी ये सब उसको शीतला के डर से न मानेंगे और उपाय आछत अपने हाथ अपने प्यारे बच्चों की जान लेंगे।

भारतदु०—तो अच्छा तुम जाओ। महर्घ और टिकस भी यहाँ आते होंगे सो उनको साथ लिए जाओ। अतिवृष्टि, अनावृष्टि की सेना भी वहाँ जा चुकी है। अनैक्य और अंधकार की सहायता से तुम्हें कोई भी रोक न सकेगा। यह लो पान का बीड़ा लो। (बीड़ा देता है)

(रोग बीड़ा लेकर प्रणाम करके जाता है)

भारतदु०—बस, अब कुछ चिंता नहीं, चारों ओर से तो मेरी सेना ने उसको घेर लिया, अब कहाँ बच सकता है।

(आलस्य का * प्रवेश)

आलस्य—हहा! एक पोस्ती ने कहा, पोस्ती ने पी पोस्त नौ दिन चले अढ़ाई कोस। दूसरे ने जवाब दिया, अबे वह

* मोटा आदमी जँभाई लेता हुआ धीरे-धीरे आवेगा।

पोस्ती न होगा डाक का हरकारा होगा। पोस्ती ने जब पोस्त पी तो या कूँड़ी के उस पार या इस पार ठीक है। एक बारी में हमारे दो चेले लेटे थे और उसी राह से एक सवार जाता था। पहिले ने पुकारा "भाई सवार सवार, यह पक्का आम टपक कर मेरी छाती पर पड़ा है, जरा मेरे मुँह में तो डाल।" सवार ने कहा "अजी तुम बड़े आलसी हो। तुम्हारी छाती पर आम पड़ा है सिर्फ हाथ से उठा कर मुँह में डालने में यह आलस है!" दूसरा बोला "ठीक है साहब, यह बड़ा ही आलसी है। रात भर कुत्ता मेरा मुँह चाटा किया और यह पास ही पड़ा था पर इसने न हाँका।" सच है किस जिंदगी के वास्ते तक तकलीफ उठाना, मजे में हालमस्त पड़े रहना। सुख केवल हम में है "आलसी पड़े कुएँ में वहीं चैन है।"

(गाता है)

(गजल)

दुनिया में हाथ-पैर हिलाना नहीं।
मर जाना पै उठके कहीं जाना नहीं अच्छा॥
बिस्तर पर मिस्ले लाथ पड़े रहना हमेशा।
बंदर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा॥
"रहने दो जमीं पर मुझे आराम यहीं है।"
छेड़ो न नक्शेपा हैं मिटाना नहीं अच्छा॥
उठ करके घर से कौन चले यार के घर तक।
"मौत अच्छी है पर दिल का लगाना नहीं अच्छा॥"
धोती भी पहिने जब कि कोई गैर पिन्हा दे।
उमरा को हाथ-पैर चलाना नहीं अच्छा॥

सिर भारी चीज है इसे तकलीफ हो तो हो।
पर जीभ बिचारी को सताना नहीं अच्छा॥
फाकों से मरिए पर न कोई काम कीजिए।
दुनिया नहीं अच्छी है जमाना नहीं अच्छा॥
सिजदे मे गर बिहिश्त मिले दूर कीजिए।
दोज़ख ही सही सिर का झुकाना नहीं अच्छा॥
मिल जाय हिंद खाक में हम काहिलों को क्या।
ऐ मीरे-फर्श रंज उठाना नहीं अच्छा॥

और क्या। काजीजी दुबले क्यों, कहैं शहर के अंदेशे से। अरे 'कोउ नृप होउ हमें का हानी, चेरि छाँड़ि नहिं होउब रानी।' आनंद से जन्म बितना। 'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम। दास मलूका कह गए, सब के दाता राम॥' "जो पढ़तव्यं सो मरतव्यं, जो न पढ़तव्यं सो भी मरतव्यं, तब फिर दंत-कटाकट किं कर्तव्यं?" भई जात में ब्राह्मण, धर्म में बैरागी, रोजगार में सूद और दिल्लगी में गप सब से अच्छी। घर बैठे जन्म बिताना, न कहीं जाना और न कहीं आना। बस खाना, हगना, मूतना, सोना, बात बनाना, ताना मारना और मस्त रहना। अमीर के सर पर और क्या सुरखाब का पर होता है, जो कोई काम न करे वही अमीर। 'तवंगरी बदिलस्त न बमाल।' दोई तो मस्त हैं या मालमस्त या हालमस्त। (भारतदुर्दैव को देखकर उसके पास जाकर प्रणाम करके) महाराज! मैं सुख से सोया था कि आपकी आज्ञा पहुँची, ज्यों-त्यों कर यहाँ हाजिर हुआ। अब हुकम!

भारतदु०—तुम्हारे और साथी सब हिंदुस्तान की ओर भेजे गए हैं, तुम भी वहीं जाओ और अपनी जोगनिद्रा से सब को अपने वश में करो।

आलस्य—बहुत अच्छा। (आप ही आप) आह रे बप्पा ! अब हिंदुस्तान में जाना पड़ा। तब चलो धीरे-धीरे चलें। हुक्म न मानेंगे तो लोग कहेंगे "सरबस खाइ भोग करि नाना, समरभूमि भा दुरलभ प्राना।" अरे करने को दैव आप ही करेगा, हमारा कौन काम है, पर चलें।

(यही सब बुडबुड़ाता हुआ जाता है)

(मदिरा* आती है)

मदिरा—भगवान् सोम की मैं कन्या हूँ। प्रथम वेदों ने मधु नाम से मुझे आदर दिया। फिर देवताओं की प्रिया होने से मैं सुरा कहलाई और मेरे प्रचार के हेतु श्रौत्रामणि यज्ञ की सृष्टि हुई। स्मृति और पुराणों में भी प्रवृत्ति मेरी नित्य कही गई। तंत्र तो केवल मेरे ही हेतु बने। संसार में चार मत बहुत प्रबल हैं, हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान और क्रिस्तान। इन चारों में मेरी चार पवित्र प्रतिमूर्ति विराजमान हैं। सोमपान, बीराचमन, शराबुन्तहूरा और बापटैजिंग वाइन। भला कोई कहे तो इनको अशुद्ध ? या जो पशु हैं उन्होंने अशुद्ध कहा ही तो क्या हमारे चाहने वालों के आगे वे लोग बहुत होंगे तो फी सैकड़े दस होंगे, जगत् में तो हम व्याप्त हैं। हमारे चेले लोग सदा यही कहा करते हैं। और फिर सरकार के राज्य के तो हम एकमात्र भूषण हैं।

दूध सुरा दधिहू सुरा, सुरा अन्न धन धाम।
वेद सुरा ईश्वर सुरा, सुरा स्वर्ग को नाम ॥
जाति सुरा विद्या सुरा बिनु मद रहै न कोय।
सुधरी आजादी सुरा, जगत सुरामय होय ॥

---

* साँवली सी स्त्री, लाल कपड़ा, सोने का गहना, पैर में घुंघरू।

ब्राह्मण क्षत्री वैश्य अरु, सैयद सेख पठान।
दै बताइ मोहि कौन जो, करत न मदिरा पान॥
पियत भट्ट के ठट्ट अरु, गुजरातिन के वृंद।
गौतम पियत अनंद सों, पियत अग्र के नंद॥
होटल में मदिरा पियें, चोट लगे नहिं लाज।
लोट लए ठाढ़े रहत, टोटल दैवे काज॥
कोउ कहत मद नहिं पियें, तो कछु लिख्यो न जाय।
कोउ कहत हम मद्यबल, करत वकीली आय॥
मद्यहि के परभाव सों, रचत अनेकन ग्रंथ।
मद्यहि के परकास सों, लखत धरम को पंथ॥
मद पी विधि जग कों करत, पालत हरि करि पान।
मद्यहि पी कै नाश सब करत शंभु भगवान॥
विष्णु बारुणी, पोर्ट पुरुषोत्तम, मद्य मुरारि।
शांपिन शिव गौड़ी गिरिश, ब्रांडी ब्रह्म बिचारि॥
मेरो तो धन बुद्धि बल, कुल लज्जा पति गेह।
माय बाप सुत धर्म सब मदिरा ही न सँदेह॥
सोक-हरन आनँद-करन, उमगावन सब गात।
हरि मैं तप-बिनु लय-करनि केवल मद्य लखात॥
सरकारहि मंजूर जो मेरा होत उपाय।
तो सब सों बढ़ि मद्य पै देतो कर बैठाय॥
हमहीं कों या राज को, परम निसानी जान।
कीर्ति-खंभ सो जग गड़ी, जब लौं थिर ससि भान॥
राजमहल के चिन्ह नहिं, मिलिहैं जग इत कोय।
तबहु बोतल टूक बहु, मिलिहैं कीरति होय॥

हमारी प्रवृत्ति के हेतु कुछ यत्न करने की आवश्यकता नहीं। मनु पुकारते हैं 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां' और भागवत में

कहा है 'लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्ति जंतोः ।' उस पर भी वर्तमान समय की समस्या की तो मैं मुख्य मूलसूत्र हूँ। पंच विषयेंद्रियों के सुखानुभव मेरे कारण द्विगुणित हो जाते हैं। संगीत-साहित्य की तो एकमात्र जननी हूँ। फिर ऐसा कौन है जो मुझसे विमुख हो ?

(गाती है)

(राग काफी, धनाश्री का मेल, ताल धमार)

मदवा पीले पागल जोबन बीत्यौ जात।
बिनु मद जगत सार कछु नाहीं मान हमारी बात॥
पी प्याला छक छक आनँद से नितहि साँझ औ प्रात।
झूमत चल डगमगी चाल से मारि लाज को लात॥
हाथी मच्छड़, सूरज जुगनू जाके पिये लखात।
ऐसी सिद्धि छोड़ि मन मूरख काहे ठोकर खात॥

(राजा को देखकर) महाराज ! कहिए क्या हुकम है ?

भारतदु०—हमने बहुत से अपने वीर हिंदुस्तान में भेजे हैं परंतु मुझको तुमसे जितनी आशा है उतनी और किसी से नहीं है। जरा तुम भी हिंदुस्तान की तरफ जाओ और हिंदुओं से समझो तो।

मदिरा—हिंदुओं के तो मैं मुद्दत से मुँहलगी हूँ, अब आपकी आज्ञा से और भी अपना जाल फैलाऊँगी और छोटे-बड़े सबके गले का हार बन जाऊँगी। [जाती है

(रंगशाला के दीपों में से अनेक बुझा दिए जायँगे)

(अंधकार का प्रवेश)

[आँधी आने की भाँति शब्द सुनाई पड़ता है]

अंधकार—(गाता हुआ स्खलित नृत्य करता है)

(राग काफी)

जै जै कलियुग राज की, जै महामोह महराज की।
अटल छत्र सिर फिरत थाप जग मानत जाके काज की ॥
कलह अविद्या मोह मूढ़ता सबै नास के साज की ॥

हमारा सृष्टि-संहार-कारक भगवान् तमोगुण जी से जन्म है। चोर, उलूक और लपटों के हम एकमात्र जीवन हैं। पर्वतों की गुहा, शोकितों के नेत्र, मूर्खों के मस्तिष्क और खलों के चित्त में हमारा निवास है। हृदय के और प्रत्यक्ष, चारों नेत्र हमारे प्रताप से बेकाम हो जाते हैं। हमारे दो स्वरूप हैं, एक आध्यात्मिक और एक आधिभौतिक, जो लोक में अज्ञान और अँधेरे के नाम से प्रसिद्ध हैं। सुनते हैं कि भारतवर्ष में भेजने को मुझे मेरे परम पूज्य मित्र दुर्दैव महाराज ने आज बुलाया है। चलें देखें क्या कहते हैं। (आगे बढ़कर) महाराज की जय हो, कहिए, क्या अनुमति है ?

भारतदु०—आओ मित्र ! तुम्हारे बिना तो सब सूना था। यद्यपि मैंने अपने बहुत से लोग भारतविजय को भेजे हैं पर तुम्हारे बिना सब निर्बल हैं। मुझको तुम्हारा बड़ा भरोसा है, अब तुमको भी वहाँ जाना होगा।

अंध०—आपके काम के वास्ते भारत क्या वस्तु है, कहिए मैं विलायत जाऊँ।

भारतदु०—नहीं, विलायत जाने का अभी समय नहीं, अभी वहाँ त्रेता, द्वापर है।

अंध०—नहीं, मैंने एक बात कही। भला जब तक वहाँ दुष्टा विद्या का प्राबल्य है, मैं वहाँ जाही के क्या करूँगा ! गैस और मैगनीशिया से मेरी प्रतिष्ठा भंग न हो जायगी।

भारतदु०—हाँ, तो तुम हिंदुस्तान में जाओ और जिसमें हमारा हित हो सो करो। बस "बहुत बुझाइ तुमहिं का कहऊँ, परम चतुर मैं जानत अहऊँ।"

अंध—बहुत अच्छा, मैं चला। बस जाते ही देखिए क्या करता हूँ।

(नेपथ्य में वैतालिक गान और गीत की समाप्ति में क्रम से पूर्ण अंधकार और पटाक्षेप)

निहचै भारत को अब नास।

जब महाराज विमुख उनसों तुम निज मति करी प्रकास॥
अब कहुँ सरन तिन्हैं नहिं मिलिहै ह्वैहै सब बल चूर।
बुधि विद्या धन धान सबै अब तिनको मिलिहैं धूर॥
अब नहिं राम धर्म अर्जुन नहिं शाक्यसिंह अरु व्यास।
करिहै कौन पराक्रम इनमें को दैहै अब आस॥
सेवाजी रनजीतसिंह हू अब नहिं बाकी जौन।
करिहैं कछू नाम भारत को अब तो सब नृप मौन॥
वही उदैपुर जैपुर रीवाँ पन्ना आदिक राज।
परबस भए न सोच सकहिं कछु करि निज बल बेकाज॥
अँगरेजहु को राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़।
स्वारथ-पर विभिन्न-मति-भूले हिंदू सब ह्वै मूढ़॥
जग के देस बढ़त बदि-बदि के सब बाजी जेहि काल।
ताहू समय रात इनको है ऐसे ये बेहाल॥
छोटे चित अति भीरु बुद्धि मन चंचल बिगत उछाह।
उदर-भरन-रत, ईस-बिमुख सब भए प्रजा नरनाह॥
इनसों कछू आस नहिं ये तो सब बिधि बुधि-बल-हीन।
बिना एकता-बुद्धि-कला के भए सबहि बिधि दीन॥

बोझ लादि कै पैर छानि कै निज-सुख करहु प्रहार।
ये रासभ से कछु नहिं कहिहैं मानहु छमा-अगार॥
"हित अनहित पशु पच्छी जाना" पै ये जानहि नाहिं।
भूले रहत आपुने रँग मैं फँसे मूढ़ता माहिं॥
जे न सुनहिं हित, भलो करहिं नहिं तिनसों आसा कौन।
डंका दै निज सैन साजि अब करहु उतै सब गौन॥

(जवनिका गिरती है)

पाँचवाँ अंक

स्थान—किताबखाना

(सात सभ्यों की एक छोटी सी कमेटी ; सभापति चक्करदार टोपी पहने, चश्मा लगाए, छड़ी लिए ; छः सदस्यों में एक बंगाली, एक महाराष्ट्र, एक अखबार हाथ में लिए एडिटर, एक कवि और दो देशी महाशय)

सभापति—(खड़े होकर) सभ्यगण ! आज की कमेटी का मुख्य उद्देश्य यह है कि भारतदुर्दैव को, सुना है कि, हम लोगों पर चढ़ाई है। इस हेतु आप लोगों को उचित है कि मिलकर ऐसा उपाय सोचिए कि जिससे हम लोग इस भावी आपत्ति से बचें। जहाँ तक हो सके अपने देश की रक्षा करना ही हम लोगों का मुख्य धर्म है। आशा है कि आप सब लोग अपनी-अपनी अनुमति प्रगट करेंगे। (बैठ गए, करतलध्वनि)

बंगाली—(खड़े होकर) सभापति साहब जो बात बोला सो बहुत ठीक है। इसका पेशतर कि भारतदुर्दैव हम लोगों का शिर पर आ पड़े कोई उसके परिहार का उपाय शोचना अत्यंत आवश्यक है। किंतु प्रश्न एई है जे हम लोग उसका दमन करने शाकता कि हमारा बोज्जोबल के बाहर का बात है। क्यों नहीं शाकता ? अलबत्त शकैगा, परन्तु जो शब लोग एक मत्त होगा। (करतलध्वनि) देखो हमारा बंगाल में इसका अनेक उपाय शाधन होते हैं। ब्रिटिश इंडियन असोसिएशन

लीग इत्यादि अनेक शभा भी होते हैं। कोई थोड़ा बी बात होता हम लोग मिल के बड़ा गोल करते। गवर्नमेंट तो केवल गोलमाल शे भय खाता। और कोई तरह नहीं शोनता। ओ हुआं का अखबारवाला सब एक बार ऐसा शोर करता कि गवर्नमेंट को अलबत्त शुनने होता। किन्तु हेंयां, हम देखते हैं कोई कुछ नहीं बोलता। आज शब आप सभ्य लोग एकत्र हैं, कुछ उपाय इसका अवश्य शोचना चाहिए। (उपवेशन)

प० देशी—(धीरे से) यहीं, मगर जब तक कमेटी में हैं तभी तक बाहर निकले कि फिर कुछ नहीं!

दू० देशी—(धीरे से) क्यों भाई साहब, इस कमेटी में आने से कमिश्नर हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे?

एडिटर—(खड़े होकर) हम अपने प्राणपण से भारतदुर्दैव को हटाने को तैयार हैं। हमने पहिले भी इस विषय में एक बार अपने पत्र में लिखा था परन्तु यहाँ तो कोई सुनता ही नहीं। अब जब सिर पर आफत आई तो आप लोग उपाय सोचने लगे। भला अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है जो कुछ सोचना हो जल्द सोचिए। (उपवेशन)

कवि—(खड़े होकर) मुहम्मदशाह से भाँड़ों ने दुश्मन की फौज से बचने का एक बहुत उत्तम उपाय कहा था। उन्होंने बतलाया कि नादिरशाह के मुकाबले में फौज न भेजी जाय। जमना-किनारे कनात खड़ी कर दी जायँ, कुछ लोग चूड़ी पहिने कनात के पीछे खड़े रहें। जब फौज इस पार उतरने लगे; कनात के बाहर हाथ निकाल कर उँगली चमकाकर कहें "मुए इधर न आइयो इधर जनाने हैं'।

बस सब दुश्मन हट जायँगे। यही उपाय भारतदुर्दैव से बचने को क्यों न किया जाय?

बंगाली—(खड़े होकर) अलबत्त, यह भी एक उपाय है किंतु असभ्यगण आकर जो स्त्री लोगों का बिचार न करके सहसा कनात को आक्रमण करेगा तो ? (उपवेशन)

एडि०—(खड़े होकर) हमने एक दूसरा उपाय सोचा है, एडूकेशन की एक सेना बनाई जाय। कमेटी की फौज। अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले मारे जायँ। आप लोग क्या कहते हैं ? (उपवेशन)

दू० देशी—मगर जो हाकिम लोग इससे नाराज हों तो ? (उपवेशन)

बंगाली—हाकिम लोग काहे को नाराज होगा। हम लोग शदा चाहता कि अँगरेजों का राज्य उत्सन्न न हो, हम लोग केवल अपना बचाव करता। (उपवेशन)

महा०—परन्तु इसके पूर्व यह होना अवश्य है कि गुप्त रीति से यह बात जाननी कि हाकिम लोग भारतदुर्दैव की सैन्य से मिल तो नहीं जायँगे।

दू० देशी—इस बात पर बहस करना ठीक नहीं। नाहक कहीं लेने के देने न पड़ें, अपना काम देखिए। (उपवेशन और आप ही आप) हाँ, नहीं तो अभी कल ही झाड़बाजी होय।

महा०—तो सार्वजनिक सभा का स्थापन करना। कपड़ा बीनने की कल मँगानी। हिंदुस्तानी कपड़ा पहिनना। यह भी सब उपाय हैं।

दू० देशी—(धीरे से) बनात छोड़कर गजी पहिरेंगे, हें हें।

एडि०—परन्तु अब समय थोड़ा है जल्दी उपाय सोचना चाहिए।

कवि०—अच्छा तो एक उपाय यह सोचो कि सब हिंदू मात्र अपना फैशन छोड़कर कोट-पतलून इत्यादि पहिरें जिसमें जब दुर्दैव की फौज आवे तो हम लोगों को योरोपियन जानकर छोड़ दे।

प० देशी—पर रंग गोरा कहाँ से लावेंगे ?

बंगाली—हमारा देश में भारतउद्धार नामक एक नाटक बना है। उसमें अँगरेजों को निकाल देने का जो उपाय लिखा, सोई हम लोग दुर्दैव का वास्ते काहे न अवलंबन करें। ओ लिखता पाँच जन बंगाली मिल के अँगरेजों को निकाल देगा। उसमें एक तो पिशान लेकर स्वेज का नहर पाट देगा। दूसरा बाँस काट-काट के पिवरी नामक जलयंत्र विशेष बनावेगा। तीसरा उस जलयंत्र से अँगरेजों की आँख में धूर और पानी डालेगा।

महा०—नहीं नहीं, इस व्यर्थ की बात से क्या होना है। ऐसा उपाय करना जिससे फलसिद्धि हो।

प० देशी—(आप ही आप) हाय ! यह कोई नहीं कहता कि सब लोग मिलकर एक-चित्त हो विद्या की उन्नति करो, कला सीखो, जिससे वास्तविक कुछ उन्नति हो। क्रमशः सब कुछ हो जायगा।

एडि०—आप लोग नाहक इतना सोच करते हैं, हम ऐसे-ऐसे आर्टिकिल लिखेंगे कि उसके देखते ही दुर्दैव भागेगा।

कवि—और हम ऐसी ही ऐसी कविता करेंगे।

प० देशी—पर उनके पढ़ने का और समझने का अभी संस्कार किसको है ?

(नेपथ्य में से)

भागना मत, अभी मैं आती हूँ।

(सब डरके चौकन्ने से होकर इधर-उधर देखते हैं)

दू० देशी—(बहुत डरकर) बाबा रे, जब हम कमेटी में चले थे तब पहिले ही छींक हुई थी। अब क्या करें। (टेबुल के नीचे छिपने का उद्योग करता है)

(डिसलायटी * का प्रवेश)

सभापति—(आगे से ले आकर बड़े शिष्टाचार से) आप क्यों यहाँ तशरीफ लाई हैं? कुछ हम लोग सर्कार के विरुद्ध किसी प्रकार की सम्मति करने को नहीं एकत्र हुए हैं। हम लोग अपने देश की भलाई करने को एकत्र हुए हैं।

डिसलायलटी—नहीं, नहीं, तुम सब सर्कार के विरुद्ध एकत्र हुए हो, हम तुमको पकड़ेंगे।

बंगाली—(आगे बढ़कर क्रोध से) काहे को पकड़ेगा, कानून कोई वस्तु नहीं है। सर्कार के विरुद्ध कौन बात हम लोग बोला? व्यर्थ का विभीषिका!

डिस०—हम क्या करें, गवर्नमेंट की पालिसी यही है। कवि-वचनसुधा नामक पत्र में गवर्नमेंट के विरुद्ध कौन बात थी? फिर क्यों उसके पकड़ने को हम भेजे गए? हम लाचार हैं।

दू० देशी—(टेबुल के नीचे से रोकर) हम नहीं, हम नहीं, हम तमाशा देखने आए थे।

महा०—हाय-हाय! यहाँ के लोग बड़े भीरु और कापुरुष हैं। इसमें भय की कौन बात है! कानूनी है।

---

* पुलिस की वर्दी पहिने।

सभा०—तो पकड़ने का आपको किस कानून से अधिकार है ?
डिस०—इँगलिश पालिसी नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से।
महा०—परन्तु तुम ?
बू० रंगी—(रोकर) हाय-हाय ! भटवा तुम कहता है अब मरे।
महा०—पकड़ नहीं सकतीं, हमको भी दो हाथ दो पैर हैं। चलो हम लोग तुम्हारे संग चलते हैं, सवाल-जवाब करेंगे।
बंगाली—हाँ चलो, ओ का बात—पकड़ने नहीं शेकता।
सभा०—(स्वगत) चेयरमैन होने से पहिले हमी को उत्तर देना पड़ेगा, इसी से किसी बात में हम अगुआ नहीं होते।
डिस०—अच्छा चलो। (सब चलने की चेष्टा करते हैं)

(जवनिका गिरती है)

———

छठा अंक

स्थान—गंभीर वन का मध्यभाग

(भारत एक वृक्ष के नीचे अचेत पड़ा है)

(भारतभाग्य का प्रवेश)

भारतभाग्य—(गाता हुआ—राग चैती गौरी)

जागो जागो रे भाई !
सोअत निसि बैस गँवाई । जागो जागो रे भाई ॥
निसि की कौन कहै दिन बीत्यो काल राति चलि आई ।
देखि परत नहिं हित-अनहित कछु परे बैरि-बस जाई ॥
निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई ।
अबहूँ चेति, पकरि राखो किन जो कछु बची बड़ाई ॥
फिर पछिताए कछु नहिं ह्वैहै रहि जैहौ मुँह बाई ।
जागो जागो रे भाई ॥

(भारत को जगाता है और भारत जब नहीं जागता तब अनेक यत्न से फिर जगाता है, अंत में हारकर उदास होकर)

हाय ! भारत को आज क्या हो गया है ? क्या निस्संदेह परमेश्वर इससे ऐसा ही रूठा है ? हाय क्या अब भारत के फिर वे दिन न आवेंगे ? हाय यह वही भारत है जो किसी समय सारी पृथ्वी का शिरोमणि गिना जाता था ?

भारत के भुज-बल जग रच्छित।
भारत विद्या लहि जग सिच्छित॥
भारत तेज जगत बिस्तारा।
भारत भय कंपत संसारा॥
जाके तनिकहिं भौंह हिलाए।
थर-थर कंपत नृप डरपाए॥
जाके जय की उज्ज्वल गाथा।
गावत सब महि मंगल साथा॥
भारत किरिन जगत उँजियारा।
भारत जीव जिअत संसारा॥
भारत वेद कथा इतिहासा।
भारत वेद प्रथा परकासा॥
फिनिक मिसिर सीरीय युनाना।
भे पंडित लहि भारत-दाना॥
रह्यौ रुधिर जब आरज-सीसा।
ज्वलित अनल समान अवनीसा॥
साहस बल इन सम कोउ नाहीं।
तबै रह्यौ महिमंडल माहीं॥
कहा करी तकसीर तिहारी।
रे बिधि रुष्ट याहि की बारी॥
सबै सुखी जग के नर-नारी।
रे बिधना भारत हि दुखारी॥
हाय रोम तू अति बड़भागी।
बर्बर तोहि नास्यो जय लागी॥
तोड़े कीरति-थंभ अनेकन।
ढाहे गढ़ बहु करि प्रण टेकन॥

मंदिर महलनि तोरि गिराए।
सबै चिह्न तू धूरि मिलाए॥
कछु न बची तुव भूमि निसानी।
सो बरु मेरे मन अति मानी॥
भारत-भाग न जात निहारे।
थाप्यो पग ता सीस उघारे॥
तोर्यो दुर्गन महल ढहायो।
तिनहीं में निज गेह बनायो॥
ते कलंक सब भारत केरे।
ठाढ़े अजहुँ लखो घनेरे॥
काशी प्राग अयोध्या नगरी।
दीन रूप सम ठाढ़ी सगरी।
चंडालहु जेहि निरखि घिनाई।
रहीं सबै भुव मुँह मसि लाई॥
हाय पंचनद हा पानीपत।
अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत॥
हाय चितौर निलज तू भारी।
अजहुँ खरो भारतहि मँझारी॥
जा दिन तुव अधिकार नसायो।
सो दिन क्यों नहिं धरनि समायो॥
रह्यो कलंक न भारत नामा।
क्यों रे तू बारानसि धामा॥
सब तजि कै भजि कै दुखभारो।
अजहुँ बसत करि भुव मुख कारो॥
अरे अग्रवन तीरथराजा।
तुमहुँ बचे अबलौं तजि लाजा॥

पापिनि सरजू नाम धराई।
अजहुँ बहत अवधतट जाई॥
तुम में जल नहिं जमुना गंगा।
बढ़हु बेग करि तरल तरंगा॥
धोवहु यह कलंक की रासी।
बोरहु किन झट मथुरा कासी॥
कुस कन्नौज अंग अरु बंगहि।
बोरहु किन निज कठिन तरंगहि॥
बोरहु भारत भूमि सबेरे।
मिटै करक जिय की तब मेरे॥
अहो भयानक भ्राता सागर।
तुम तरंगनिधि अति बल-आगर॥
बोरे बहु गिरि बन अस्थाना।
पै बिसरे भारत हित जाना॥
बढ़हु न बेगि धाइ क्यों भाई।
देहु भरत भुव तुरत डुबाई॥
घेरि छिपावहु विंध्य हिमालय।
करहु सकल जल भीतर तुम लय॥
धोवहु भारत अपजस पंका।
मेटहु भारतभूमि कलंका॥

हाय! यहीं के लोग किसी काल में जगन्मान्य थे।
जेहि छिन बलभारे हे सबै तेग धारे।
तब सब जग धाई फेरते हे दुहाई॥
जग सिर पग धारे धावते रोस भारे।
बिपुल अवनि जीती पालते राजनीती।

जग इन बल काँपै देखिकै चंड दापै।
सोइ यह प्रिय मेरे ह्वै रहे आज चेरे।।
ये कृष्ण-बरन जब मधुर तान।
करते अमृतोपम बेद-गान।।
तब मोहत सब नर-नारि-वृन्द।
सुनि मधुर बरन सज्जित सुछंद।।
जग के सबही जन धारि स्वाद।
सुनते इनहीं को बीन नाद।।
इनके गुन होता सबहि चैन।
इनहीं कुल नारद तानसैन।।
इनहीं के क्रोध किए प्रकास।
सब काँपत भूमंडल अकास।।
इनहीं के हुंकृति शब्द घोर।
गिरि काँपत हे सुनि चारु ओर।।
जब लेत रहे कर में कृपान।
इनहीं कहँ हो जग तृन समान।।
सुनि कै रनबाजन खेत माहिं।
इनहीं कहँ हो जिय संक नाहिं।।

याही भुव महँ होत है हीरक आम कपास।
इतही हिमगिरि गंगजल काव्य गीत परकास।।
जाबाली जैमिनि गरग पातंजलि सुकदेव।
रहे भारतहि अंक में कबहिं सबै भुवदेव।।
याही भारत मध्य में रहे कृष्ण मुनि व्यास।
जिनके भारत-गान सों भारत-बदन प्रकास।।
याही भारत में रहे कपिल सूत दुरवास।
याही भारत में भए शाक्य सिंह संन्यास।।

यही भारत में गए मनु भृगु आदिक होय।
तब तिनसों जग में रह्यो घृना करत नहिं कोय॥
जासु काव्य सों जगत मधि अब लौं ऊँचो सीस।
जासु राज बल धर्म की तृषा करहिं अवनीस॥

सोई व्यास अरु राम के बंस सबै संतान।
ये मेरे भारत भरे सोइ गुन रूप समान॥
सोई बंस रुधिर वही सोई मन बिस्वास।
वही वासना चित वही आसय वही बिलास॥
कोटि कोटि ऋषि पुन्य तन कोटि कोटि अतिसूर।
कोटि कोटि बुध मधुर कवि मिले यहाँ की धूर॥
सोइ भारत की आज यह भई दुरदसा हाय।
कहा करैं कित जायँ नहिं सूझत कछू उपाय॥

(भारत को फिर उठाने की अनेक चेष्टा करके उपाय निष्फल होने पर रोकर)

हा! भारतवर्ष को ऐसी मोह निद्रा ने घेरा है कि अब इस के उठने की आशा नहीं। सच है, जो जान-बूझकर सोता है उसे कौन जगा सकेगा? हा दैव! तेरे विचित्र चरित्र हैं, जो कल राज करता था वह आज जूते में टाँका उधार लगवाता है। कल जो हाथी पर सवार फिरते थे आज नंगे पाँव बन-बन की धूल उड़ाते फिरते हैं। कल जिनके घर लड़के-लड़कियों के कोलाहल से कान नहीं दिया जाता था, आज उनका नाव लेवा और पानी देवा कोई नहीं बचा और कल जो घर अन्न धन पूत लक्ष्मी हर तरह से भरे-पूरे थे आज उन घरों में तू ने दिया बालनेवाला भी नहीं छोड़ा।

हा ! जिस भारतवर्ष का सिर व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, *पाणिनि, शाक्यसिंह, बाणभट्ट प्रभृति कवियों के नाममात्र* से अब भी सारे संसार से ऊँचा है, उस भारत की यह दुर्दशा ! जिस भारतवर्ष के राजा चंद्रगुप्त और अशोक का शासन रूम-रूस तक माना जाता था, उस भारत की यह, दुर्दशा ! जिस भारत में राम, युधिष्ठिर, नल, हरिश्चंद्र रंतिदेव, शिवि इत्यादि पवित्र चरित्र के लोग हो गए हैं उसकी यह दशा ! हाय, भारत भैया, उठो ! देखो विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आता है। अब सोने का समय नहीं है। अँगरेज का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे। मूर्खों के प्रचंड शासन के दिन गए, अब राजा ने प्रजा का स्वत्व पहिचाना। विद्या की चरचा फैल चली, सबको सब कुछ कहने-सुनने का अधिकार मिला, देश-विदेश से नई-नई विद्या और कारीगरी आई। तुमको उस पर भी वही सीधी बातें, भाँग के गोले, ग्रामगीत, वही बाल्यविवाह, भूत-प्रेत की पूजा, जन्मपत्री की विधि ! वही थोड़े में संतोष, गप हाँकने में प्रीति और सत्यानाशी चालें ! हाय अब भी भारत की यह दुर्दशा ! अरे अब क्या चिता पर सम्हलेगा। भारत भाई ! उठो, देखो, अब यह दुख नहीं सहा जाता, अरे कब तक बेसुध रहोगे ? उठो, देखो, तुम्हारी संतानों का नाश हो गया। छिन्न-भिन्न होकर सब नरक की यातना भोगते हैं, उसपर भी नहीं चेतते। हाय ! मुझसे तो अब यह दशा नहीं देखी जाती। प्यारे जागो। (जगाकर और नाड़ी देखकर) हाय इसे तो बड़ा ही ज्वर चढ़ा है ! किसी तरह होश में नहीं आता। हा भारत ! तेरी क्या दशा हो गई ! हे करुणासागर भगवान् इधर भी दृष्टि कर।

हे भगवती राजराजेश्वरी, इसका हाथ पकड़ो। (रोकर) अरे कोई नहीं जो इस समय अवलंब दे। हा! अब मैं जी के क्या करूँगा? जब भारत ऐसा मेरा मित्र इस दुर्दशा में पड़ा है और उसका उद्धार नहीं कर सकता, तो मेरे जीने पर धिक्कार है! जिस भारत का मेरे साथ अब तक इतना संबंध था उसकी ऐसी दशा देखकर भी मैं जीता रहूँ तो बड़ा कृतघ्न हूँ! (रोता है) हा विधाता, तुझे यही करना था! (आतंक से) छिः छिः इतना क्लैव्य क्यों? इस समय यह अधीरजपना! बस, अब धैर्य! (कमर से कटार निकालकर) भाई भारत! मैं तुम्हारे ऋण से छूटता हूँ! मुझसे वीरों का कर्म नहीं हो सकता। इसी से कातर की भाँति प्राण देकर उऋण होता हूँ। (ऊपर हाथ उठाकर) हे सर्वांतर्यामी! हे परमेश्वर! जन्म-जन्म मुझे भारत सा भाई मिले! जन्म-जन्म गंगा-यमुना के किनारे मेरा निवास हो!

(भारत का मुँह चूमकर और गले लगाकर)

भैया, मिल लो, अब मैं बिदा होता हूँ। भैया, हाथ क्यों नहीं उठाते? मैं ऐसा बुरा होगया कि जन्म भर के वास्ते मैं बिदा होता हूँ तब भी ललककर मुझसे नहीं मिलते। मैं ऐसा ही अभागा हूँ तो ऐसे अभागे जीवन ही से क्या, बस यह लो।

(कटार का छाती में आघात और साथ ही जवनिका पतन)

नीलदेवी

गीतिरूपक

संवत् १९३८

'गर्ज गर्ज क्षणं मूढ मधु यावत्पिबाम्यहम् ।
मया त्वयि हतेऽत्रैव गर्जिष्यन्त्याशु देवता ॥'
'त्रैलोक्यमिन्द्रो लभतां देवाः सन्तु हविर्भुजः ।
यूयं प्रयात पातालं यदि जीवितुमिच्छथ ॥'
'इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति ।
तदा तदाऽवतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम् ॥'
'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु । त्वयैकया पूरितमंबयैतत् '

—दुर्गापाठ

"For the kiss the gave him was his first and last"
Kiss of dagger, driven to his heart and past.
At her feet he wallowed, chocked with wicked blood ;
In his breast the katar quivered where it stood
At the hilt his fingers vainly-wildy-try
Then they stiffen feeble ; die ! thou slaryer die !
From his jewelled scabbard drew she Shureef's sword,
Cut at vain the neck-bone of the Muslim Lord,
Underneath, the star-light sooth a sight of dead !
Like the Goddess Kali, comes she with the head.
Comes to where her brothers guard their murdered Chief ;
All the camp is silent but the night is brief.
At his feet she flings it, flings her burden vile;
'Suraj ! I keep my promise ! Brothers ! Build the pile.'

मातृ-भगिनी-सखी-तुल्या आर्य ललनागण !

आज बड़ा दिन है। क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनंद का दिन नहीं है। किंतु मुझको आज उलटा और दुःख है। इसका कारण मनुष्य-स्वभाव-सुलभ ईर्षा मात्र है। मैं कोई सिद्ध नहीं कि रागद्वेष से विहीन हूँ। जब मुझे अँगरेजी रमणी लोग मेदसिंचित केश-राशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविधवर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे, निज निज पतिगण के साथ, प्रसन्नवदन इधर से उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी-सीधी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती-समूह की भाँति हमारी कुललक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें; किंतु और बातों में जिस भाँति अँगरेजी स्त्रियाँ सावधान होती है, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य-जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृह-देवियाँ भी वर्त्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोधक हम

लोगों की वर्त्तमान कुलपरंपरा-मात्र है और कुछ नहीं है। आर्य्य-जन-मात्र को विश्वास है कि हमारे यहाँ सर्व्वदा स्त्रीगण इसी अवस्था में थीं। इस विश्वास के भ्रम को दूर करने ही के हेतु यह ग्रंथ विरचित होकर आप लोगों के कोमल कर-कमलों में समर्पित होता है। निवेदन यही है कि आप लोग इन्हीं पुण्यरूप स्त्रियों के चरित्र को पढ़ें-सुनें, और क्रम से यथाशक्ति अपनी वृद्धि करें।

२५ दिसंबर, १८८१ ग्रंथकर्त्ता।

नीलदेवी

ऐतिहासिक गीतिरूपक

(वियोगांत)

—:❁:—

पहला दृश्य

स्थान—हिमगिरि का शिखर

(तीन अप्सरा गान करती हुई दिखाई देती हैं)

अप्सरागण—(झिंझौटी जल्द तिताला)

धन धन भारत की छत्रानी।
वीरकन्यका वीरप्रसविनी वीरवधू जग-जानी॥
सतीसिरोमनि धरमधुरंधर बुधि-बल धीरज-खानी।
इनके जस की तिहूँ लोक में अमल धुजा फहरानी॥
सब मिलि गाओ प्रेमबधाई।
यह संसार-रतन इक प्रेमहि और बादि चतुराई॥
प्रेम बिना फीकी सब बातैं कहहु न लाख बनाई।
जोग ध्यान जप तप ब्रत पूजा प्रेम बिना बिनसाई॥
हाव भाव रस रंग रीति बहु काव्य केलि कुसलाई।
बिना लोन बिंजन सों सबही प्रेम-रहित दरसाई॥
प्रेमहि सों हरि हू प्रगटत हैं जदपि ब्रह्म जगराई।
तासों यह जग प्रेमसार है और न आन उपाई।

दूसरा दृश्य

स्थान—युद्ध के डेरे खड़े हैं

(एक शामियाने के नीचे अमीर अबदुश्शरीफ खाँ सूर बैठा और मुसाहिब लोग इर्द-गिर्द बैठे हैं)

शरीफ—(एक मुसाहिब से) अबदुस्समद ! खूब होशियारी से रहना। यहाँ के राजपूत बड़े काफिर हैं। इन कमबख्तों से खुदा बचाए। (दूसरे मुसाहिब से) मालिक सज्जाद ! तुम शब के पहरों का इंतिजाम अपने जिम्मे रखो, ऐसा न हो कि सूरजदेव शबखून मारे। (काजी से) काजी साहब ! मैं आपसे क्या बयान करूँ, वल्लाह सूरजदेव एक ही बदबला है। इहातए पंजाब में ऐसा बहादुर दूसरा नहीं।

काजी—बेशक हुजूर ! सुना गया है कि वह हमेशा खेमों ही में रहता है। आसमान शामियाना और जमीन ही उसे फर्श है। हजारों राजपूत उसे हर वक्त घेरे रहते हैं।

शरीफ—वल्लाह तुमने सच कहा, अजब बदकिरदार से पाला पड़ा है, जान तंग है। किसी तरह यह कमबख्त हाथ आता तो और राजपूत खुद बखुद पस्त हो जाते।

एक मुसाहिब—खुदावंद ! हाथ आना दूर रहा, उसके खौफ से अपने खेमे में रहकर भी खाना-सोना हराम हो रहा है।

शरीफ—कभी उस बेईमान से सामने लड़कर फतह नहीं मिलती

है। मैंने तो अब जी में ठान ली है कि मौका पाकर एक शब उसको सोते हुए गिरफ्तार कर लाना। और अगर खुदा को इस्लाम की रोशनी का जल्वा हिंदोस्तान जुल्मतनिशान में दिखलाना मंजूर है तो बेशक मेरी मुराद बर आएगी।

काजी—इन्शा अल्लाह तआला।

शरीफ—कसम है कलामे शरीफ की, मेरी खुराक आगे से इस तफक्कुर में आधी हो गई है। (सब लोगों से) देखो, अब मैं सोने जाता हूँ, तुम सब लोग होशियार रहना।

(गजल)

(उठकर सबकी तरफ देखकर)

इस राजपूत से रहो हुशियार खबरदार।
गफलत न जरा भी हो खबरदार खबरदार॥
ईमाँ की कसम दुश्मने जानी है हमारा।
काफिर है य पंजाब का सरदार खबरदार।
अजदर है भभूका है जहन्नुम है बला है।
बिजली है गजब इसकी है तलवार खबरदार॥
दरबार में वह तेगे शररबार न चमके।
घरबार से बाहर से भी हर बार खबरदार।
इस दुश्मने ईमाँ को है धोखे से फँसाना।
लड़ना न मुकाबिल कभी जिनहार खबरदार॥

[सब जाते हैं

—:o:—

तीसरा दृश्य

स्थान—पहाड़ की तराई

(राजा सूर्यदेव, रानी नीलदेवी और चार राजपूत बैठे हैं)

सूर्य्य०—कहो भाइयो! इन मुसलमानों ने तो अब बड़ा उपद्रव मचाया है।

प० रा०—तो महाराज! जब तक प्राण हैं तब तक लड़ेंगे।

दू० रा०—महाराज! जय-पराजय तो परमेश्वर के हाथ, है परंतु हम अपना धर्म तो प्राण रहे तक निबाहेंगे ही।

सूर्य्य०—हाँ हाँ, इसमें क्या संदेह है। मेरा कहने का मतलब यह है कि सब लोग सावधान रहें।

ती० रा०—महाराज! सब सावधान हैं। धर्म-युद्ध में तो हमको जीतनेवाला कोई पृथ्वी पर नहीं है।

नीलदेवी—पर सुना है कि ये दुष्ट अधर्म से बहुत लड़ते हैं।

सूर्य्य०—हे प्यारी! वे अधर्म से लड़ें, हम तो अधर्म नहीं कर सकते। हम आर्यवंशी लोग धर्म छोड़कर लड़ना क्या जानें? यहाँ तो सामने लड़ना जानते हैं। जीते तो निज भूमि का उद्धार और मरे तो स्वर्ग। हमारे तो दोनों हाथ लड्डू हैं; और यश तो जीतें तो भी हमारे साथ है मरें तो भी।

चौ० रा०—महाराज! इसमें क्या संदेह है, और हम लोगों को एकाएकी अधर्म से भी जीतना कुछ दाल-भात का गस्सा नहीं है।

नीलदेवी—तो भी इन दुष्टों से सदा सावधान ही रहना चाहिए। आप लोग सब तरह चतुर हो, मैं इसमें विशेष क्या कहूँ। स्नेह कुछ कहलाए बिना नहीं रहता।

सूर्य्य०—(आदर से) प्यारी! कुछ चिंता नहीं है, अब तो जो कुछ होगा देखा ही जायगा न। (राजपूतों से)

सावधान सब लोग रहहु सब भाँति सदा हीं।
जागत ही सब रहैं रैन हूँ सोअहिं नाहीं॥
कसे रहैं कटि रात-दिवस सब बीर हमारे।
अस्वपीठ सों होंहिं चारजामें जिनि न्यारे॥
तोड़ा सुलगत चढ़े रहैं घोड़ा बंदूकन।
रहैं खुला ही म्यान प्रतंचे नहिं उतरैं छन॥
देखि लेहिंगे कैसे पामर यवन बहादुर।
आवहिं तो चढ़ि सनमुख कायर कूर सबै जुर॥
देहैं रन को स्वाद तुरंतहि तिनहिं चखाई।
जो पै इक छन हू सनमुख ह्वै करहिं लराई॥

(जवनिका पतन)

———

चौथा दृश्य

स्थान—सराय

(भठियारी, चपरगट्टू खाँ और पीकदानअली)

चपर०—क्यों भाई अब आज तो जशन होगा न! आज तो वह हिंदू न लड़ेगा न?

पीक०—मैंने पक्की खबर सुनी है। आज ही तो पुलाव उड़ने का दिन है।

चपर०—भाई, मैं तो इसी से तीन-चार दिन दरबार में नहीं गया। सुना वे लोग लड़ने जायँगे। मैंने कहा जान थोड़ी ही भारी पड़ी है। यहाँ तो सदा भागतों के आगे मारतों के पीछे। जबान की तेग कहिए दस हजार हाथ झारूँ।

पीक०—भाई, इसी से तो कई दिन से मैं भी खेमों की तर्फ नहीं गया। अभी एक हफ्ता हुआ, मैं उस गाँव में एक खानगी है उसके यहाँ से चला आता था कि पाँच हिंदुओं के सवारों ने मुझे पकड़ लिया और तुरक-तुरक करके लगे चपतियाने। मैंने देखा कि अब तो बेतरह फँसे मगर वल्लाह मैंने भी अपनी कौम और दीन की इतनी मजम्मत और हिंदुओं की इतनी तारीफ की कि उन लोगों से छोड़ते ही बन आई। जे ऐसे मौके पर और क्या करता! मुसलमानी के पीछे अपनी जान देता!

चपर०—हाँ जी, किसकी मुसलमानी और किसका कुफ्र। यहाँ अपने माँड़े-हलुए से काम है।

भठि०—तो मियाँ आज जशन में जाना तो देखो मुझको भूल मत जाना। जो कुछ इनआम मिले उसमें से भी कुछ देना। हाँ! देखो मैंने कई दिन खिदमत की है।

पीक०—जरूर-जरूर जानकुल्ला। यह कौन बात है। तुम्हारे ही वास्ते तो जी पर खेलकर यहाँ उतरे हैं। (चपरगट्टू से कान में) यह सुनिए, जान झोंकें हम माल चाभें बी भठियारी। यह नहीं जानतीं कि यहाँ इनकी ऐसी-ऐसी हजारों चराकर छोड़ दी हैं।

चपर०—(धीरे से) अजी कहने दो, कहने से कुछ दिए ही थोड़े देते हैं। भठियारी हो चाहे रंडी, आज तक तो किसी को कुछ दिया नहीं है, उलटा इन्हीं लोगों का खा गए हैं। (भठियारी से) वाह जान साहब! तुम जब माँगोगी तब देंगे। रुपया-पैसा कौन चीज है, जान तक हाजिर है। जब कहो गरदन काटकर सामने रख दूँ। (खूब घूरता है)

भठि०—(आँखें नचाकर) तो मैं भी तो मियाँ की खिदमत से किसी तरह बाहर नहीं हूँ।

(दोनों गाते हैं)

पिकदानो चपरट्टू है बस नाम हमारा।
इक मुफ्त का खाना है सदा काम हमारा॥
उमरा जो कहें रात तो हम चाँद दिखा दें॥
रहता है सिफारिश से भरा जाम हमारा।
कपड़ा किसी का खाना कहीं सोना किसी जा।
गैरों ही से है सारा सरंजाम हमारा॥

हो रंज जहाँ पास न जाएँ कभी उसके।
आराम जहाँ हो है वहाँ काम हमारा॥
जर दीन है कुरआन है ईमाँ है नबी है।
जर ही मेरा अल्लाह है जर राम हमारा॥

भठि०—लो मैं तो मियाँ के वास्ते खाना बनाने जाती हूँ।

पीक०—तो चलो भाई हम लोग भी तब तक जरा 'रहे लाखों बरस साकी तेरा आबाद मैखाना'।

चपर०—चलो।

(जवनिका पतन)

———

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—सूर्यदेव के डेरे का बाहरी प्रांत

[रात्रि-समय देवीसिंह सिपाही पहरा देता हुआ घूमता है]

(नेपथ्य में गान)

(राग कलिंगड़ा)

सोओ सुख-निंदिया प्यारे ललन।
नैनन के तारे दुलारे मेरे बारे,
सोओ सुख-निंदिया प्यारे ललन।
भई आधी रात बन सनसनात,
पथ पंछी कोउ आवत न जात,
जग प्रकृति भई मनु थिर लखात,
पातहु नहिं पावत तरुन हलन॥
झलमलत दीप सिर धुनत आय,
मनु प्रिय पतंग हित करत हाय,
सनरात अंग आलस जनाय,
सन-सन लगो सीरी पवन चलन।
सोए जग के सब नींद घोर,
जागत कामी चिंतित चकोर,
बिरहिन बिरही पाहरू चोर,
इन कहँ छन रैन हूँ हाय कल न॥

सिपाही—बरसों घर छूटे हुए। देखें कब इन दुष्टों का मुँह काला होता है। महाराज घर फिरकर चलें तो देस फिर

से बसे। रामू की माँ को देखे कितने दिन हुए। बच्चा की तो खबर तक नहीं मिली। (चौंककर ऊँचे स्वर से) कौन है? खबरदार जो किसी ने झूठमूठ भी इधर देखने का विचार किया। (साधारण स्वर से) हाँ—कोई यह न जाने कि देवसिंह इस समय जोरू-लड़कों की याद करता है, इससे भूला है। क्षत्री का लड़का है। घर की याद आवे तो और प्राण छोड़कर लड़े। (पुकारकर) खबरदार। जागते रहना।

(इधर-उधर फिरकर एक जगह बैठकर गाता है)

(कलिंगड़ा)

प्यारी बिन कटत न कारी रैन।
  पल छिन न परत जिय हाय चैन॥
तन पीर बढ़ी सब छुट्यो धीर,
  कहि आवत नहिं कछु मुखहु बैन।
जिय तड़फड़ात सब जरत गात,
  टप टप टपकत दुख भरे नैन॥
परदेस परे तजि देस हाय,
  दुख मेटनहारो कोउ है न।
सजि बिरह सैन यह जगत जैन,
  मारत मरोरि मोहि पापी मैन॥
प्यारी बिन कटत न कारी रैन।

(नेपथ्य में कोलाहल)

कौन है! यह कैसा शब्द आता है! खबरदार।

(नेपथ्य में विशेष कोलाहल)

(घबड़ाकर) हैं ! यह क्या है ? अरे क्यों एक साथ इतना कोलाहल हो रहा है । बीरसिंह ! बीरसिंह ! जागो । गोविंदसिंह दौड़ो !

(नेपथ्य में बड़ा कोलाहल मार-मार का शब्द । शस्त्र खींचे हुए अनेक यवनों का प्रवेश । अल्ला अकबर का शब्द । देवीसिंह का युद्ध और पतन । यवनों का डेरे में प्रवेश ।)

(पटाक्षेप)

छठा दृश्य

स्थान—अमीर का खेमा

(मसनद पर अमीर अबदुश्शरीफखाँ सूर बैठा है,
इधर-उधर मुसलमान लोग हथियार बाँधे मोछ
पर ताव देते बड़ी शान से बैठे हैं)

अमीर—अलहम्दुलिल्लाह ! इस कम्बख्त काफिर को तो किसी तरह गिरफ्तार किया। अब बाकी फौज भी फतह हो जायगी ।

एक सर्दार—ऐ हुजूर ! जब राजा ही कैद हो गया तो फौज क्या चीज है। खुदा और रसूल के हुक्म से इसलाम की हर जगह फतह है। हिंदू हैं क्या चीज ! एक तो खुदा की मार दूसरे बेवकूफ आनन्-फानन में सब जहन्नम रसीद होंगे।

दू० सर्दार—खुदावंद ! इसलाम के आफताब के आगे कुफ्र की तारीकी कभी ठहर सकती है ? हुजूर अच्छी तरह से यकीन रक्खें कि एक दिन ऐसा आवेगा जब तमाम दुनिया में ईमान का जिल्वा होगा। कुफ्फार सब दाखिले-दोजख होंगे और पयगम्बरे आखिरुल् जमाँ सल्लल्लाह अल्लेहुसल्लम का दीन तमाम रूए जमीन पर फैल जायगा।

अमीर—आमीं आमीं ।

काजी—मगर मेरी राय है कि और गुफ्तगू के पेश्तर शुक्रिया अदा किया जाय, क्योंकि जिस हकतआला की मिहरबानी

मे यह फतह हासिल हुई है सबके पहले उस खुदा का शुक्र अदा करना जरूर है।

सब—बेशक, बेशक।

(काजी उठकर सबके आगे घुटने के बल झुकता है और फिर अमीर आदि भी उसके साथ झुकते हैं)

काजी—(हाथ उठाकर) काफ़िर पं मुसलमाँ को फतहयाब बनाया।

सब—(हाथ उठाकर) अलहम्दु उलिल्लाह।

काजी—की मेह्र बड़ी तूने य बस मेरे खुदाया।

सब—अलहम्दु उलिल्लाह।

काजी—सदके में नबी सैयदे मक्की मदनी के, अतफाले अली के, असहाव के, लश्कर मेरा दुश्मन से बचाया।

सब—अलहम्दु उलिल्लाह।

काजी—खाली किया इक आन में दैरों को सनम से, शमशीर दिखाके, बुतखानः गिरा करके हरम तू ने बनाया।

सब—अलहम्दु उलिल्लाह।

काजी—इस हिंद से सब दूर हुई कुफ्र की जुलमत, की तूने व रहमत, नक्कारए ईमाँ को हरेक सिम्त बजाया।

सब—अलहम्दु उलिल्लाह।

काजी—गिरकर न उठे काफिरे बदकार जमीं से, ऐसे हुए गारत। आमीं कहो—।

सब—आमीं।

काजी—मेरे महबूब खुदाया।

सब—अलहम्दु उलिल्लाह।

(जवनिका गिरती है)

— ——

सातवाँ दृश्य

स्थान—कैदखाना

(महाराज सूर्यदेव एक लोहे के पिंजड़े में मूर्छित पड़े हैं एक देवता सामने खड़ा होकर गाता है)

देवता—

(लावनी)

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा॥
अब सुख-सूरज को उदय नहीं इत ह्वैहै।
सो दिन फिर इत अब सपनेहूँ नहिं ऐहै॥
स्वाधीनपनो बल धीरज सबहि नसैहैं।
मंगलमय भारत भुव मसान ह्वै जैहै॥
दुख ही दुख करिहै चारहु ओर प्रकासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा।
इत कलह विरोध सबन के हिय घर करिहै।
मूरखता को तम चारहु ओर पसरिहै॥
वीरता एकता ममता दूर सिधरिहै।
तजि उद्यम सब ही दासवृत्ति अनुसरिहै।
ह्वै जैहैं चारहु बरन शूद्र बनि दासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा॥
ह्वैहैं इतके सब भूत - पिशाच - उपासी।
कोऊ बनि जैहैं आपुहि स्वयं प्रकासी॥

नसि जैहैं सगरे सत्य धर्म अविनासी।
निज हरि सों ह्वैहैं बिमुख भारत-भुवबासी॥
तजि सुपथ सबहि जन करिहैं कुपथ बिलासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा॥
अपनो वस्तुन कहँ लखिहैं सबहि पराई।
निज चाल छांड़ि गहिहैं औरन की धाई॥
तुरकन हित करिहैं हिंदू संग लराई।
यवनन के चरनहिं रहिहैं सीस चढ़ाई॥
तजि निज-कुल करिहैं नीचन संग निवासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा॥
रहे हमहुँ कबहुँ स्वाधीन आर्य बलधारी।
यह दैहैं जिय सों सब ही बात बिसारी॥
हरि-बिमुख, धरम बिनु, धन-बलहीन दुखारी।
आलसी मंद तन छीन छुधित संसारी॥
सुख सों सहिहैं सिर यवनपादुका त्रासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा॥

(जाता है)

सूर्य्य—(सिर उठाकर) यह कौन था ? इस मरते हुए शरीर पर इसने अमृत और विष दोनों एक साथ क्यों बरसाया ? अरे अभी तो यहीं खड़ा गा रहा था। अभी कहाँ चला गया ? निस्संदेह यह कोई देवता था। नहीं तो इस कठिन पहरे में कौन आ सकता है। ऐसा सुंदर रूप और ऐसा मधुर सुर और किसका हो सकता है। क्या कहता था ? 'अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा'। ऐं ! यह देव वाक्य क्या सचमुच सिद्ध होगा ? क्या अब भारत का

स्वाधीनता-सूर्य फिर न उदय होगा ? क्या हम क्षत्रिय राजकुमारों को भी अब दासवृत्ति करनी पड़ेगी ! हाय ! क्या मरते-मरते भी हमको यह वज्र शब्द सुनना पड़ा ? और क्या कहा, 'सुख सों सहिहैं सिर यवनपादुका त्रासा।' हाय ! क्या अब यहाँ यही दिन आवेंगे ? क्या भारतजननी अब एक भी वीर पुत्र न प्रसव करेगी ? क्या दैव को अब इस उत्तम भूमि की यही नीच गति करनी है ? हा ! मैं यह सुनकर क्यों नहीं मरा कि आर्यकुल की जय हुई और यवन सब भारतवर्ष से निकाल दिए गए। हाय !

(हाय-हाय करता और रोता हुआ मूर्छित हो जाता है)

(जवनिका पतन)

———

आँठवाँ दृश्य

स्थान—मैदान, वृक्ष

(एक पागल आता है)

पागल—मार मार मार—काट काट काट—ले ले ले—ईबी—सीबी—बीबी—तुरक तुरक तुरक—अरे आया आया आया—भागो भागो भागो (दौड़ता है) मार मार मार—और मार दे मार—जाय न जाय न—दुष्ट चांडाल गोभक्षी जवन—अरे हाँ रे जवन लाल डाढ़ी का जवन—बिना चोटी का जवन—हमारा सत्यानाश कर डाला। हमारा हमारा हमारा। इसी ने इसी ने—लेना, जाने न पावे। दुष्ट म्लेच्छ—हुँ! हम को राजा बनावेगा। छत्र चँवर मुरछल सिंहासन सब—पर जवन का दिया—मार मार मार—शस्त्र न हो तो मंत्र से मार। मार मार मार। हाँ ह्रीं ह्रूं फट चट पट—जवन पट—चट—छट पट अ ई ऊँ आकास बाँध पाताल—चोटी कटा निकाल। फूः—ह्राँ ह्रीं ह्रौं—जवन जवन मारय मारय उच्चाटय...बेधय बेधय...नाशय नाशय...फाँसय फाँसय—त्रासय त्रासय...स्वाहा फूः सब जवन स्वाहा फूः अब भी नहीं गया! मार मार मार। हमारा देश—हम राजा हम रानी। हम मंत्री। हम प्रजा। और कौन! मार मार मार। तलवार तलवार। टूट गई टूटी। टूटी से मार। ढेले से मार। हाथ से मार। मुक्का

जूता लात लाठी सोंटा ईंटा पत्थर—पानी सबसे मार। हम राजा हमारा देश हमारा भेस हमारा पेड़-पत्ता कपड़ा लत्ता छाता-जूता सब हमारा। ले चला ले चला। मार मार मार—जाय न जाय न—सूरज में जाय चंद्रमा में जाय तारा में जाय उतारा में जाय पारा में जाय जहाँ जाय वहीं पकड़—मार मार मार। मीयाँ मीयाँ चींयाँ चींयाँ चींयाँ। अल्ला अल्ला अल्ला हल्ला हल्ला हल्ला। मार मार मार। लोहे के नाती की दुम से मार। पहाड़ की स्त्री के दाँए से मार-मार मार—अंड का बंड का संड का खंड—धूप छाँह चना मोती अगहन पूस माघ कपड़ा लत्ता डोम चमार मार मार। ईंट की आँख में हाथी का बान—बंदर की थैली में चूने की कमान—मार मार मार—एक एक एक मिल मिल मिल छिप छिप छिप—खुल खुल खुल—मार मार मार—

(एक मियाँ को आता देखकर)

मार मार मार—मुसल मुसल मुसल—मान मान मान—सलाम सलाम सलाम कि मार मार मार—नबी नबी नबी—सबी सबी सबी—ऊँट के अंडे की चरबी का खर। कागज के धप्पे कर सप्पे की सर—मार मार मार।

(मियाँ के पास जाकर)

तुरुक तुरुक तुरुक—घुरुक घुरुक घुरुक—मुरुक मुरुक मुरुक—फुरुक फुरुक फुरुक—याम शाम लीम लाम ढाम—

(मियाँ को पकड़ने दौड़ता है)

मियाँ—(आप ही आप) यह तो बड़ी हत्या लगी। इससे कैसे पिंड छुटेगा। (प्रगट) दूर दूर।

पागल—दूर दूर दूर—चूर चूर चूर—मियाँ की डाढ़ी में दोजख की हूर—दन तड़ाक छू मियाँ की माई में मोर्यो की मूँ—मार मार मार—मियाँ ख़ार खार—

(मियाँ के पास जाकर अट्टहास करके)

रावण का साला दुर्योधन का भाई अमरूत के पेड़ को पसेरी बनाता है—अच्छा अच्छा—नहीं नहीं तैंने तो हमको उस दिन मारा था न ! हाँ हाँ यही है यही—जाने न पावे। मार मार—

(मियाँ की गरदन पकड़कर पटक देता है और छाती पर चढ़ कर बैठता है)

रावण का साला दिल्ली का नवाब वेद की किताब—बोल हम राजा कि तू राजा—(मियाँ की दाढ़ी पकड़कर खींचने से कृत्रिम डाढ़ी निकल आती है । विष्णुशर्मा को पहिचानकर अलग हो जाता है) रावण का साला मियाँ का भेस विष्णु के कान में सरमा का केस । मेरी शक्ति गुरु को भक्ति फुरो मंत्र ईश्वरोवाच डाढ़ी जगावे तो मियाँ साँच ।

(आँख से इंगित करता है)

मियाँ—(फिर डाढ़ी लगाकर) लाहौल वला कूवत क्या बेखबर पागल है। इसके घर के लोग इसके लौटने के मुन्तजिर हैं यह यहीं पड़ा है।

पागल—पड़ा घड़ा सड़ा—घूम घाम जड़ा—एक एक बात—जात सात धात—नास नास नास—घास ख़ात फास।

मियाँ—क्या सचमुच—दरहक़ीकत—यह बड़ा भारी पागल है।

पागल—सचमुच नास—ध्वजा अकास—ढाल वे ढाल मियाँ मतवाल।

(आँख से दूर जाने को इंगित करता है। मियाँ आगे बढ़ते हैं—यह पीछे धूलताक फे दौड़ता है)

मार मार मार। बरछा की धार। लेना जाने न पावे। मियाँ का खच्चर। (दोनों एकांत में जाकर खड़े होते हैं)

मियाँ—(चारों ओर देखकर) अरे वसंत! क्या सचमुच सर्वनाश हो गया?

पागल—पंडितजी! कल सवेरी रात ही महाराज ने प्राण त्याग किए। (रोता है)

मियाँ—हाय! महाराज, हम लोगों को आप किसके भरोसे छोड़ गए! अब हमको इन नीचों का दासत्व भोगना पड़ेगा! हाय! (चारों ओर देखकर) हाँ, समाचार तो कहो क्या हुआ।

पागल—कल उन दुष्ट यवनों ने महाराज से कहा कि तुम जो मुसलमान हो जाओ तो हम तुमको अब भी छोड़ दें। इस समय वह दुष्ट अमीर भी वहीं खड़ा था। महाराज ने लोहे के पिंजड़े में से उसके मुँह पर थूक दिया, और क्रोध करके कहा कि दुष्ट! हमको पिंजड़े में बन्द और परवश जानकर ऐसी बात कहता है। क्षत्री कहीं प्राण के भय से दीनता स्वीकार करते हैं! तुझ पर थू और तेरे मत पर थू।

मियाँ—(घबड़ाकर) तब तब।

पागल—इस पर सब यवन बहुत बिगड़े। चारों ओर से पिंजड़े के भीतर शस्त्र फेंकने लगे। महाराज ने कहा इस बंधन में मरना अच्छा नहीं। बड़े बल से लोहे के पिंजड़े का डंडा खींचकर उखाड़ लिया और पिंजड़े के बाहर निकल उसी लोहे के डंडे से सत्ताईस यवनों को मारकर उन दुष्टों के हाथ से प्राण त्याग किए। हाय! (रोता है)

मियाँ—(चारों ओर देखकर) और अब क्या होता है ? महाराज का शरीर कहाँ है ? तुमने यह सब कैसे जाना ?

पागल—सब इन्हीं दुष्टों के मुख से सुना। इसी भेष में घूमते हैं। महाराज का शरीर अभी पिंजड़े में रक्खा है। कल जशन होगा। कल शराब पीकर मस्त होंगे। (चारों ओर देखकर) कल ही अवसर है।

मियाँ—तो कुमार सोमदेव और महारानी से हम जाकर यह वृत्त कह देते हैं, तुम इन्हीं लोगों में रहना।

पागल—हाँ, हम तो यहीं हुई हैं। (रोकर) हम अब स्वामी के बिना वहाँ जाकर हो क्या करेंगे !

मियाँ—हाय ! अब भारत की कौन गति होगी ? अब त्रैलोक्य-ललाम सुता भारत-कमलिनी को यह दुष्ट यवन यथासुख दलन करेंगे। अब स्वाधीनता का सूर्य हम लोगों में फिर न प्रकाश करेगा। हाय ! परमेश्वर तू कहाँ सो रहा है। हाय ! धार्मिक वीर पुरुष की यह गति !

(उदास स्वर से गाता है)

(विहाग)

कहाँ करुनानिधि केसव सोए !
जागत नेक न जदपि बहुत बिधि भारतवासी रोए ॥
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारतहित बिसराए।
इतके पशु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए ॥
इक इक दीन हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई।
अपनी संपति जानि इनहि तुम रछ्यो तुरंतहि धाई ॥
प्रलयकाल सम जौन सुदरसन असुर-प्रानसंहारी।
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी बेर मुरारी ॥

दुष्ट जवन बरबर तुव संतति घास साग सम काटैं।
एक-एक दिन सहस-सहस नर-सीस काटि भुव पाटैं ॥
ह्वै अनाथ आरत कुल-विधवा बिलपहिं दीन दुखारी।
बल करि दासी तिनहिं बनावहिं तुम नहिं लजत खरारी ॥
कहाँ गए सब शास्त्र कही जिन भारी महिमा गाई।
भक्तबछल करुनानिधि तुम कहँ गायो बहुत बनाई ॥
हाय सुनत नहिं निठुर भए क्यों परम दयाल कहाई।
सब बिधि बूड़त लखि निज देसहि लेहु न अबहुँ बचाई ॥

(दोनों रोते हैं)

(जवनिका पतन)

———

नवाँ दृश्य

स्थान—राजा सूर्यदेव के डेरे

(एक भीतरी डेरे में रानी नीलदेवी बैठी हैं और बाहरी डेरे में छत्री लोग पहरा देते हैं)

नील०—(गाती और रोती हुई)

तजा मोहि काके ऊपर नाथ !
मोहि अकेली छोड़ि गए तजि बालपने को साथ ॥
याद करहु जा अगिनि साखि दै पकर्यो मेरो हाथ।
सो सब मोह आज तजि दीनो कीनो हाय अनाथ
प्यारे क्यों सुधि हाय बिसारी ?
दीन भई बिछुरी हम डोलत हा हा होय तुमारी ॥
कबहुँ कियो आदर जा तन को तुम निज हाथ पियारे।
ताही को अब दीन दसा यह कैसे लखत दुलारे ॥
आदर के धन सम जा तन कहँ निज अंकम तुम धार्यो।
ताही कहँ अब पर्यो धूर में कैसे नाथ निहार्यो ॥
प्यारे कितै गई सा प्रीति ?
निठुर होइ तजि मोहि सिधारे नेह निबाहन रीति ॥
कह्यो रह्यो जो छिन नहिं तजिहैं मानहु बचन प्रतीति।
सो मोहि जीवन लौं दुख दीनो करी हाय बिपरीति ॥

(कुमार सोमदेव चार राजपूतों के साथ बाहरी डेरे में आते हैं)

सोम०—भाइयो ! महाराज का समाचार तो आप लोगों ने सुना। अब कहिए क्या कर्त्तव्य है ? मेरी तो शोक से

मति विकल हो रही है। आप लोगों की जो अनुमति हो, किया जाय।

प० राज०—कुमार! आप ऐसी बात कहेंगे कि शोक से मति विकल हो रही है तो भारतवर्ष किसका मुँह देखेगा! इस शोक का उत्तर हम लोग अश्रुधारा से न देकर कृपाणधारा से देंगे।

दू० राज०—बहुत अच्छा!!! उन्मत्त सिंह, तुमने बहुत अच्छा कहा। इन दुष्ट चांडाल यवनों के रुधिर से हम जब तक अपने पितरों का तर्पण न कर लेंगे, हम कुमार की शपथ करके प्रतिज्ञा करके कहते हैं कि हम पितृ-ऋण से कभी उऋण न होंगे।

ती० राज०—शाबाश! विजयसिंह, ऐसा ही होगा। चाहे हमारा सर्वस्व नाश हो जाय परंतु आकल्पांत लोहलेखनी से हमारी यह प्रतिज्ञा दुष्ट यवनों के हृदय पर लिखी रहेगी। धिक्कार है उस क्षत्रियाधम को जो इन चांडालों के मूलनाश में न प्रवृत्त हो।

चौ० राज०—शत बार धिक्कार है सहस्र बार धिक्कार है उसको जो मनसा, वाचा, कर्मणा किसी तरह इन कापुरुषों से डरे। लक्ष बार कोटि बार धिक्कार है उसको जो इन चांडालों के दमन करने में तृण-मात्र भी त्रुटि करे। (बायाँ पैर आगे बढ़ाकर) म्लेच्छ-कुल के और उसके पक्षपातियों के सिर पर यह मेरा बाँया पैर है, जो शरीर के हजार टुकड़े होने तक ध्रुव की भाँति निश्चल है, जिस पामर को कुछ भी सामर्थ्य हो हटावे।

सोम०—धन्य आर्यवीर पुरुषगण! तुम्हारे सिवा और कौन ऐसी बात कहेगा। तुम्हारी ही भुजा के भरोसे हम लोग राज्य करते हैं। यह तो केवल तुम लोगों का जी देखने को मैंने कहा था। पिता की वीरगति का शोच किस क्षत्रिय को होगा? हाँ, जो हम लोग इन दुष्ट यवनों का दमन न करके दासत्व स्वीकार करें तो निस्संदेह दुःख हो। (तलवार खींचकर) भाइयो! चलो इसी क्षण हम लोग उस पामर नीच यवन के रक्त से अपने आर्य पितरों को तृप्त करें।

चलहु वीर उठि तुरत सबै जय-ध्वजहि उड़ाओ।
लेहु म्यान सों खड्ग खींचि रनरंग जमाओ॥
परिकर कसि कटि उठो धनुष पै धरि सर साधौ।
केसरिया बानो सजि सजि रनकंकन बाँधौ॥
जौ आरजगन एक होइ निज रूप सम्हारैं।
तजि गृहकलहहिं अपनी कुल-मरजाद विचारैं॥
तौ ये कितने नीच कहा इनको बल भारो।
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मँझारो॥
पदतल इन कहँ दलहु कीट त्रिन सरिस जवनचय।
तनिकहु संक न करहु धर्म जित जय तित निश्चय॥
आर्य वंश को वधन पुन्य जा अधम धर्म मैं।
गोभक्षन द्विज-श्रुति-हिंसन नित जासु कर्म मैं॥
तिनको तुरितहिं हतौ मिलैं रन कै घर माहीं।
इन दुष्टन सों पाप कियेहूँ पुन्य सदाहीं॥
चिउँटिहु पदतल दबे डसत है तुच्छ जंतु इक।
ये प्रतच्छ अरि इनहिं उपेछै जौन ताहि धिक॥

धिक तिन कहँ जे आर्य होइ जवनन को चाहैं।
धिक तिन कहँ जे इनसों कछु संबंध निबाहैं॥
उठहु बीर तरवार खींचि मारहु घन संगर।
लोह-लेखनी लिखहु आर्य-बल जवन-हृदय पर॥
मारू बाजे बजैं कहौ धौंसा घहराहीं।
उड़हिं पताका सत्रु-हृदय लखि-लखि थहराहीं॥
चारन बोलहिं आर्य-सुजस बंदी गुन गावैं।
छुटहिं तोप घनघोर सबै बंदूक चलावैं॥
चमकहिं असि भाले दमकहिं ठनकहिं तन बखतर।
हींसहिं हय झनकहिं रथ गज चिक्करहिं समर थर॥
छन महँ नासहिं आर्य नीच जवनन कहँ करि छय।
कहहु सबै भारत जय भारत जय भारत जय॥

सब वीर—भारतवर्ष की जय—आर्यकुल की जय—महाराज सूर्य्यदेव की जय—महारानी नीलदेवी की जय—कुमार सोमदेव की जय—क्षत्रियवंश की जय।

(आगे-आगे कुमार उसके पीछे तलवार खींचकर क्षत्रिय लोग चलते हैं। रानी नीलदेवी बाहर के घर में आती हैं)

नील०—पुत्र की जय हो। क्षत्रिय-कुल की जय हो। बेटा, एक बात हमारी सुन लो तब युद्ध-यात्रा करो।

सोम०—(रानी को प्रणाम करके) माता! जो आज्ञा हो।

नील०—कुमार, तुम अच्छी तरह जानते हो कि यवन-सेना कितनी असंख्य है और यह भी भली भाँति जानते हो कि जिस दिन महाराज पकड़े गए उसी दिन बहुत से राजपूत निराश होकर अपने-अपने घर चले गए। इससे मेरी

बुद्धि में यह बात आती है कि इनसे एक ही बेर सम्मुख युद्ध न करके कौशल से लड़ाई करना अच्छी बात है।

सोम०—(कुछ क्रोध करके) तो क्या हम लोगों में इतनी सामर्थ्य नहीं कि यवनों को युद्ध में लड़कर जीतें ?

सब क्षत्री—क्यों नहीं !

नील०—(शांत भाव से) कुमार, तुम्हारी सर्वदा जय है। मेरे आशीर्वाद से तुम्हारा कहीं पराजय नहीं है। किंतु मा की आज्ञा मानना भी तो तुमको योग्य है।

सब क्षत्री—अवश्य, अवश्य।

सोम०—(हाथ जोड़कर) मा, जो आज्ञा होगी वही करूँगा !

नील०—अच्छा सुनो। (पास बुलाकर कान में सब विचार कहती हैं)

(एक ओर से कुमार और दूसरी ओर से रानी जाती हैं)

(पटाक्षेप)

दसवाँ दृश्य

स्थान—अमीर की मजलिस

(अमीर गद्दी पर बैठा है। दो-चार सेवक खड़े हैं। दो-चार मुसाहिब बैठे हैं। सामने शराब के पियाले, सुराही, पानदान, इतरदान रखा है। दो गवैए सामने गा रहे हैं। अमीर नशे में झूमता है)

गवैए—आज यह फ़तह का दरबार मुबारक होए।
मुल्क यह तुझको शहरयार मुबारक होए॥
शुक्र सद शुक्र कि पकड़ा गया वह दुश्मने-दीन।
फ़तह अब हमको हरेक बार मुबारक होए॥
हमको दिन-रात मुबारक हो फ़तह ऐशोउरूज।
काफ़िरों को सदा फिटकार मुबारक होए॥
फ़तहे पंजाब से सब हिंद की उम्मीद हुई।
मोमिनो नेक य आसार मुबारक होए॥
हिंदू गुमराह हों बेज़र हों बनें अपने गुलाम।
हमको ऐशो तरबोतार मुबारक होए॥

अमीर—आमीं आमीं। वाह-वाह वल्लाह खूब गाया। कोई है ? इन लोगों को एक-एक जोड़ा दुशाला इनआम दो। (मद्यपान)

(एक नौकर आता है)

नौकर—खुदावंद निआमत ! एक परदेस की गानेवाली बहुत ही अच्छी खेमे के दरवाजे पर हाजिर है। वह चाहती है

कि हुजूर को कुछ अपना करतब दिखलाए। जो इरशाद हो बजा लाऊँ।

अमीर—जरूर लाओ। कहो साज मिलाकर जल्द हाजिर हो।

नौकर—जो इरशाद। [जाता है

अमीर—आज के जशन का हाल सुनकर दूर-दूर से नाचने-गानेवाले चले आते हैं।

मुसाहिब—बजा इरशाद है, और उनको इनआम भी तो बहुत जियादः मिलता है, न क्यों आवें?

(चार समाजियों के साथ एक गायिका का प्रवेश)

अमीर—(आप ही आप) यह तायफा तो बहुत ही खूबसूरत है! (प्रगट) तुम्हारा क्या नाम है? (मद्यपान)

गायिका—मेरा नाम चंडिका है। मैं बड़ी दूर से आपका नाम सुनकर आती हूँ।

अमीर—बहुत अच्छी बात है। जल्द गाना शुरू करो। तुम्हारा गाना सुनने का मेरा इश्तियाक हर लहजे बढ़ाता जाता है। जैसी तुम खूबसूरत हो वैसा ही तुम्हारा गाना भी खूबसूरत होगा। (मद्यपान)

गायिका—जो हुकुम। (गाती है)

(ठुमरी तिताला)

हाँ, मोसे सेजिया चढ़लि नहिं जाई हो।
पिय बिनु साँपिन सी डसै बिरह रैन॥
छिन-छिन बढ़त बिथा तन सजनी,
कटत न कठिन बियोग की रजनी।
बिनु हरि अति अकुलाई हो॥

अमीर—वाह-वाह क्या कहना है ! (मद्यपान) क्यों फिदाहुसैन ! कितना अच्छा गाया है ।

मुसाहिब—सुबहानअल्लाह ! हुजूर क्या कहना है । वल्लाह मेरा तो क्या जिक्र है मेरे बुजुर्गों ने ख्वाब में भी ऐसा गाना नहीं सुना था ।

(अमीर अँगूठी उतारकर देना चाहता है)

गायिका—मुझको अभी आपसे बहुत कुछ लेना है । अभी आप इसको अपने पास रखें, अखीर में एक साथ मैं सब ले लूँगी ।

अमीर (मद्यपान करके) अच्छा ! कुछ परवाह नहीं । हाँ, इसी धुन को एक और हो; मगर उसमें फुरकत का मजमून न हो क्योंकि आज खुशी का दिन है ।

गायिका—जो हुकुम । (उसी चाल में गाती है)

जाओ जाओ काहे आओ प्यारे कतराए हो ।
काहे चलो छाँह से छाँह मिलाए हो ॥
जिय को मरम तुम साफ कहत किन काहे फिरत मँडराए हो ।
एहो हरि देखि यह नयो मेरो जोबन हम जानी तुम जो लुभाए हो ॥

अमीर—(मद्यपान करके अत्यंत रीझना नाट्य करता है) कसम खुदा की ऐसा गाना मैंने आज तक नहीं सुना था । दरहकीकत हिंदोस्तान इल्म का खजाना है । वल्लाह, मैं बहुत ही खुश हुआ ।

(मुसाहिबगण वल्लाह, बजा इरशाद, बेशक इत्यादि सिर और दाढ़ी हिला-हिलाकर कहते हैं)

अमीर—तुम शराब नहीं पीतीं ?

गायिका—नहीं हुजूर ।

अमीर—तो आज हमारी खातिर से पीओ।

गायिका—अब तो आपके यहाँ आई ही हूँ; ऐसी जल्दी क्या है। जो-जो हुजूर कहेंगे सब करूँगी।

अमीर—अच्छा कुछ परवाह नहीं। (मद्यपान) थोड़ा और आगे बढ़ आओ।

(गायिका आगे बढ़कर बैठती है)

अमीर—(खूब घूरकर स्वगत) हाय-हाय! इसको देखकर मेरा दिल बिलकुल हाथ से जाता रहा। जिस तरह हो, आज ही इसको काबू में लाना जरूरी है। (प्रगट) वल्लाह, तुम्हारे गाने ने मुझको बेअख्तियार कर दिया है। एक चीज और गाओ इसी धुन की। (मद्यपान)

गायिका—जो हुकुम। (गाती है)

हाँ गरवा लगावै गिरधारी हो, देखो सखी लाज सरम सब जग की,
छाड़ि चट निपट निलज मुख चूमै बारी बारी।
अति मदमातो हरि कछु न गिनत छैल बरजि रही मैं होइ होइ बलिहारी।
अब कहाँ जाऊँ कहा करूँ लाज की मैं मारी!

अमीर—(मद्यपान करके उन्मत्त की भाँति) वाह-वाह! क्या कहना है। (गिलास हाथ में उठाकर) एक गिलास तो अब तुमको जरूर ही पीना होगा। लो तुमको मेरी कसम, वल्लाह मेरे सिर की कसम जो न पी जाओ।

गायिका—हुजूर, मैंने आज तक शराब नहीं पी है। मैं जो पीऊँगी तो बिल्कुल बेहोश हो जाऊँगी।

अमीर—कुछ परवाह नहीं, पीओ।

गायिका—(हाथ जोड़कर) हुजूर, एक दिन के वास्ते शराब पीकर मैं क्यों अपना ईमान छोड़ूँ?

अमीर—नहीं-नहीं, तुम आज से हमारी नौकर हुई, जो तुम चाहोगी तुमको मिलेगा। अच्छा, हमारे पास आओ। हम तुमको अपने हाथ से शराब पिलावेंगे।

(गायिका अमीर के अति निकट बैठती है)

अमीर—लो जान साहब!

(पियाला उठाकर अमीर जिस समय गायिका के पास ले जाता है उसी समय गायिका बनी हुई नीलदेवी चोली से कटार निकालकर अमीर को मारती है और चारों समाजी बाजा फेंककर शस्त्र निकालकर मुसाहिब आदि को मारते हैं।)

नीलदेवी—ले चंडाल पापी! मुझको जान साहब कहने का फल ले, महाराज के वध का बदला ले। मेरी यही इच्छा थी कि मैं इस चांडाल का अपने हाथ से वध करूँ। इसी हेतु मैंने कुमार को लड़ने से रोका, सो इच्छा पूर्ण हुई। (और अघात) अब मैं सुखपूर्वक सती हूँगी।

अमीर—(मृतावस्था में) दगा—वल्लाह चंडिका—

(रानी नीलदेवी ताली बजाती है। तंबू फाड़कर शस्त्र खींचे हुए कुमार सोमदेव राजपूतों के साथ आते हैं। मुसलमानों को मारते और बाँधते हैं। क्षत्री लोग भारतवर्ष की जय; आर्यकुल की जय; क्षत्रियवंश की जय; महाराज सूर्यदेव की जय; महारानी नीलदेवी की जय; कुमार सोमदेव की जय; इत्यादि शब्द करते हैं)

(पटाक्षेप)

—:o:—

अंधेर-नगरी

चौपट्ट राजा

टके सेर भाजी टके सेर खाजा

प्रहसन

संवत् १९३८

समर्पण

मान्य योग्य नहिं होत कोऊ कोरा पद पाए।
मान्य योग्य नर ते, जे केवल परहित जाए॥
जे स्वारथ-रत धूर्त हंस से काक-चरित-रत।
ते औरन हति बंचि प्रभुहिं नित होहिं समुन्नत॥
जदपि लोक की रीति यही पै अंत धर्म जय।
जौ नाहीं यह लोक तदपि छलियन अति जम भय॥
नरसरीर में रत्न वही जो परदुख साथी।
खात पियत अरु स्वसत स्वान मंडुक अरु भाथी।
तासों अब लों करी, करी सो, पै अब जागिय।
गो श्रुति भारत देस समुन्नति में नित लागिय॥
साँच नाम निज करिय कपट तजि अंत बनाइय।
नृप तारक हरि-पद भजि साँच बड़ाई पाइय॥

ग्रंथकार।

छेदश्चंदनचूतचम्पकवने रक्षा करीरद्रुमे
हिंसा हंसमयूरकोकिलकुले काकेषु लीलारतिः ।
मातङ्गेन खरक्रयः समतुला कर्पूरकार्पासयोः
एषा यत्र विचारणा गुणिगणे देशाय तस्मै नमः ॥ *

---

* चंदन, आम तथा चंपा के वन को काटकर करीर वृक्ष की जो रक्षा करता है ; हंस, मोर तथा कोयल को मार कर कौए की लीला में प्रेम रखता है ; हाथी देकर गदहा खरीदता है और कपूर तथा कपास को समान समझता है । जहाँ के गुणी लोगों के ऐसे विचार हों उस देश को नमस्कार है ।

अंधेर-नगरी

चौपट्ट राजा

टके सेर भाजी टके सेर खाजा

पहला अंक

स्थान—बाह्य प्रांत

(महंतजी दो चेलों के साथ गाते हुए आते हैं)

सब—राम भजो राम भजो राम भजो भाई।
राम के भजे से गनिका तर गई,
राम के भजे से गीध गति पाई।
राम के नाम से काम बनै सब,
राम के भजन बिनु सबहि नसाई।
राम के नाम से दोनों नयन बिनु,
सूरदास भए कबिकुल-राई॥
राम के नाम से घास जंगल की,
तुलसीदास भए भजि रघुराई॥

महंत—बच्चा नारायणदास, यह नगर तो दूर से बड़ा सुंदर दिखलाई पड़ता है! देख, कुछ भिच्छा-उच्छा मिलै तो ठाकुरजी को भोग लगै। और क्या।

नारायण०—गुरुजी महाराज, नगर तो नारायण के आसरे से बहुत ही सुंदर है जो है सो, पर भिच्छा सुंदर मिलै तो बड़ा आनंद होय।

महंत—बच्चा गोबरधनदास, तू पच्छिम की ओर से जा और नारायणदास पूरब की ओर जायगा। देख, जो कुछ सीधा-सामग्री मिले तो श्रीशालग्रामजी का बालभोग सिद्ध हो।

गोबरधन०—गुरुजी, मैं बहुत सी भिच्छा लाता हूँ। यहाँ के लोग तो बड़े मालवर दिखलाई पड़ते हैं। आप कुछ चिंता मत कीजिए।

महंत—बच्चा बहुत लोभ मत करना। देखना, हाँ—

लोभ पाप को मूल है, लोभ मिटावत मान।
लोभ कभी नहिं कीजिए, यामैं नरक निदान॥

(गाते हुये सब जाते हैं)

———

दूसरा अंक

स्थान—बाजार

कबाबवाला—कबाब गरमागरम मसालेदार—चौरासी मसाला बहत्तर आँच का—कबाब गरमागरम मसालेदार—खाय सो होंठ चाटै, न खाय सो जीभ काटै। कबाब लो, कबाब का ढेर—बेचा टके सेर।

घासीराम—चने जोर गरम—

चने बनावै घासीराम। जिनकी झोली में दुकान॥
चना चुरमुर चुरमुर बोलै। बाबू खाने को मुँह खोलै॥
चना खावैं तौकी, मैना। बोलैं अच्छा बना चबैना॥
चना खायँ गफूरन, मुन्ना। बोलैं और नहीं कुछ सुन्ना॥
चना खाते सब बंगाली। जिनकी धोती ढीली-ढाली॥
चना खाते मियाँ जुलाहे। डाढ़ी हिलती गाह बगाहे॥
चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते॥
चने जोर गरम—टके सेर।

नरंगीवाली—नरंगी ले नरंगी—सिलहट की नरंगी, बुटवल की नरंगी। रामबाग की नरंगी, आनंदबाग की नरंगी। भई नीबू से नरंगी। मैं तो पिय के रंग न रंगी। मैं तो भूली लेकर संगी। नरंगी ले नरंगी। कँवला नीबू, मीठा नीबू, रंगतरा, संगतरा। दोनों हाथों लो—नहीं पीछे हाथ ही मलते रहोगे। नरंगी ले नरंगी। टके सेर नरंगी।

हलवाई—जलेबियाँ गरमागरम। ले सेब इमरती लड्डू गुलाब-जामुन खुरमा बुँदिया बरफी समोसा पेड़ा कचौड़ी दालमोट पकौड़ी घेवर गुपचुप। हलुआ ले हलुआ मोहनभोग। मोयनदार कचौड़ी कचाका हलुआ नरम चभाका। घी में गरक चीनी में तरातर चासनी में चभाचभ। ले भूर का लड्डू। जो खाय सो भी पछताय। जो न खाय सो भी पछताय। रेवड़ी कड़ाका। पापड़ पड़ाका। ऐसी जात हलवाई जिसके छत्तिस कौम हैं भाई। जैसे कलकत्ते के विलसन मंदिर के भितरिए, वैसे अंधेर-नगरी के हम। सब सामान ताजा। खाजा ले खाजा। टके सेर खाजा।

कुँजड़िन—ले धनिया मेथी सोआ-पालक चौराई बथुवा करेमू नोनियाँ कुलफा कसारी चना सरसों का साग। मरसा ले मरसा। ले बैंगन लौआ कोंहड़ा आलू अरुई बंडा नेनुआ सूरन रामतरोई तरोई मुरई। ले आदी मिरचा लहसुन पियाज टिकोरा। ले फालसा खिरनी आम अमरूत निबुआ मटर होरहा। जैसे काजी वैसे पाजी। रैयत राजी टके सेर भाजी। ले हिंदुस्तान का मेवा फूट और बैर।

मुगल—बादाम पिस्ते अखरोट अनार विहीदाना मुनक्का किशमिश अंजीर आबजोश आलूबोखारा चिलगोजा सेब नाशपाती बिही सरदा अंगूर का पिटारी। आमारा ऐसा मुल्क जिसमें अँगरेज का भी दाँत कट्टा ओ गया। नाहक को रुपया खराब किया बेवकूफ बना। हिंदोस्तान का आदमी लक-लक हमारे यहाँ का आदमी बुंबक बुंबक। लो सब मेवा टके सेर।

पाचकवाला—

चूरन अलमबेद का भारी। जिसको खाते कृष्ण मुरारी॥
मेरा पाचक है पचलोना। जिसको खाता श्याम सलोना॥
चूरन बना मसालेदार। जिसमें खट्टे की बहार॥
मेरा चूरन जो कोइ खाय। मुझको छोड़ कहीं नहिं जाय॥
हिंदू चूरन इसका नाम। बिलायत पूरन इसका काम॥
चूरन जब से हिंद में आया। इसका धन बल सभी घटाया॥
चूरन ऐसा हट्टा-कट्टा। कीना दाँत सभी का खट्टा॥
चूरन चला डाल की मंडी। इसको खाएँगी सब रंडी॥
चूरन अमले सब जो खावैं। दूनी रिशवत तुरत पचावैं॥
चूरन नाटकवाले खाते। इसकी नकल पचाकर लाते॥
चूरन सभी महाजन खाते। जिससे जमा हजम कर जाते॥
चूरन खाते लाला लोग। जिनको अकिल अजीरन रोग॥
चूरन खावैं एडिटर जात। जिनके पेट पचै नहिं बात॥
चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिंद हजम कर जाता॥
चूरन पुलिसवाले खाते। सब कानून हजम कर जाते॥
ले चूरन का ढेर, बेचा टके सेर।

मछलीवाली—मछरी ले मछरी।

मछरिया एक टके कै बिकाय।
लाख टका कै बाला जोबन, गाहक सब ललचाय॥
नैन-मछरिया रूप-जाल में, देखत ही फँसि जाय।
बिनु पानी मछरी सो बिरहिया, मिले बिना अकुलाय॥

जातवाला (ब्राह्मण)—जात ले जात, टके सेर जात। एक टका दो, हम अभी अपना जात बेचते हैं। टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायँ और धोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें। टके के वास्ते झूठ को सच

करें। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिंदू से क्रिस्तान। टके के वास्ते धर्म्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचें, टके के वास्ते झूठी गवाही दें। टके के वास्ते पाप को पुण्य मानें, टके के वास्ते नीच को भी पितामह बनावें। वेद धर्म्म कुल-मरजादा सचाई-बड़ाई सब टके सेर। लुटाय दिया अनमोल माल। ले टके सेर।

बनियाँ—आँटा दाल लकड़ी नमक घी चीनी मसाला चावल ले टके सेर।

(बाबाजी का चेला गोबरधनदास आता है और सब बेचनेवालों की आवाज सुन-सुनकर खाने के आनंद में बड़ा प्रसन्न होता है)

गोबरधन०—क्यों भाई बनिये, आँटा कितने सेर?

बनियाँ—टके सेर।

गोबरधन०—औ चावल?

बनियाँ—टके सेर।

गोबरधन०—औ चीनी?

बनियाँ—टके सेर।

गोबरधन०—औ घी?

बनियाँ—टके सेर।

गोबरधन—सब टके सेर! सचमुच।

बनियाँ—हाँ महाराज, क्या झूठ बोलूँगा!

गोबरधन०—(कुँजड़िन के पास जाकर) क्यों भाई, भाजी क्या भाव?

कुँजड़िन—बाबाजी, टके सेर। निनुआ मुरई धनियाँ मिरचा साग सब टके सेर।

गोबरधन०—सब भाजी टके सेर! वाह-वाह! बड़ा आनंद है। यहाँ सभी चीज टके सेर। (हलवाई के पास जाकर) क्यों भाई हलवाई! मिठाई कितने सेर?

हलवाई—बाबाजी ! लडुआ जलेबी गुलाबजामुन खाजा सब टके सेर।

गोबरधन०—वाह ! वाह !! बड़ा आनंद है। क्यों बच्चा, मुझसे मसखरी तो नहीं करना ? सचमुच सब टके सेर ?

हलवाई—हाँ बाबाजी, सचमुच सब टके सेर। इस नगरी की चाल ही यही है। यहाँ सब चीज टके सेर बिकती है।

गोबरधन०—क्यों बच्चा ! इस नगरी का नाम क्या है ?

हलवाई—अंधेरनगरी।

गोबरधन०—और राजा का क्या नाम है ?

हलवाई—चौपट्ट राजा।

गोबरधन०—वाह ! वाह ! अंधेर नगरी चौपट्ट राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा। (यही गाता है और आनंद से बगल बजाता है)

हलवाई—तो बाबाजी, कुछ लेना-देना हो तो लो-दो।

गोबरधन०—बच्चा, भिक्षा माँगकर सात पैसे लाया हूँ, साढ़े तीन सेर मिठाई दे दे, गुरु-चेले सब आनंदपूर्वक इतने में छक जायँगे।

(हलवाई मिठाई तौलता है—बाबाजी मिठाई लेकर खाते हुए और अंधेर-नगरी गाते हुए जाते हैं)

(जवनिका गिरती है)

तीसरा अंक

स्थान—जंगल

(महंतजी और नारायणदास एक ओर से "राम भजो" इत्यादि गाते हुए आते हैं और दूसरी ओर से गोबरधनदास 'अंधेरनगरी' गाते हुए आते हैं)

महंत—बच्चा गोबरधनदास ! कह, क्या भिक्षा लाया ? गठरी तो भारी मालूम पड़ती है।

गोबरधन०—बाबाजी महाराज ! बड़े माल लाया हूँ, साढ़े तीन सेर मिठाई है।

महंत—देखूँ बच्चा ! (मिठाई की झोली अपने सामने रखकर खोलकर देखता है) वाह ! वाह ! बच्चा ! इतनी मिठाई कहाँ से लाया ! किस धर्म्मात्मा से भेंट हुई ?

गोबरधन०—गुरुजी महाराज ! सात पैसे भीख में मिले थे, उसी से इतनी मिठाई मोल ली है।

महंत—बच्चा ! नारायणदास ने मुझसे कहा था कि यहाँ सब चीज टके सेर मिलती है, तो मैंने इसकी बात का विश्वास नहीं किया। बच्चा, यह कौन सी नगरी है और इसका कौन सा राजा है, जहाँ टके सेर भाजी और टके ही सेर खाजा है ?

गोबरधन०—अंधेरनगरी चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।

महंत—तो बच्चा! ऐसी नगरी में रहना उचित नहीं है, जहाँ टके सेर भाजी और टके ही सेर खाजा हो।

दोहा

सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास।
ऐसे देस कुदेस में, कबहुँ न कीजे बास॥
कोकिल बायस एक सम, पंडित मूरख एक।
इंद्रायन दाड़िम विषय जहाँ न नेकु बिवेक॥
बसिए ऐसे देस नहिं, कनक-बृष्टि जो होय;
रहिए तो दुख पाइए, प्रान दीजिए रोय॥

सो बच्चा चलो यहाँ से। ऐसी अंधेरनगरी में हजार मन मिठाई मुफ्त की मिले तो किस काम की? यहाँ एक छन नहीं रहना।

गोबरधन०—गुरुजी, ऐसा तो संसार भर में कोई देस ही नहीं है। दो पैसा पास रहने ही से मजे में पेट भरता है। मैं तो इस नगर को छोड़कर नहीं जाऊँगा। और जगह दिन भर माँगो तो भी पेट नहीं भरता। वरंच बाजे-बाजे दिन उपास करना पड़ता है। सो मैं तो यहीं रहूँगा।

महंत—देख बच्चा, पीछे पछतायगा।

गोबरधन०—आपकी कृपा से कोई दुख न होगा; मैं तो यही कहता हूँ कि आप भी यहीं रहिए।

महंत—मैं तो इस नगर में अब एक क्षण भर नहीं रहूँगा। देख, मेरी बात मान, नहीं पीछे पछताएगा। मैं तो जाता हूँ,

पर इतना कहे जाता हूँ कि कभी संकट पड़े तो हमारा स्मरण करना।

गोवरधन०—प्रणाम गुरुजी, मैं आपका नित्य ही स्मरण करूँगा। मैं तो फिर भी कहता हूँ कि आप भी यहीं रहिए।

(महंतजी नारायणदास के साथ जाते हैं, गोबरधनदास बैठकर मिठाई खाता है)

(जवनिका गिरती है)

चौथा अंक

स्थान—राजसभा

(राजा, मंत्री और नौकर लोग यथास्थान स्थित हैं)

एक सेवक—(चिल्लाकर) पान खाइए, महाराज ।

राजा—(पीनक से चौंक के घबड़ाकर उठता है) क्या कहा ? सुपनखा आई ए महाराज । (भागता है)

मंत्री—(राजा का हाथ पकड़कर) नहीं नहीं, यह कहता है कि पान खाइए महाराज ।

राजा—दुष्ट लुच्चा पाजी । नाहक हमको डरा दिया । मंत्री इसको सौ कोड़े लगें ।

मंत्री—महाराज ! इसका क्या दोष है ? न तमोली पान लगाकर देता, न यह पुकारता ।

राजा—अच्छा, तमोली को दो सौ कोड़े लगें ।

मंत्री—पर महाराज, आप पान खाइए सुनकर थोड़े ही डरे हैं, आप तो सुपनखा के नाम से डरे हैं, सुपनखा की सजा हो ।

राजा—(घबड़ाकर) फिर वही नाम ? मंत्री तुम बड़े खराब आदमी हो । हम रानी से कह देंगे कि मंत्री बेर-बेर तुमको सौत बुलाने चाहता है । नौकर ! नौकर ! शराब—

दूसरा नौकर—(एक सुराही में से एक गिलास में शराब उझलकर देता है) लीजिए महाराज । पीजिए महाराज ।

राजा—(मुँह बना-बनाकर पीता है) और दे।

(नेपथ्य में—'दुहाई है दुहाई' का शब्द होता है)

कौन चिल्लाता है—पकड़ लाओ।

(दो नौकर एक फर्यादी को पकड़ लाते हैं)

फ०—दोहाई है महाराज दोहाई है। हमारा न्याव होय।

राजा—चुप रहो। तुम्हारा न्याव यहाँ ऐसा होगा कि जैसा जम के यहाँ भी न होगा—बोलो क्या हुआ ?

फ०—महाराज ! कल्लू बनियाँ की दीवार गिर पड़ी सो मेरी बकरी उसके नीचे दब गई। दोहाई है महाराज, न्याव हो।

राजा—(नौकर से) कल्लू बनिये की दीवार को अभी पकड़ लाओ।

मंत्री—महाराज, दीवार नहीं लाई जा सकती।

राजा—अच्छा, उसका भाई, लड़का, दोस्त, आशना जो हो उसको पकड़ लाओ।

मंत्री—महाराज ! दीवार ईंट-चूने की होती है, उसको भाई-बेटा नहीं होता।

राजा—अच्छा, कल्लू बनिये को पकड़ लाओ। (नौकर लोग दौड़कर बाहर से बनिये को पकड़ लाते हैं) क्यों बे बनिये ! इसकी लरकी, नहीं बरकी क्यों दबकर मर गई ?

मंत्री—बरकी नहीं महाराज, बकरी।

राजा—हाँ हाँ, बकरी क्यों मर गई—बोल, नहीं अभी फाँसी देता हूँ।

कल्लू—महाराज ! मेरा कुछ दोष नहीं। कारीगर ने ऐसी दीवार बनाई कि गिर पड़ी।

राजा—अच्छा, इस मल्लू को छोड़ दो, कारीगर को पकड़ लाओ। (कल्लू जाता है, लोग कारीगर को पकड़कर लाते हैं) क्यों बे कारीगर ! इसकी बकरी किस तरह मर गई ?

कारीगर—महाराज, मेरा कुछ कसूर नहीं, चूनेवाले ने ऐसा बोदा चूना बनाया कि दीवार गिर पड़ी।

राजा—अच्छा, इस कारीगर को बुलाओ, नहीं नहीं निकालो, उस चूनेवाले को बुलाओ। (कारीगर निकाला जाता है, चूनेवाला पकड़कर लाया जाता है) क्यों बे खैर-सुपाड़ी-चूनेवाले ! इसकी कुबरी कैसे मर गई ?

चूनेवाला—महाराज ! मेरा कुछ दोष नहीं; भिश्ती ने चूने में पानी ढेर दे दिया, इसी से चूना कमजोर हो गया होगा।

राजा—अच्छा चुन्नीलाल को निकालो, भिश्ती को पकड़ो। (चूनेवाला निकाला जाता है, भिश्ती लाया जाता है) क्यों बे भिश्ती ! गंगा-जमुना की किश्ती ! इतना पानी क्यों दिया कि इसकी बकरी गिर पड़ी और दीवार दब गई ?

भिश्ती—महाराज ! गुलाम का कोई कसूर नहीं, कस्साई ने मसक इतनी बड़ी बना दी कि उसमें पानी जादे आ गया।

राजा—अच्छा, कस्साई को लाओ, भिश्ती निकालो। (लोग भिश्ती को निकालते हैं कस्साई को लाते हैं) क्यों बे कस्साई, मशक ऐसी क्यों बनाई कि दीवार लगाई बकरी दबाई ?

कस्साई—महाराज ! गँड़ेरिया ने टके पर ऐसी बड़ी भेड़ मेरे हाथ बेची कि उसकी मशक बड़ी बन गई।

राजा—अच्छा कस्साई को निकालो, गँड़ेरिए को लाओ ! (कस्साई निकाला जाता है, गँड़ेरिया आता है) क्यों बे ऊख पौंड़े के गँड़ेरिये, ऐसी बड़ी भेड़ क्यों बेचा कि बकरी मर गई ?

गँड़ेरिया—महाराज ! उधर से कोतवाल साहब की सवारी आई, सो उसके देखने में मैंने छोटी बड़ी भेड़ का ख्याल नहीं किया, मेरा कुछ कसूर नहीं।

राजा—अच्छा, इसको निकालो, कोतवाल को अभी सरबमुहर पकड़ लाओ। (गँड़ेरिया निकाला जाता है, कोतवाल पकड़ा आता है) क्यों बे कोतवाल ! तैंने सवारी ऐसी धूम से क्यों निकाली कि गँड़ेरिए ने घबड़ाकर बड़ी भेड़ बेची, जिससे बकरी गिरकर कल्लू बनियाँ दब गया ?

कोतवाल—महाराज महाराज ! मैंने तो कोई कसूर नहीं किया, मैं तो शहर के इंतजाम के वास्ते जाता था।

मंत्री—(आप ही आप) यह तो बड़ा गजब हुआ, ऐसा न हो कि यह बेवकूफ इस बात पर सारे नगर में फूँक दे या फाँसी दे। (कोतवाल से) यह नहीं, तुमने ऐसे धूम से सवारी क्यों निकाला ?

राजा—हाँ हाँ, यह नहीं, तुमने ऐसे धूम से सवारी क्यों निकाला कि उसकी बकरी दबी ?

कोतवाल—महाराज महाराज—

राजा—कुछ नहीं, महाराज महाराज ले जाओ, कोतवाल को अभी फाँसी दो। दरबार बरखास्त।

(लोग एक तरफ कोतवाल को पकड़कर ले जाते हैं, दूसरी ओर से मन्त्री को पकड़कर राजा जाते हैं)

(जवनिका गिरती है)

पाँचवाँ अंक

स्थान—अरण्य

(गोबरधनदास गाते हुए आते हैं)

(राग काफी)

अंधेर नगरी अनबूझ राजा । टका सेर भाजी टका सेर खाजा ॥
नीच ऊँच सब एकहि ऐसे । जैसे भँडुए पंडित तैसे ॥
कुल-मरजाद न मान बड़ाई । सबै एक से लोग-लुगाई ॥
जात-पांत पूछै नहिं कोई । हरि को भजै सो हरि का होई ॥
बेश्या जोरू एक समाना । बकरी गऊ एक करि जाना ॥
सांचे मारे मारे डोलैं । छली दुष्ट सिर चढ़ि चढ़ि बोलैं ॥
प्रगट सभ्य अंतर छलधारी । सोई राजसभा बल भारी ॥
सांच कहैं ते पनही खावैं । झूठे बहु बिधि पदवी पावैं ॥
छलियन के एका के आगे । लाख कहौ एकहु नहिं लागे ॥
भीतर होइ मलिन की कारो । चहिए बाहर रँग चटकारो ॥
धर्म अधर्म एक दरसाई । राजा करै सो न्याय सदाई ॥
भीतर स्वाहा बाहर सादे । राज करहिं अमले अरु प्यादे ॥
अंधाधुंध मच्यौ सब देसा । मानहुँ राजा रहत बिदेसा ॥
गो द्विज श्रुति आदर नहिं होई । मानहुँ नृपति बिधर्मी कोई ॥
ऊँच नीच सब एकहि सारा । मानहुँ ब्रह्म-ज्ञान बिस्तारा ॥
अंधेर नगरी अनबूझ राजा । टका सेर भाजी टका सेर खाजा ॥

(बैठकर मिठाई खाता है)

—गुरुजी ने हमको नाहक यहाँ रहने को मना किया था। माना कि देस बहुत बुरा है, पर अपना क्या ? अपने किसी राजकाज में थोड़े हैं कि कुछ डर है, रोज मिठाई चाभना, मजे में आनंद से रामभजन करना।

(मिठाई खाता है चार प्यादे चार ओर से आकर उसको पकड़ लेते हैं)

प० प्या०—चल बे चल, बहुत मिठाई खाकर मुटाया है । आज पूरी हो गई ।

दू० प्या०—बाबाजी चलिए, नमोनारायन कीजिए।

गोबरधन०—(घबड़ाकर) हैं ! यह आफत कहाँ से आई ! अरे भाई, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है जो मुझको पकड़ते हो ?

प० प्या०—आपने बिगाड़ा है या बनाया है इससे क्या मतलब, अब चलिए। फाँसी चढ़िए।

गोबरधन०—फाँसी ! अरे बाप रे बाप फाँसी ! मैंने किसकी जमा लूटी है कि मुझको फाँसी ! मैंने किसके प्राण मारे कि मुझको फाँसी !

दू० प्या०—आप बड़े मोटे हैं, इस वास्ते फाँसी होती है।

गोबरधन०—मोटे होने से फाँसी ? यह कहाँ का न्याय है ! अरे, हँसी फकीरों से नहीं करनी होती।

प० प्या०—जब सूली चढ़ लीजिएगा तब मालूम होगा कि हँसी है कि सच । सीधी राह से चलते हो कि घसीटकर ले चलें ?

गोबरधन०—अरे बाबा, क्यों बेकसूर का प्राण मारते हो ? भगवान के यहाँ क्या जवाब दोगे ?

प० प्या०—भगवान को जवाब राजा देगा। हमको क्या मतलब। हम तो हुक्मी बन्दे हैं।

गोबरधन०—तब भी बाबा बात क्या है कि हम फकीर आदमी को नाहक फाँसी देते हो ?

प० प्या०—बात यह है कि कल कोतवाल को फांसी का हुकुम हुआ था । जब फांसी देने को उसको ले गए, तो फांसी का फंदा बड़ा हुआ, क्योंकि कोतवाल साहब दुबले हैं। हम लोगों ने महाराज से अर्ज किया, इस पर हुकुम हुआ कि एक मोटा आदमी पकड़कर फांसी दे दो, क्योंकि बकरी मारने के अपराध में किसी न किसी को सजा होनी जरूर है, नहीं तो न्याव न होगा । इसी वास्ते तुमको ले जाते हैं कि कोतवाल के बदले तुमको फांसी दें।

गोबरधन०—तो क्या और कोई मोटा आदमी इस नगर भर में नहीं मिलता जो मुझ अनाथ फकीर को फांसी देते हैं ?

प० प्या०—इसमें दो बात है—एक तो नगर भर में राजा के न्याव के डर से कोई मुटाता ही नहीं, दूसरे और किसी को पकड़ें तो वह न-जानें क्या बात बनावे कि हमीं लोगों के सिर कहीं न घहराय और फिर इस राज में साधू महात्मा इन्हीं लोगों की तो दुर्दशा है, इससे तुम्हीं को फाँसी देंगे ।

गोबरधन०—दुहाई परमेश्वर की, अरे मैं नाहक मारा जाता हूँ ! अरे यहाँ बड़ा ही अंधेर है, अरे गुरुजी महाराज का कहा मैंने न माना उसका फल मुझको भोगना पड़ा । गुरुजी कहाँ हो ! आओ, मेरे प्राण बचाओ, अरे मैं बेअपराध मारा जाता हूँ । गुरुजी गुरुजी—

(गोबरधनदास चिल्लाता है, प्यादे उसको पकड़कर ले जाते हैं)

(जवनिका गिरती है)

छठा अंक

स्थान—श्मशान

(गोबरधनदास को पकड़े हुए चार सिपाहियों का प्रवेश)

गोबरधन०—हाय बाप रे! मुझे बेकसूर ही फाँसी देते हैं। अरे भाइयो, कुछ तो धरम विचारो! अरे मुझ गरीब को फाँसी देकर तुम लोगों को क्या लाभ होगा? अरे मुझे छोड़ दो। हाय! हाय! (रोता है और छुड़ाने का यत्न करता है)

प० सिपाही०—अबे, चुप रह—राजा का हुकुम भला कहीं टल सकता है? यह तेरा आखरी दम है, राम का नाम ले—बेफाइदा क्यों शोर करता है? चुप रह—

गोबरधन०—हाय! मैंने गुरुजी का कहना न माना, उसी का यह फल है। गुरुजी ने कहा था कि ऐसे नगर में न रहना चाहिए, यह मैंने न सुना! अरे! इस नगर का नाम ही अंधेरनगरी और राजा का नाम चौपट्ट है, तब बचने की कौन आशा है। अरे! इस नगरी में ऐसा कोई धर्मात्मा नहीं है जो इस फकीर को बचावे। गुरुजी कहाँ हो! बचाओ-बचाओ—गुरुजी—गुरुजी—

(रोता है, सिपाही लोग उसे घसीटते हुए ले चलते हैं। गुरुजी और नारायणदास आते हैं)

गुरु—अरे बच्चा गोबरधनदास! तेरी यह क्या दशा है?

गोबरधन०—(गुरु को हाथ जोड़कर) गुरुजी! दीवार के नीचे बकरी दब गई, सो इसके लिये मुझे फाँसी देते हैं, गुरुजी बचाओ।

गुरु—अरे बच्चा! मैंने तो पहिले ही कहा था कि ऐसे नगर में रहना ठीक नहीं; तैने मेरा कहना नहीं सुना।

गोबरधन०—मैंने आपका कहा नहीं माना, उसी का यह फल मिला। आपके सिधा अब ऐसा कोई नहीं है जो रक्षा करे। आप ही का हूँ, आपके सिवा और कोई नहीं। (पैर पकड़कर रोता है)

गुरु—कोई चिंता नहीं, नारायण सब समर्थ है। (भौं चढ़ाकर सिपाहियों से) सुनो, मुझको अपने शिष्य को अंतिम उपदेश देने दो, तुम लोग तनिक किनारे हो जाओ, देखो मेरा कहना न मानोगे तो तुम्हारा भला न होगा।

सिपाही—नहीं महाराज, हम लोग हट जाते हैं। आप बेशक उपदेश कीजिए।

(सिपाही हट जाते हैं। गुरुजी चेले के कान में कुछ समझाते हैं)

गोबरधन०—(प्रगट) तब तो गुरुजी हम फाँसी चढ़ेंगे।

गुरु—नहीं बच्चा, मुझको चढ़ने दे।

गोबरधन—नहीं गुरुजी, हम फाँसी पड़ेंगे।

गुरु—नहीं बच्चा हम। इतना समझाया नहीं मानता, हम बूढ़े भए, हमको जाने दे।

गोबरधन०—स्वर्ग जाने में बूढ़ा जवान क्या? आप तो सिद्ध हो, आपको गति-अगति से क्या! मैं फाँसी चढ़ूँगा।

(इसी प्रकार दोनों हुज्जत करते हैं—सिपाही लोग परस्पर चकित होते हैं)

प० सिपाही—भाई! यह क्या माजरा है, कुछ समझ नहीं पड़ता।

दू० सिपाही—हम भी नहीं समझ सकते कि यह कैसा गबड़ा है।

(राजा, मंत्री कोतवाल आते हैं)

राजा—यह क्या गोलमाल है!

प० सिपाही—महाराज ! चेला कहता है मैं फाँसी पड़ूँगा, गुरु कहता है मैं पड़ूँगा ; कुछ मालूम नहीं पड़ता कि क्या बात है ।

राजा—(गुरु से) बाबाजी ! बोलो । काहे को आप फाँसी चढ़ते हैं ?

गुरु—राजा ! इस समय ऐसो साइत है कि जो मरेगा सीधा बैकुंठ जायगा ।

मंत्री—तब तो हमीं फाँसी चढ़ेंगे ।

गोबरधन०—हम हम । हमको तो हुकुम है ।

कोतवाल—हम लटकैंगे । हमारे सबब तो दीवार गिरी ।

राजा—चुप रहो, सब लोग । राजा के आछत और कौन बैकुंठ जा सकता है ! हमको फाँसी चढ़ाओ, जल्दी, जल्दी ।

गुरु—जहाँ न धर्म्म न बुद्धि नहिं नीति न सुजन-समाज ।
ते ऐसहि आपुहि नसैं, जैसे चौपटराज ॥

(राजा को लोग टिकठी पर खड़ा करते हैं)

(पटाक्षेप)

सतीप्रताप

नाटक

संवत् १९४०

सतीप्रताप

(एक गीतिरूपक)

—:※:—

पहला दृश्य

स्थान—हिमालय का अधोभाग

(तृण-लता-वेष्टित एक टीले पर बैठी हुई तीन अप्सरा गाती हैं)

प० अप्सरा—

(राग झिंझौटी)

जय जय श्री रुकमिन महरानी।
निज पति त्रिभुवन-पति हरिपद में छाया सी लपटानी॥
सती-सिरोमनि रूपरासि करुनामय सब गुनखानी।
आदिशक्ति जगकारनि पालनि निज भक्तन सुखदानी॥

दू० अप्सरा—

(राग जंगला या पीलू)

जग में पतिव्रत सम नहिं आन।
नारि हेतु कोउ धर्म न दूजो जग में यासु समान॥
अनसूया सीता सावित्री इनके चरित प्रमान।
पति-देवता तीय जगधन-धन गावत बेद-पुरान॥

धन्य देस कुल जहँ निबसत हैं नारी सती सुजान।
धन्य समय सब जन्म लेत ये धन्य ब्याह असथान॥
सब समर्थ पतिबरता नारी इन सम और न आन।
याही ते स्वर्गहु में इनको करत सबै गुन-गान॥

ती० अप्सरा—

(रागिनी बहार)

नवल बन फूलीं द्रुम-बेली।
लहलह लहकहिं महमह महकहिं मधुर सुगंधहिं रेली॥
प्रकृति नवोढ़ा सजे खरी मनु भूषन बसन बनाई।
आँचर उड़त बात-बस फहरत प्रेम-धुजा लहराई॥
गूँजहिं भँवर बिहंगम डोलहिं बोलहिं प्रकृति बधाई।
पुतली सी जित-तित तितली-गन फिरहिं सुगंध लुभाई॥
लहरहिं जल लहकहिं सरोजगन हिलहिं पात तरु डारी।
लखि रितुपति आगम सगरे जग मनहुँ कुलाहल भारी॥

(जवनिका गिरती है)

दूसरा दृश्य

स्थान—तपोवन, लतामंडप में सत्यवान बैठा हुआ है।

(रंग गीति—पीलू—धमार)

(नेपथ्य में गान)

"क्यों फकीर बन आया वे मेरे बारे जोगी।
नई बैस कोमल अंगन पर काहे भभूत रमाया वे॥
किन वे मात-पिता तेरे जोगी जिन तोहिं नाहिं मनाया वे।
कोंचे जिय कछु काके कारन प्यारे जोग कमाया वे॥"

(चैती गौरी—तितला)

विदेसिया वे प्रीति की रीति न जानी।
प्रीति की रीति कठिन अति प्यारे कोई बिरले पहिचानी॥

सत्यवान—यह कोमल स्वर कहाँ से कान में आया? प्रति-ध्वनि के साथ यह स्वर ऐसा गूँज रहा है कि मेरी सारी कदंब-खंडी शब्द-ब्रह्ममय हो गई। बीच-बीच में मोर कुहुक-कुहुक कर और भी गूँज दूनी कर देते हैं। (कुछ सोचकर) हाय! मेरा मन इस समय भी स्थिर नहीं। हाय! प्रासादों में स्फटिक की छत पर चलने में जिनके चरण को कष्ट होता था आज वह कंटकमय पथ में नंगे पाँवों फिर रहे हैं और दुग्ध-फेन सी सेज के बदले आज मृगचर्म पर सोते हैं। हाय! हमारे माता-पिता बुढ़ापे से सामर्थ्यहीन तो थे ही ऊपर से दैव ने उन्हें अंधा भी बनाया। हाय! अभागे

सत्यवान से भी कभी माता-पिता की सेवा न बन पड़ी ! कभी उनके वात्सल्य-पूर्ण प्रेमामृत-वचन ने मेरे कान न शीतल किए । और न ऐसा होना है । जनमते ही तो तपस्या करनी पड़ी । धन्य विधाता ! दरिद्र को धनवान् और धनवान् को दरिद्र करना तो तुम्हें एक खेल है। किंतु दरिद्र बना के फिर क्यों कष्ट देते हो ! दरिद्र ही सही, पर मन को तो शांति दो। भला दो घड़ी भी वृद्ध माता-पिता की सेवा करने पावें। (चिंता)

(सावित्री को घेरे हुए गाते-गाते मधुकरी, सुरबाला और लवंगी का आना और फूल बीनना)

(गौरी)

सखीजन—

भौंरा रे बौरान्यो लखि बौर।

लुबध्यौ उतहि फिरत मडरान्यौ जात कहूँ नहिं और-भौंरा रे बौरान्यो।

(चैती गौरी)

फूलन लागे राम बन नवल गुलबवा।

फूलन लागे राम—महुआ फले आम बौराने डारहि डार भँवरवा झूलन लागे राम।

(गौरी)

पवन लगि डोलत बन की पतियाँ

मानहुँ पथिकन निकट बुलावहिं कहन प्रेम की बतियाँ ॥

अलक हिलत फहरत तन सारी होत हैं सीतल छतियाँ।

यह छबि लखि ऐसो जिय आवत इतहि बितैये रतियाँ ॥

सुरबाला—सखी, कैसा सुंदर वन है।

लवंगी—और यह बारी भी कैसी मनोहर है।

मधुकरी—आहा ! तपोवन ऋषि-मुनि लोगों को कैसा सुखदायक होता है ।

सावित्री—सखी, ऋषि-मुनि क्या, तपोवन सभी को सुख देता है ।

सुर०—क्योंकि यहाँ सदा वसंत ऋतु रहती है न ।

सावित्री—वसंत ही से नहीं तपोवन ऐसी हुई है ।

मधु०—अहा ! यह कुंज कैसा सुंदर है । सखी, देखो माधवी लता इस कुंज पर कैसी घनघोर छाई हुई है ।

सावित्री—सहज वस्तुएँ सभी मनोहर होती हैं । देखो, इस पर फूल कैसे सुंदर फूले हैं जैसे किसी ने देवता की फूल-मंडली बनाई हो ।

सुर०—और उधर से हवा कैसी ठंढी आती है ।

लवंगी—और हवा में सुगंध कैसी है ।

मधु०—सखी ! एक-टक उधर ही क्यों देख रही हो !

सुर०—सच तो सखी । वहाँ क्या है जो उधर ही ऐसी दृष्टि गड़ा रही हो ?

लवंगी—तू क्या जाने । तपोवन में सैकड़ों वस्तुएँ ऐसी होती हैं ।

(राग सोरठ)

सावित्री—

लखो सखि भूतल चंद खस्यो ।
राहु-केतु-भय छोड़ि रोहिनिहि या वन आइ बस्यो ॥
कै सिव-जय-हित करत तपस्या मनसिज इत निबस्यो ।
कै कोऊ बनदेव कुंज में बनबिहार बिलस्यो ॥

मधु०—सच तो, तपसियों में ऐसा रूप !

सुर०—जाने दे । वनवासी तपस्वी में ऐसा रूप कहाँ ?

सावित्री—यह मत कहो । विधना की कारीगरी जैसे नगर में वैसी ही वन में ।

(सत्यवान की ओर सतृष्ण दृष्टिपात)

सुर०—देखती हो ! एक-मन एक-प्रान होकर कैसा सोच रही है ?

लवंगी—(परिहास से) आज जो यह तापस-कुमार के बदले राजकुमार होते तो घर बैठे गंगा बही थी।

मधु०—सखी, इसका कुछ नेम नहीं है कि राजकुमारी का व्याह राजकुमार ही से हो।

सावित्री—विधाता ने जिस भाव में राजपुत्र को सिरजा है उसी भाव में मुनि-पुत्र को। और फिर राजधन से तपोधन कुछ कम नहीं होता।

सत्य०—(आप ही आप) यह क्या वनदेवी आई हैं !

मधु०—हम उनके पास जाकर प्रणाम तो कर आवें।

(मधुकरी का कुंज की ओर बढ़ना और सत्यवान का लतामंडप से निकलकर बाहर बैठना)

मधु०—(सत्यवान के पास जाकर) प्रणाम। (हाथ जोड़ कर सिर झुकाना)

सत्य०—आयुष्मती भव। आप लोग कौन हैं ?

मधु०—हम लोग अपनी सखी मद्र देश के जयंतीनगर के राजा अश्वपति की कुमारी सावित्री के साथ फूल बीनने आई हैं।

सत्य०—(स्वगत) राजकुमारी ! वामन को चंद्रस्पर्श।

मधु०—कृपानिधान ! आप सदा यहीं निवास करते हैं ?

सत्य०—जब तक दैव अनुकूल न हो, यहीं निवास है।

मधु०—इससे तो बोध होता है कि किसी राजभवन को सूना करके आप यहाँ आये हैं।

सत्य०—सखी ! उन बातों को जाने दो।

मधु०—हमारे अनुरोध से कहना ही होगा। दयालु सज्जनगण अतिथि की यांचा व्यर्थ नहीं करते, विशेष करके पहले ही पहल।

सत्य०—हम शाल्व देश के राजा द्युमत्सेन के पुत्र हैं। हमारा नाम चित्राश्व वा सत्यवान् है। इस मेध्यारण्य नामक वन में पिता की सेवा करते हैं।

मधु०—(आप ही आप) तभी ! गंगा समुद्र छोड़कर और जलाशय की ओर नहीं झुकती। (प्रगट) तो आज्ञा हो तो अब प्रणाम करूँ।

सत्य०—(कुछ उदास होकर) यह क्यों ? बिना आतिथ्य स्वीकार किये हुये ?

मधु०—इसका तो मैं सखी से पूछ लूँ तो उत्तर दूँ (सावित्री के पास आकर) सखी ! कुमार तापस कहते हैं कि आतिथ्य स्वीकार करना होगा।

(सावित्री सखियों का मुख देखती है)

लवंगी—(परिहास से) अवश्य अवश्य ! इसमें क्या हानि है।

सावित्री०—(कुछ लज्जा करके) सखी, उनसे निवेदन कर दे कि हम लोग माता-पिता की आज्ञा लेकर तब किसी दिन आतिथ्य स्वीकार करेंगे, आज विलंब भी हुआ है।

मधु०—(सत्यवान के पास जाकर) कुमारी कहती है कि किसी दिन माता-पिता की आज्ञा लेकर हम आवेंगे तब आतिथ्य स्वीकार करेंगे। आप तो जानते ही हैं कि आर्यकुल की ललनागण किसी अवस्था में भी स्वतंत्र नहीं हैं। इससे आज क्षमा कीजिये।

सत्य०—(कुछ उदास होकर) अच्छा। (सखियों के साथ सावित्री का प्रस्थान। उधर ही देखता है) यह क्या? चित्त में ऐसा विकार क्यों? क्या स्वर्ण और रत्न में भी मलिनता? क्या अग्नि में भी कीट की उत्पत्ति? उह! फिर वही ध्यान! यह क्या! अब तो जी नहीं मानता। चलें आगे बढ़ कर बदलों में छिपते हुए चंद्रमा की शोभा देखकर जी को शांति दें।

[जाता है

(जवनिका गिरती है)

तीसरा दृश्य

स्थान—जयंती नगर का गृहोद्यान

(जोगिन बनी हुई सावित्री ध्यान करती है)

(नेपथ्य में वैतालिक गान)

प्र० वै०—नैन लाल कुसुम पलास से रहे हैं फूलि,
फूल-माल गरें बन झालरि सी लाई है।
भँवर-गुँजार हरि-नाम को उचार तिमि,
कोकिला सी कुहुकि बियोग राग गाई है॥
'हरिचंद' तजि पतझार घर-बार सबै,
बौरी बनि दौरी चारु पौन ऐसी धाई है।
तेरे बिछुरे तें प्रान कंत कै हिमंत अंत,
तेरी प्रेम-जोगिनी बसंत बनि आई है॥

द्वि० वै०—पीरो तन पर्‌यौ फूली सरसों सरस सोई,
मन मुरझान्यौ पतझार मनो लाई है।
सीरी स्वास त्रिबिध समीर सी बहति सदा,
अँखियाँ बरसि मधुझरि सी लगाई है॥
'हरिचंद' फूले मन मैन के मसूसन सों,
ताहा सों रसाल बाल बदि कै बौराई है।
तेरे बिछुरे तें प्रान कंत कै हिमंत अंत,
तेरो प्रेम-जोगिनी बसंत बनि आई है॥

प्र० वै०—"बरुनी बघंबर मैं गुदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन भगौहैं भेख रखियाँ।
बूड़ी जल ही मैं दिन जामिनी हूँ जागैं भौंह,
धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ॥
आँसू ज्यौं फटिक-माल काजर की सेली पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिए दरस 'देव' कीजिए सँजोगिन, ये,
जोगिन ह्वै बैठी हैं बियोगिन की अँखियाँ॥"

द्वि० वै०—एकै ध्यान एकै ज्ञान एकै मन एकै प्रान,
दसों दिसि अविचल एकै तान ताने। है।
जग में बसत हूँ मनहुँ जग बाहिर सो,
हियो तन दोऊ निसि दिवस तपानो है॥
'हरीचंद' जोग की जुगति रिद्धि सिद्धि सब,
तजि तिनका सो एक नेह को निभानो है।
बिना फल आस सीस सहनो सहस्र त्रास,
जोगिन सों कठिन बियोगिन को बानो है॥

(सावित्री ध्यान से आँख खोलती है)

सावित्री—अहा! एक पहर दिन आ गया। सखीगण अब तक नहीं आईं। इसी से ध्यान भी निर्विघ्न हुआ। हमारी वासना सत्य है तो अंतर्गति जाननेवाली सतीकुल-सरोजिनी भगवती भवानी हमारी भावना अवश्य पूर्ण करेंगी। मन बच कर्म से जो हमारी भक्ति पति के चरणारविंद में है तो वे हमको अवश्य ही मिलेंगे। अथवा न भी मिलें तो इस जन्म में तो दूसरा पति हो नहीं सकता। स्त्रीधर्म बड़ा कठिन है। जिसको एक बेर मन से पति कहकर वरण किया उसको

छोड़कर स्त्री-शरीर की अब इस जगत् में कौन गति है। पिता-माता बड़े धार्मिक हैं। सखियों के मुख से यह संवाद सुन कर वह अवश्य उचित ही करेंगे। वा न करेंगे तो भी इस जन्म में अन्य पुरुष अब मेरे हेतु कोई है नहीं। (अपना वेष देखकर) अहा ! यह वेष मुझको कैसा प्रिय बोध होता है। जो वेष हमारे जीवितेश्वर धारण करें वह क्यों न प्रिय हो। इसके आगे बहुमूल्य हीरों के हार और चमत्कार-दर्शक वस्त्र सब तुच्छ हैं। वही वस्तु प्यारी है जो प्यारे को प्यारी हो। नहीं तो सर्वसंपत्ति की मूलकारण-स्वरूपा देवी पार्वती भगवान् भूतनाथ की परिचर्या इस वेष से क्यों करतीं ? सतीकुलतिलका देवी जनकनंदिनी को अयोध्या के बड़े-बड़े स्वर्ग-विनिंदक प्रासाद और शचीदुर्लभ गृह-सामग्री से भी वन की पर्णकुटी और पर्वतशिला अति प्रिय थीं, क्योंकि सुख तो केवल प्राणनाथ की चरणपरिचर्या में है। जब तक अपना स्वतंत्र सुख है तब तक प्रेम नहीं। पत्नी का सुख एक-मात्र पति की सेवा है। जिस बात में प्रियतम की रुचि उसी में सहधर्मिणी की रुचि। अहा ! वह भी कोई धन्य दिन आवेगा जब हम भी अपने प्राणाराध्य देवता प्रियतम पति की चरणसेवा में नियुक्त होंगी। वृद्ध श्वशुर और सास के हेतु पाक आदि निर्माण करके उनका परितोष करेंगी। कुसुम, दूर्वा, तुलसी समिधा इत्यादि बीनने को पति के साथ वन में घूमेंगी। परिश्रम से थकित प्राणनायक के स्वेद-सीकर अपने अंचल से पोंछकर मंद-मंद वनपत्र के व्यजन वायु से उनका श्री अंग शीतल और चरण-संवाहनादि से श्रमगत करेंगी। (नेत्र से आँसू गिरते हैं)।

(गान करते हुये सखीगण का आगमन)

(ठुमरी)

सखीत्रय—

देखो मेरी नई जोगिनियाँ आई हो—जोगी पिय मन भाई हो।
खुले केस गोरे मुख सोहत ओहत दृग सुखदाई हो॥
नव छाती गाती कसि बाँधी कर जप माल सुहाई हो।
तन कंचन दुति बसन गेरुआ दूनी छबि उपजाई हो॥
देखो मेरी नई जोगिनियाँ आई हो।

(सावित्री के पास जाकर)

(लावनी)

लवंगी—

सखि! बाले जोबन महा कठिन ब्रत कीनो।
यह जोग भेख कोमल अंगन पर लीनो॥
अबहीं दिन तुमरे खेल-कूद के प्यारी।
पितु मातु चाव सों भवन बसो सुकुमारी॥
ओढ़ौ पहिरौ लखि सुख पावै महतारी।
बिलसौ गृह संपति सखी गई बलिहारी॥
तजि देहु स्वाँग जो सबही बिधि सों हीनो।
यह जोग-भेष जो कोमल अँग पर लीनो॥

मधु०—सखि! यही जगत की चाल जितो हैं क्वारी।
उनके सबही बिधि मात-पिता अधिकारी॥
जेहि चाहैं ताकहँ दान करैं निज बारी।
यामैं कछु कहनो तजनो लाज दुलारी॥
बिनती मानहु हठ माँहि बृथा चित दीनो।
यह जोग-भेष जो कोमल अँग पर लीनो॥

सुर०—सखि! औरहु राजकुमार बहुत जग माहीं।
विद्या-बुधि-गुन-बल-रूप-समूह लखाहीं॥
चिरजीवी प्रेमी धनी अनेक सुनाहीं।
का उन सम कोऊ और जगत में नाहीं॥
जाके हित तुम तजि राजभेष सुख-भीनो।
यह जोग-भेष निज कोमल अँग पर लीनो॥

सावित्री—(ईषत् क्रोध से)
बस-बस! रसना रोको ऐसो मति भाखो।
कछु धरमहु को भय अपने जिय में राखो॥
कुल-कामिनि ह्वै गनिका-धरमहि अभिलाखो।
तजि अमृतफल क्यों विषमय विषयहि चाखो॥
सब समुझि-बूझि क्यों निंदहु मूरख तीनों।
यह जोग-भेष जो कोमल अँग पर लीनो॥

लवंगी—सखी को कैसा जल्दी क्रोध आया है!

सावित्री—अनुचित बात सुनकर किसको क्रोध न आवेगा?

सुर०—सखी! हम लोगों ने जो वचन दिया था वह पूरा किया।

सावित्री—वचन कैसा?

सुर०—सखी, तुम्हारे माता-पिता ने हम लोगों से वचन लिया था कि जहाँ तक हो सकेगा हम लोग तुमको इस मनोरथ से निवृत्त करेंगे।

सावित्री—निवृत्त करोगी? धर्मपथ से? सत्य प्रेम से? और इसी शरीर में?

सुर०—सखी, शांत भाव धारण करो। हम लोग तुम्हारी सखी हैं, कोई अन्य नहीं हैं। जिसमें तुमको सुख मिले वही हम लोगों को करना है। यह सब जो कुछ कहा-सुना गया, केवल ऊपर' जी से।

सावित्री—तब कुछ चिंता नहीं। चलो, अब हम लोग माता के पास चलें। किंतु वहाँ मेरे सामने इन बातों को मत छेड़ना।

सखीगण—अच्छा, चलो।

(जवनिका गिरती है)

चौथा दृश्य

स्थान—तपोवन। द्युमत्सेन का आश्रम

(द्युमत्सेन, उनकी स्त्री और ऋषि बैठे हैं)

द्युमत्सेन—ऐसे ही अनेक प्रकार के कष्ट उठाए हैं, कहाँ तक वर्णन किया जाय।

पहला ऋषि—यह आपकी सज्जनता का फल है।

(छप्पय)

क्यों उपज्यौ नरलोक ? ग्राम के निकट भयो क्यों ?
सघन पात सों सीतल छाया दान दयो क्यों ?
मीठे फल क्यों फल्यो ? फल्यौ तो नम्र भयो कित ?
नम्र भयो तो सहु सिर पैं बहु विपति लोक-कृत।
तोहि तोरि मरोरि उपारिहैं पाथर हनिहैं सबहि नित।
जे सज्जन ह्वै नै कै चलहिं तिनकी यह दुरगति उचित॥

दूसरा ऋषि—ऐसा मत कहिए। वरंच यों कहिए—
चातक को दुख दूर कियो पुनि दीनो सबै जग जीवन भारी।
पूरे नदी-नद ताल-तलैया किए सब भाँति किसान सुखारी॥
सूखेहु रूखन कीने हरे जग पूरयौ महामुद दै निज बारी।
हे घन आसिन लौं इतनो करि रीते भए हूँ बड़ाई तिहारी॥

द्युमत्सेन—मोहि न धन को सोच भाग्य-बस होत जात धन।
पुनि निरधन सो दोस न होत यहौ गुन गुनि मन॥

मोकहँ इक दुख यहै जु प्रेमिन हू मोहि त्याग्यौ।
बिना द्रव्य के स्वानहु नहिं मोसों अनुराग्यौ॥
सब मित्रन छोड़ी मित्रता बंधुन हू नातो तज्यौ।
जो दास रह्यौ मम गेह को मिलनहुँ मैं अब सो लज्यौ॥

प० ऋषि—तो इसमें आपको क्या हानि है? ऐसे लोगों से न मिलना ही अच्छा है।

द्युमत्सेन—नहीं, उनके न मिलने का मुझको अणुमात्र सोच नहीं है। मुझको तो ऐसे तुच्छमना लोगों के ऊपर उलटी दया उत्पन्न होती है। मुझको अपनी निर्धनता केवल उस समय अति गढ़ाती है जब किसी सत्पुरुष कुलीन को द्रव्य के अभाव से दुःखी देखता हूँ। उस समय मुझको निस्संदेह यह हाय होती है कि आज द्रव्य होता तो मैं उसकी सहायता करता।

दू० ऋषि—आपके मन में इसका खेद होता है तो मानसिक पुण्य आपको हो चुका। और आपकी मनोवृत्ति ऐसी है तो वह अवश्य एक न एक दिन फलवती होगी।

प० ऋषि—सज्जनगण स्वयं दुर्दशाग्रस्त रहते हैं, तब भी उनसे जगत में नाना प्रकार के कल्याण ही होते हैं।

द्युमत्सेन—अब मुझसे किसी का क्या कल्याण होगा! बुढ़ापे से शरीर में पौरुष हई नहीं। एक आँख थी सो भी गई। तीर्थ-भ्रमण और देवदर्शन से भी रहित हुए।

प० ऋषि—आपके नेत्रों के इतने निर्बल हो जाने का क्या कारण है? अभी कुछ आपकी अवस्था अति वृद्ध नहीं हुई है।

द्युमत्सेन—वही कारण जो हमने कहा था। (उदास होकर) पुत्रशोक से बढ़कर जगत में कोई शोक नहीं है। गणक

लोगों ने यह कहकर कि तुम्हारा पुत्र अल्पायु है, मेरा चित्त और भी तोड़ रखा है। इसी से न मैं ऐसा घर, ऐसी लक्ष्मी सी बहू पाकर भी अभी विवाह-संबंध नहीं स्थिर करता।

दू० ऋषि—अहा! तभी महाराज अश्वपति और उनकी रानी इस संबंध से इतने उदास हैं। केवल कन्या के अनुरोध से संबंध करने कहते हैं।

(हरिनाम गान करते हुए नारदजी का आगमन)

नारद—(नाचते और वीणा बजाते हुए)

(चाल नामकीर्तन महाराष्ट्री कटाव)

जय केशव करुणा-कंदा। जय नारायण गोविंदा॥
जय गोपीपति राधा-नायक। कृष्ण कमल-लोचन सुखदायक॥
माधव सुरपति रावण-हंता। सीतापति जदुपति श्रीकंता॥
बुद्ध नृसिंह परशुधर बावन। मच्छ-कच्छ-बपुधर गज-पावन॥
कल्कि बराह मुकुंदा। जय केशव करुणा कंदा॥
जय जय विष्णु भक्तभयहारी। बृंदावन - बैकुंठ - बिहारी॥
जसुदा-सुअन देवकीनंदन। जगबंदन प्रभु कंसनिकंदन॥
शंख-चक्र-कौमोदकि - धारी। बंशीधर बकबदन-बिदारी॥
जय बृंदावन - चंदा। जय केशव करुणा-कंदा॥
जय नारायण गोविंदा।

(सब लोग प्रणाम करके बैठाते हैं)

द्युमत्सेन—हमारे धन्य भाग कि इस दीनावस्था में आपके दर्शन हुए।

नारद—राजन्! तुम्हारे पास सत्यधन, तपोधन, धैर्यधन अनेक धन हैं, तुम क्यों दीन हो? और आज हम तुमको एक

अति शुभ संदेश देने को आए हैं। तुम्हारे पुत्र का वि
संबंध हम अभी स्थिर किए आते हैं। सावित्री के
को भी समझा आए हैं कि उनकी कन्या सावित्री अ
उज्ज्वल पातिव्रत्य धर्म के प्रभाव से सब आपत्तियों
उल्लंघन करके सुखपूर्वक कालयापन करेगी और अ
पवित्र चरित्र से दोनों कुल का मान बढ़ावेगी। तुमसे
यही कहने आए हैं कि सब संदेह छोड़कर विवाह का सं
पक्का करो।

द्युमत्सेन—मुझको आपकी आज्ञा कभी उल्लंघनीय नहीं है। किंतु

नारद—किंतु किंतु कुछ नहीं। विशेष हम इस समय
कह सकते। इतना मात्र निश्चय जानो कि अन्त में
कल्याण है।

द्युमत्सेन—जो आज्ञा।

नारद—अब हम जाते हैं।

(गान चाल भैरव, ताल इकताला वा बाउल भजन की
चाल पर ताल आड़ा)

बोलो कृष्ण कृष्ण राम राम परम मधुर नाम।
गोविंद गोविंद केशव केशव गोपाल गोपाल माधव माधव।
हरि हरि हरि वंशीधर वंशीधर श्याम।
नारायण वासुदेव नंदनंदन जगवंदन।
वृंदावन चारु चंद्र गरे गुंजदाम।
'हरीचंद' जन-रंजन सरन सुखद मधुर मूर्ति।
राधापति पूर्ण करन सतत भक्त काम॥

(नृत्य और गीत)

(जवनिका गिरती है)

पंचवाँ दृश्य*

बनदेवी और बनदेवता आते हैं

दोनों—(गाते हुए, पूरबी)

हम बनबासी हो रामा।

जाहिं न पास नगर के कबहीं सब से रहत उदासी हो रामा।

फल भोजन फूलन के गहना गिरिकंदरा निवासी हो रामा।

जगत-जाल सों बचि हम बिहरत केवल प्रेम उपासी हो रामा॥

बनदेवी—(गाती हुई, पूरबी)

आओ प्यारे प्रान हमारे बैठो सीतल छाहीं हो।

बनदेवता—तुमहुँ थकीं ग्रीषम दुपहरिया चलौ दिये गलबाहीं हो।

(दोनों एक कुंज के पास जाते हैं)

बनदेवी—यह रसाल की सीतल छाया तापर मालति छाई हो!

बनदेवता—वैसे तुमहू प्यारी मेरे कंठ रहो लपटाई हो॥

(दोनों कुंज में एक शिला पर बैठते हैं)

बनदेवी देखहु प्यारे उपबन-सोभा कैसी हुई लुनाई हो॥

बनदेवता—तासों बढ़ि तुव अंग अंग में प्यारी देत लखाई हो॥

बनदेवी—प्राणनाथ! देखो जब से सती-कुलतिलक श्रीसावित्री देवी के पवित्र चरण इस बन में पड़े हैं तब से इसकी शोभा दूनी हो गई है।

---

*भारतेंदु जी ने इस नाटक के केवल चार दृश्य लिखे थे, जिसे बा० राधाकृष्णदास ने बाद को पूरा किया था।

बनदेवता—इस बन में जिस शोभा के अंकुर को महात्मा सत्यवान ने लगा रक्खे थे उसे पतिप्राणा सावित्री ने अभिसिंचन कर के पूरी उन्नति पर पहुँचाया। जैसे प्यारी! तुमने हमारे प्रेमांकुर को सींचकर पुष्पान्वित किया।

बनदेवी—प्राणवल्लभ! पति भी स्त्री के लिये कैसा देवता है

पति सम जग में नहिं कोउ देव।
हम अबलन कहँ पति ही को बल प्रानपतिहि कहँ सेव॥
पतिप्राना नारी सों सुख धन कोउ जग में नहिं लेव।
पति बिनु नारी जीवन बिरथा ज्यों बारी बिनु नेव॥

बनदेवता—भगवान तुमारी सी पतिप्राणा भार्या सब को दे।

नारि सम जग में नहिं सुखमूल।
पतिबरता नारी मिलबे सम सुख नहिं पायो भूल॥
पति हि उधारे तीन पुरुष संग एक सुलच्छन नारि।
ऐसी प्राणपियारी ऊपर दीजे सब जग बारि॥

बनदेवी—आहा! नाथ! प्रेम सा अमूल्य रत्न संसार में नहीं है, देखो उसके उदय होते ही तुम्हारे कमल नेत्रों में मुक्ता फूल उठे। (मुँह फेर कर आँसू पोंछती है, दोनों गले लगाकर प्रेमाश्रु से अभिसिंचित होते हैं)

दोनों—गाओ सब मिल प्रेम बधाई।

प्रेमहि सुखसागर अरु प्रेमहि तीन लोक को राई॥
प्रेम-रज्जु में बँध्यो सकल जग याकी फिरत दुहाई।
प्रेमनाथ ही की स्वर्गहु में एकछत्र ठकुराई॥
प्रेमहि जग को जीवन-प्रान।
प्रेमहि सगरो काम करावत प्रेम बढ़ावत मान॥
बिना प्रेम के जो नर जग में सो नर पसु समान।
प्रेमहि सुख संपति रतन को अति अनुपमतर खान॥

प्रेम में निसि दिन बसत मुरारी।
बिना प्रेम पैये नहिं पीतम लाख संपदा वारी ॥
बिना प्रेम रीझत नहिं प्यारो बृंदाबिपिन बिहारी।
प्रेमहि जग को तारन कारन प्रेमहि भवभय-हारी ॥

बनदेवी—(नेपथ्य की ओर देखकर) प्यारे ! देखो वह सती-सिरोमनि सावित्री देवी शोभा को बढ़ावती बन को हँसाती अपने प्राणपति के साथ इसी कुंज में पधारती हैं।

बनदेवता—और देखो सत्यवान भी प्रेम में मग्न अपनी प्यारी का मुख एक टक देखता और कोमल पुष्पकली की वर्षा करता मदोन्मत्त झूमता कैसा शोभायमान । आहा ! इन दोनों नव किशोरों को तापसी वेष कैसा सजा है जैसे साक्षात् शिव पार्वती का जोड़ा हो।

बनदेवी—प्यारे ! चलो हम लोग इस कुंज को आड़ में से इन दोनों के पवित्र प्रेम-पुरान को सुनकर अपना जीवन चरितार्थ करें।

(दोनों कुंज की ओट में छिपते हैं)

(पटाक्षेप)

छठा दृश्य

(मालती कुंज में शिला पर सावित्री और सत्यवान बैठते हैं)

सावित्री—तुम मेरे बहुत जतन के प्यारे ।
तुव दरसन-लालसा पियारे कह कह कठिन नेम नहिं धारे ॥
तुमहि प्रानधन जीवनसर्वस तुमही मम नैनन के तारे ।
अब तौ नेकहुँ नाहिं टरौं पिय दुष्ट काल हू जो पै टारे ॥

सत्यवान—(मुखचुम्बन करके) " तुव मुख चंद चकोर ये नैना ।
पलक न लगत पलहु बिनु देखे भूलि जात गति पलहु लगैना ॥
अरबरात मिलिबे को निसिदिन मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलैना ।
'भगवत रसिक' रसिक की बातें रसिक बिना कोउ समुझि सकैना ॥"

दोनों—"प्रीति की रीति ही अति न्यारी ।
लोक बेद सब सों कछु उलटी केवल प्रेमिनि प्यारी ॥
को जानै समझै को याको बिरलो समझनहारी ।
'हरीचन्द' अनुभव ही लहिए जामैं गिरवरधारी ॥"

सत्यवान—प्यारी ! जब से तुम यहाँ पधारी तब से इस बन की शोभा ही दूसरी हो गई । आहा ! वह सुंदर राज्य प्रासाद और वे सब सुख के सामान जैसे सुखद थे उन से कहीं बढ़कर यह बन तुम्हारे कारण सुखप्रद है ।

सावित्री—नाथ ! यह सब केवल तुम्हारा ही प्रभाव है । भला मेरे भाग्य कहाँ जो मैं इस शरीर से तुम्हारी सेवा कर सकूँ ; पर न जाने किस देवता की कृपा से आज मैं तुम्हारे

चरणों की दासी हुई, जिसके लिये लोग जनम जनम पच मरते हैं पर नहीं पाते। (आँखों में आँसू भर आते हैं)

सत्यवान—(गाढ़ आलिंगन करके) मेरी प्राण ! धन्य हमारे भाग्य जो तुम सी नारी हमने पाई। हमारे ऐसा बड़भागी कोई स्वर्ग में भी न होगा। आहा !

हम सम जग में नहिं कोउ आन।
जा घर तुम सी नारि बिराजत ताके कौन समान॥
रूपरासि गुनरासि कुशीली प्रेममयी मम जीवन प्रान।
सकल संपदा वारूँ तुम पर प्यारी चतुर सुजान॥

सावित्री—प्राणनाथ ! क्यों मुझे लजाते हो ? मैं कदापि तुम्हारे योग्य नहीं। न जाने मेरे कौन से पुरबले पुण्य उदय हुए जो आपकी श्री चरणसेवा मेरे बांट पड़ी। प्राणवल्लभ ! आपके गुणों का अनुभव जो मेरे चित्त को है उसे क्या यह बिचारी चमड़े की जीभ भी जान सकती है ? (प्रेमाश्रु आँखों में भर आते हैं)

सत्यवान—चलो रहने दो शिष्टाचार की बातें बहुत हो चुकीं। (ऊपर देख कर ; आहो ! हम लोगों की बातों में इतना दिन चढ़ आया, पिता के अग्निहोत्र का समय हो गया अभी लकड़ी चुन कर ले जाना है। प्यारी ! तुम यहीं ठहरो मैं अभी काष्ठ लेकर आता हूँ।

सावित्री—नहीं प्राणनाथ ! तुम्हें जाने देने को जी नहीं चाहता। आज न जाने क्यों जी उदास हो रहा है, न जाने कैसा कैसा जी कर रहा है, आप मत जाइए।

सत्यवान—स्त्रियों का स्वभाव अत्यन्त कोमल और प्रेममय होता है, इसी से तुम्हारा जी ऐसा हो रहा है और कुछ बात नहीं है। अब हम जाते हैं।

सावित्री—(दाहिनी आँख का फड़कना दिखाकर) नहीं नहीं आप मत जाइये, देखिये मेरी दहिनी आँख भी फड़कती है, आज न जाने क्या होनहार है। मैं आप को न जाने दूँगी।

सत्यवान—यह स्त्रियों के स्वाभाविक दुर्बलता का कारण है और कुछ भी नहीं है। होता वही है जो उसको इच्छा होती है। अब तुम आग्रह मत करो, हमें जाने दो, देर हो रही है, पिता दिक हो रहे होंगे। (जाता है और सावित्री बेर बेर मना करती है और व्याकुलता नाट्य करती है)।

सावित्री—(अत्यंत उदास होकर) आज जी ऐसा क्यों हो रहा है? आज ऐसा जान पड़ता है कि कोई भारी अनर्थ होगा। (चौंक कर) हैं! क्या आज ही वह भयानक दिन है जो मुनि ने बतलाया था? हाय! मैंने बुरा किया जो प्राणनाथ को अकेले जाने दिया। हाय! अब क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? क्या मुझ निगोड़ी को मौत नहीं है! प्राणनाथ! तुम कहाँ गए? एक बात हमारी सुनते जाओ। (कुछ ठहर कर) जान पड़ता है दूर निकल गये, तो चलूँ मैं हो खोज कर चलूँ। मैंने बुरा किया जो आज उन्हें अकेले जाने दिया। (अत्यंत व्याकुलता के साथ जाती है)।

(नेपथ्य में गान)

हाय सुख देख सकत नहिं नेक।
महा कठोर विधाता कीनो सुखभंजन की टेक।
द्वै दिन हु सुख सो नहिं बीतत भोगत जन के चैन।
दुखसागर बोरत अचानचक नेकहु दया करै न॥
जग के झूठे सुख सम्पति में धोखे हु भूलहु नाहिं।
अरे बावरे बेग धाइ गहु चरन-सरोवर छाहिं॥

(पटाक्षेप)

———

सातवाँ दृश्य

(स्थान-घोर अरण्य । एक बड़े वृक्ष के नीचे सत्यवान मूर्छित सा पड़ा है और सावित्री उसका सिर अपने गोद में रक्खे अत्यन्त व्याकुल बैठी है)

सावित्री—प्राणनाथ, जीवनधन, यह तुम्हें क्या हुआ ? अरे अभी तो अच्छे अच्छे हम से विदा होकर आये थे, अभी यह क्या दशा हो गई ? हाय ! यह गुलाब की पत्ती सा कोमल सुंदर मुख इतनी ही देर में ऐसा श्याम क्यों हो गया ? अरे कोई दौड़ो रे—किसी वैद्य गुणी को बुलाओ—(कुछ ठहर कर) हाय ! यहाँ कौन बैठा है जो मेरी इस विपत्ति में सहायता करेगा । हे दीनानाथ, अशरण-शरण ! मुझे सिवाय तेरे और कोई अवलंब इस समय नहीं है । देखो तुम्हारे रहते मैं अबला इस घोर बन में अनाथों की तरह लूटी जाती हूँ । मुझे बचाओ ।

सत्यवान—(कुछ सचेत होकर सावित्री की ओर देख कर) प्रिये ! तुम यहाँ कहाँ ! मैं तो चला, मेरे कारण तुम्हें बड़े बड़े कष्ट उठाने पड़े, मुझे क्षमा करना और कभी कभी इस अभागे का भी स्मरण करना । (कुछ रुक कर) पिता से मेरी बहुत तरह से प्रणाम कहना और कहना कि मुझे इस बात का बड़ा खेद है कि मैं आपकी सेवा बहुत कम करने पाया, मेरे अपराधों का आप क्षमा करें । मातृ-चरण में भी मेरा प्रणाम पहुँचाना । मुझे बड़ा ही दुःख है कि मैं अंत समय उनके

दर्शन न कर सका। तुम अपने सास ससुर की सेवा बड़ी सावधानता से करना, भगवान के चरणों में सदा स्नेह रखना (घबड़ाहट नाट्य कर के) उह ! अब चले, कंठ सूखा जाता है। बड़ी प्यास लगी है पानी—

पानी—

सावित्री—(घबड़ाकर) हाय ! यहाँ पात्र भी नहीं कि पानी लाऊँ। (दौड़ कर अंचल में भिंगा कर पास के तालाब से पानी लाकर सत्यवान के मुँह में निचोड़ती है)

सत्यवान—(कुछ स्थिर हो जाता है) धन्य देवी, धन्य। इस समय तुम ने मानों अमृत के बूँद चुआ दिये।

सावित्री—इन सब बातों को रहने दीजिये, यह बतलाइए अभी तो आप अच्छे चंगे थे अभी यहाँ क्या हो गया ?

सत्यवान—(मुमुर्ष अवस्था में) मैं—तुम—से—विदा होकर लकड़ी चुनने आया। इस झाड़ी में घुस कर उस सूखे वृक्ष की लकड़ी ज्यों ही काटी मुझे जान पड़ा मानों र सिर एक दम उड़ा जाता है। ऐसी भारी वेदना मेरे सिर में अकस्मात् उठी कि मैं किसी तरह सम्हल न सका, किसी किसी तरह झाड़ी से निकला, यहाँ तक आते आते तो असुध हो कर गिरही पड़ा। फिर मुझे कुछ ज्ञान नहीं, जब ज्ञान हुआ तो तुम्हें बैठे पाया—उह ! बड़ी ज्वाला है, शरीर झुका जाता है—अब चला— मूर्छित हो जाता है)

(नेपथ्य में गान)

यमदूत हैं हम भूत हैं मजबूत हैं रन में।
सोने के घर को खाक हमीं करते हैं छन में

सावित्री—हाय ! क्या यमदूत आ गये ? क्या अब मुझ से प्राणनाथ का वियोग हो होगा ? कभी नहीं—कभी नहीं—यदि हमारा सतीत्व सत्य है तो देखते हैं यमदूतों की क्या सामर्थ्य है जो प्राणनाथ के अंग को छू भी सकें।

(अंधकार हो जाता है और यमदूत आते हैं)

यमदूतगण—(गाते हैं और नाचते हैं)

यमदूत हैं हम भूत हैं मजबूत हैं रन में।
सोने के घर को खाक हमीं करते हैं छन में ॥
हो बादशाह या कि भिखारी हो कोई हो।
ज्ञानी हो या कि पापी हो जो चाहे जोई हो ॥
इक दिन सभी हमारे ही चंगुल में फँसेंगे।
उस दिन किसी फरेब से हमसे न बचैंगे ॥
हम मुश्क बाँध बाँध के सबको ले जायँगे।
हम कूद कूद खूब ही डंडे लगायँगे ॥
हम जिसको लेंगे उससे जरा भी न डरैंगे।
जो कुछ कि जी में आवैगा हम वोही करैंगे ॥
यमदूत हैं हम भूत हैं—

एक दूत—अरे तुम सब नाचा ही गाया करोगे या कुछ काम भी करोगे ?

सब—(घबड़ा कर) हाँ हाँ, चलो भाई सत्यवान के प्राण को अभी प्रभु के पास ले चलना है। (सब आगे बढ़ते हैं)

एक दूत—(डर कर) हैं यहाँ तो आग सी जल रही है, किसकी सामर्थ है जो इस में कूदैगा। (सब आश्चर्य और भय से उसी ओर देखते हैं)

दूसरा—सच तो, हमने भी असंख्य जीवों के प्राण लिए, यही करते जन्म बीता, पर ऐसा चमत्कार कभी नहीं देखा था। अब महाराज से चल कर क्या कहैंगे ?

तीसरा—छि—तुम सब निरे डरपोक हौ हम लोग रात दिन के नरकाग्नि में रहनेवाले लोग हमारा इस आग से क्य। होना है देखो हम अभी लाते हैं। (सत्यवान के पास तक जाता है और बड़े जोर से चिल्ला कर "अरे बाप रे मरे रे" कह कर अचेत हो गिरता है)

सब—(मारे डर के काँपते हुए) भाइयो जान बचाना हो तो जल्दी यहाँ से भागो। जो दशा देखते हैं वही वहाँ निवेदन कर देंगे।

एक दूत—जरा ठहरो एक बेर इनसे यह तो कहना चाहिये कि ये हट जायँ देखैं क्या कहती हैं तब वैसा चल कर कहैंगे।

दूसरा—तुम्हें अपनी जान भारी पड़ी हो तो कहो, हम तो न कहैंगे।

पहिला—(साहसपूर्वक दूर से हाथ जोड़कर) देवी ! तुम जरा सा हट जाओ तो हमारे प्रभु की जो आज्ञा है वह करके हम लोग शीघ्र ही प्रभु के पास जायँ। अब व्यर्थ दुःख करने का क्या फल।

सावित्री—(तीक्ष्ण दृष्टि से देख कर) खबरदार, एक पैर भी आगे मत रखना। जा कर अपने प्रभु से कह दो कि प्राण रहते हुए इस शरीर को न छूने दूँगी।

सब—(घबड़ा कर) अरे बाप रे जले रे (सब भागते हैं)

(नेपथ्य में गान)

(राग पीलू या जंगला)

"जग में प्रतिव्रत सम नहिं आन ।
नारि-हेतु कोउ धर्म न दूजो जग में यासु समान ॥
अनुसूया सीता सावित्री इनके चरित प्रमान ।
पतिदेवता तीय जग धन धन गावत वेद पुरान ॥
धन्य देस कुल जहँ निवसत हैं नारी सती सुजान ।
धन्य समय जब जन्म लेत ये धन्य ब्याह असथान ॥
सब समर्थ पतिव्रता नारी इन सम और न आन ।
याही तें स्वर्गहु में इनको करत सबै गुन गान ॥१॥"

(यमराज का हाथ में लौह दंड लिए प्रवेश)

यम—(आप ही आप) आहा ! देखो सतीत्व का कैसा तेज है मानो प्रलयाग्नि बल रही है । मुझे यह निष्ठुर कार्य करते इतने दिन हो गए पर ऐसा अपूर्व दृश्य कभी नहीं देखा । (प्रगट) देवी ! तुम क्यों वृथा हठ करती हो, जब दिन पूरे हो जाते हैं तो किसी की सामर्थ्य नहीं है जो जीव को बचावै । तुम ज़रा हट जाओ हम सत्यवान के प्राण-वायु को ले जायँ ।

सावित्री—(हाथ जोड़कर) महाराज ! ऐसी बात मत कहिए । इसके सुनने से हमारा कलेजा फटा जाता है । सत्यवान हमारा जीवन-सर्वस्व है, इसको छोड़ कर हम कहाँ हट सकती हैं !

यम—सावित्री ! तुम्हारे पवित्र सतीत्व में कुछ संदेह नहीं—पर पूर्व जन्म के पाप का फल भोगना ही पड़ता है । विधाता

के लेख को कौन मिटा सकता है ? अब व्यर्थ हठ मत करो हट जाओ।

सावित्री—धर्मराज ! यदि आपको ऐसा ही आग्रह है तो मुझे भी ले चलिए सत्यवान बिना मैं जी ही कर क्या करूँगी ?

यम—यह हमारी सामर्थ्य से बाहर है; अभी तुम्हारे दिन नहीं पूरे हुए हैं; अच्छा हमें अब बहुत देरी होती है।

सावित्री—हाय ! आपको मुझ अबला पर तनिक भी दया नहीं आती !

यम—सावित्री ! हम क्या करें, हमारी क्षमता के बाहर जो बात है वह हम कैसे कर सकते हैं ? सत्यवान के सिवाय तुम और जो कुछ चाहो हम देने को प्रस्तुत हैं।

सावित्री—महाराज ! मेरे बूढ़े सास ससुर की आँखें जाती रही हैं सो आप कृपा करके दें।

यम—एवमस्तु। अच्छा ले अब हट जाओ। (सावित्री हट जाती है और यमराज सत्यवान के प्राणवायु को लेकर जाते हैं और पीछे पीछे सावित्री भी जाती है)

(नेपथ्य में गान)

"तुझ पर काल अचानक टूटैगा।
गाफिल मत हो लखा बाज ज्यों हँसी खेल में लूटैगा॥
कब आवैगा, कौन राह से प्रान कौन बिधि छूटैगा।
यह नहिं जानि परैगी बीचहि यह तन दरपन फूटैगा॥
तब न बचावैगा कोई जब काल दंड सिर कूटैगा।
'हरीचंद' एक वही बचैगा जो हरिपद रस घूटैगा॥"

(वह पर्दा हट जाता है, दूसरा दृश्य घोर अरण्य अंधकार मय दिखाई पड़ता है। आगे आगे यमराज पीछे पीछे रोती हुई सावित्री का प्रवेश)

यम—(फिर कर सावित्री को देखकर) देवि ! तुम क्यों हमारे साथ आती हो ? जाओ अपने घर । होना था सो तो हो चुका ।

सावित्री—सूने घर में जाकर क्या करें ? जहाँ सत्यवान वहीं सावित्री ।

यम—तुम्हारे सतीत्व से हम अत्यंत संतुष्ट हुए । सत्यवान के प्राण व्यतीत और जो इच्छा हो सो माँगो ।

सावित्री—महाराज ! जो आप प्रसन्न हैं तो हमारे ससुर का राज्य जो शत्रुओं ने छीन लिया है सो फेर मिलै ।

यम—तथास्तु । अच्छा अब तुम फिर जाओ ।

(यमराज आगे बढ़ते हैं, सावित्री पीछे पीछे चलती है । वह पर्दा उठ जाता है दूसरा दृश्य भयानक वन महा अंधकार)

यम—(पीछे देख कर) एं ! तुम अभी भी नहीं गई ! क्यों व्यर्थ का प्रयास करती हो—जाओ—अब सत्यवान का मिलना असम्भव ही समझो ।

सावित्री धर्मराज ! एक बात और भी प्रार्थनीय है ।

यम—सत्यवान के सिवाय और जो कुछ चाहो मिल सकता है ।

सावित्री—महाराज ! मेरे श्वसुर कुल में वंश चलानेवाला कोई नहीं है इससे मुझे यह वर दीजिये कि सत्यवान से मुझे एक सौ लड़के हों ।

यम तथास्तु ।

(यमराज आगे बढ़ते हैं, सावित्री उनका अनुसरण करती है । वह पर्दा उठ जाता है । दूसरा दृश्य स्वर्ग का द्वार महा उज्ज्वल तीन अप्सरा हाथ में माला लिये खड़ी हैं)

अप्सरागण—आओ सावित्री के जीवन।

बहुत दिनन की आसा पूजी अधर-सुधा रस पीवन॥
तुव हित प्रेम-मालिका गूथी पहिरावैं निज हाथ।
निर्भय ह्वै नंदन बन बिहरैं पलहूँ तजै न साथ॥ १॥

यम—(पीछे सावित्री को देखकर) क्या तुम अभी तक हमारे साथ हो हो ?

सावित्री—महाराज ! क्या अपने दिये हुए वर को अभी भूल गये ? सत्यवान का प्राण-वायु मुझे दीजिये।

यम—धन्य देवी धन्य ! मैं तुमसे हारा। यद्यपि विधाता के नियम के विरुद्ध है तथापि मैं तुम्हें सत्यवान का जीवनदान करता हूँ। (सत्यवान का प्राणदान) आज से मैंने जाना सती नारी को सब कुछ करने की सामर्थ्य है; संसार में सती का अकर्तव्य कोई काम नहीं है। सावित्री ! तुम्हारी यह विमल यशध्वजा अनंत काल तक संसार में उड़ती रहैगी, तुम्हारा पवित्र गुण-गान संसार को पावन करता रहैगा और तुम्हारा पूजनीय नाम पतिव्रता स्त्रियों का सर्वस्व होगा। अहा ! इस अलौकिक सतीत्व के आगे मुझे भी पराजित होना पड़ा। सतीत्व की जय—सावित्री की जय। (यही शब्द चारों ओर से प्रतिध्वनित होता है और आकाश से पुष्प-वृष्टि होती है। तीनों अप्सरा सावित्री को बीच में कर के नाचती और गाती हैं।

गाओ सब मिलि प्रेम बधाई।
पतिप्राना नारी के आगे काहू की न बसाई॥
पतिहि जिवाया निज सतीत्व बल कालहु दियो हराई।
इनके यश की सुभग पताका तीन लोक फहराई॥

थाप्यो थिर करि प्रेम पंथ जग निज आदर्श दिखाई।
देव-वधूगन आनन्दित ह्वै प्रेम वधाई गाई ॥ १ ॥

(सावित्री वहाँ से चलती है और एक एक कर के वही दृश्य दिखलाई पड़ते हैं जो सावित्री को यमराज के साथ दिखलाई पड़े थे। अंत में वन का वह दृश्य दिखलाई पड़ता है जिसमें सत्यवान का मृत शरीर पड़ा है। सावित्री उसमें प्राण संस्थापन करती है और सत्यवान उठता है जैसे कोई सोता हुआ जागे)

सत्यवान—(अँगड़ाई लेकर) उफ! कैसा भयानक दुःस्वप्न मैंने देखा है। मानो कोई महा विकराल मूर्ति धारण किये महाकाल मेरे प्राण को लेकर चला है। रास्ते में कैसे कैसे घोर वन और भयानक नर्ककुंड मिले हैं, जिसके स्मरण होने ही से रोमांच हो जाता है। फिर मानो वह महाकाल स्वर्ग के द्वार पर मुझे ले गया है, वहाँ मुझे वरण करने के लिये तीन अप्सरा खड़ी हैं, इतने में मानो किसी स्वर्गीय देवी ने मेरा प्राणदान महाकाल से ले लिया है, और वह देवी मानो हूबहू तुम्हीं हो। उफ! कलेजा काँपता है, हे जगदीश रक्षा करो।

सावित्री—नाथ! डरिये मत, अब कुछ चिंता नहीं यह सब सत्य था, स्वप्न न था पर अब कुछ डर नहीं।

सत्यवान—एं! क्या यह सब सच था! क्या मुझे महाकाल के पास से तुम्हीं छुड़ा लाईं? धन्य देवी धन्य! (घबड़ाहट का नाट्य करता है) अह! बेतरह सिर घूमता है। कुछ समझ नहीं पड़ता, जागता हूँ या सोया।

(नारद मुनि बीन बजाते गाते आते हैं)

"बोलो कृष्ण कृष्ण राम राम परम मधुर नाम
गोविंद गोविंद केशव केशव, गोपाल गोपाल ॥
माधव माधव, हरि हरि हरि बंशीधर बंशीधर श्याम ।
नारायण वासुदेव नंदनंदन जगबंदन वृंदावन चारुचंद गरे गुंजदाम॥
'हरिचंद' जनरंजन सरन सुखद मधुर मूर्ति राधापति पूर्ण करन सतत भक्त काम ॥ १ ॥"

(सयत्वान, सावित्री प्रणाम करते हैं)

नारद—मंगलमय भगवान श्रीकृष्णचंद्र सदा तुम लोगों का मंगल करैं। (सावित्री से) सावित्री ! आज तूने सतीकुल का मुख उज्ज्वल किया, आज तुमने सतीत्व की ध्वजा फहराई, जो अनंत काल तक उड्डीयमान रहेगी। तुम्हारा यश देवांगनागण गाकर अपने को धन्य मानैंगी और तुम्हारी पुण्यकथा संसार को पवित्र करैगी।

(लवंगी, मधुकरी और सुरबाला का प्रवेश)

सखीत्रय—वाह, सखी वाह ! तुममें इतने गुण भरे हैं यह हम लोगों को तनिक भी विदित न था। धन्य तुम्हारा सतीत्व।

नारद—(सत्यवान से) पुत्र ! तुम्हारा धन्य भाग्य है जो तुमने ऐसी सती स्त्री पाई। (सावित्री का हाथ सत्यवान के हाथ में देते हैं) लो आज फिर मैं तुम्हें इस अमूल्य रत्न को सौंपता हूँ, इसे यत्न से रखना।

(तीनों सखी और अप्सरागण सावित्री-सत्यवान को बीच में करके नाचती और गाती हैं। रंगशाला में खूब प्रकाश हो जाता है)

जय जय सावित्री महरानी।
सती-सिरोमनि रूपरासि करुनामय सब गुनखानी ॥

प्रेममयी निज पति के पद में छाया सी लपटानी।
इनके जस की सुभग पताका तीन लोक फहरानी॥
अचल प्रताप सतीत्व धरम को थाप्यो जग सुखदानी।
सतीमंडली भूषण ह्वैहै इनकी प्रेम कहानी॥१॥
(आकाश से पुष्पवृष्टि होती है और जवनिका गिरती है)

—:o:—

पात्र-सूची

अर्थात्

नाटकावली के इस भाग में संगृहीत ग्रंथों में आए हुए पात्रों की नामावली

अंधकार—(भा० दु०)
अर्जुन—पांडव—(ध० वि०)
अबदुश्शरीफ खाँ—सूर सिपहसालार—(नी० दे०)
अबदुस्समद—मुसाहिब—(नी० दे०)
आलस्य—(भा० दु०)
इंद्र—देवराज—(ध० वि०, स० ह०)
उंदुर—चर— मु० रा०)
उत्तर—विराट की कन्या—(ध० वि०)
कल्लू—बनिया—(अं० न०)
काम मंजरी—सखी—(चं०)
कामिनी—सखी—(चं०)
कालपाशिक—सेवक— मु० रा०)
कृपाचार्य—पांडवों के गुरु—(ध० वि०)
कौंडिन्य—उपाध्याय का शिष्य—(स० ह०)
क्षपणक—जीवसिद्धि नामक गुप्तचर—(मु० रा०)
गप्प पंडित—(प्रे० यो०)
गोपालशास्त्री—(प्रे० यो०)
गोबरधनदास—चेला—(अं० न०)
चंडिका—गायिका के छद्म वेष में नील देवी—(नी० दे०)
चंदनदास—जौहरी—(मु० रा०)

चंद्रकान्ता—सखी—(चं०)
चंद्रगुप्त—कुसुमपुर का राजा—(मु० रा०)
चंद्रावली—नायिका—(चं०)
चंपकलता—सखी—(चं०)
चबूभट्ट—(प्रे० यो०)
चपरगट्टू खां—(नी० दे०)
चाणक्य—चंद्रगुप्त का मन्त्री—(मु० रा०)
चित्रवर्मा—कुलूत देश का राजा—(मु० रा०)
छक्कूजी—महाजन—(प्रे० यो०)
जाजलक—कंचुकी—(मु० रा०)
जिष्णुदास—महाजन—(मु० रा०)
जीर्णविष— मदारी, विराधगुप्त नामक गुप्तचर—(मु० रा०)
जीवसिद्धि—गुप्तचर—(मु० रा०)
झूरीसिंह—गुंडा—(प्रे० यो०)
टेकचंद—महाजन—(प्रे० यो०)
डिसलायलटी—(भा० दु०)
दंडपाशिक—चंद्रगुप्त का नौकर—(मु० रा०)
दीर्घचक्षु—रक्षाधिकारी—(मु० रा०)
दुर्योधन—कौरव—(ध० वि०)
देवीसिंह—सिपाही—(नी० दे०)
द्युमत्सेन—सत्यवान का पिता—(स० प्र०)
धनदास—वैष्णव—(प्रे० यो०)
धर्म—चांडालवेषधारी—(स० ह०)
धर्मराज—युधिष्ठिर—(ध० वि०)
नारद—ऋषि—(स० ह०, चं०, स० प्र०)
नारायण—त्रैलोक्य के स्वामी—(स० ह०)

नारायणदास—चेला—(अं० न०)
निपुणक—भेदिया—(मु० रा०)
नीलदेवी—सूर्यदेव की रानी—(नी० दे०)
पर्वतक—मलयकेतु का पिता—(मु० रा०)
पार्वती—महादेव की पत्नी—(स० ह०)
प्रियंवदक—सेवक—(मु० रा०)
पीकदान अली—(नी० दे०)
पुरुषदत्त—सेवक—(मु० रा०)
पुष्करनयन, पुष्कराक्ष—काश्मीर का राजा—(मु० रा०)
प्रवीरक—(मु० रा०)
बालमुकुंद—वैष्णव—(प्रे० यो०)
बुभुक्षित, दीक्षित—(प्रे० यो०)
भद्रभट—सेवक—(मु० रा०)
भागुरायण—चाणक्य का भेदिया—(मु० रा०)
भामा—सखी—(चं०)
भारत दुर्दैव—(भा० दु०)
भारतभाग्य—(भा० दु०)
भासुरक—सेवक— मु० रा०)
भैरव—महादेव के गण—(स० ह०)
मथुरादास—(प्रे० यो०)
मदिरा—(भा० दु०)
मधुकरी—सखी—(स० प्र०)
मलजी—वैष्णव—(० यो०)
मलयकेतु—पर्वतेश्वर का पुत्र—(मु० रा०)
महादेव—देवता—(स० ह०)
माखनदास—(प्रे० यो०)

माधव शास्त्री—(प्रे० यो०)
माधवी—सखी—(चं०)
माधुरी—सखी—(चं०)
मेघाक्ष—पारस का राजा—(मु० रा०)
यमराज—देवता—(स० ह०)
राक्षस—नंदवंश का मंत्री—(मु० रा०)
राजसेन—सेवक—(मु० रा०)
रामचंद्र—रईस—(प्रे० यो०)
रामभट्ट—(प्रे० यो०)
रोग—(भा० दु०)
रोहिताश्व—राजा हरिश्चंद्र का पुत्र—(स० ह०)
ललिता—सखी—(चं०)
लवंगी—सखी—(चं०)
वनदेवी—सखी—(चं०)
वनितादास—वैष्णव—(प्रे० यो०)
वर्षा—सखी—(चं०)
वल्लभा—सखी—(चं०)
वसंत—सूर्यदेव का पागल बना नौकर—(नी० दे०)
विजयपाल—किलेदार—(मु० रा०)
विजयवर्मा—सेवक—(मु० रा०)
विद्याधर—(ध० वि०)
विराट—मत्स्य देश का राजा—(ध० वि०)
विराधगुप्त—गुप्तचर—(मु० रा०)
विलासिनी—सखी—(चं०)
विशाखा—सखी—(चं०)
विष्णुगुप्त—चाणक्य का एक नाम—(मु० रा०)

विष्णुशर्मा—राजपंडित—(नी० दे०)
विश्वामित्र—ऋषि—(स० ह०)
वैहीनर—सेवक—(मु० रा०)
शकटदास—राक्षस का मित्र—(मु० रा०)
शारंगरव—चाणक्य का शिष्य—(मु० रा०)
शिखरसेन—मलयकेतु का सेनापति—(मु० रा०)
शुकदेव—मुनि—(चं०)
शैव्या—अयोध्या की रानी—(स० ह०)
शोणोत्तरा—परिचारिका—(मु० रा०)
श्यामला—सखी—(चं०)
संध्या—सखी—(चं०)
सत्यवान—द्युमत्सेन का पुत्र—(स० प्र०)
सत्यानाश—फौजदार—(भा० दु०)
सावित्री—राजा अश्वपति की कन्या—(स० प्र०)
सिंधुसेन—सिंध का राजा—(मु० रा०)
सिंहनाद—मलयदेश का राजा—(मु० रा०)
सिद्धार्थक—चाणक्य का गुप्तचर—(मु० रा०)
सुधारक—पंडित—(प्रे० यो०)
सुरबाला—सखी—(स० प्र०)
सूरजदेव—पंजाब का राजा—(नी० दे०)
सोमदेव—सूरजदेव का पुत्र—(नी० दे०)
स्तनकलश—वैतालिक—(मु० रा०)
हरजनवां—धर्म के साथी 'सत्य' का दूसरा नाम—(स० ह०)
हरिश्चन्द्र—अयोध्या का राजा—(स० ह०)
हिंगुराज—सेवक—(मु० रा०)

इस भाग में आए हुए संस्कृत आदि अंशों के अर्थ

पृ० ५—विष्णु भगवान के लीला-वराह का वह दाँत-रूपी दंड तुम लोगों की रक्षा करे, जिस पर सुमेरु पर्वत रूपी कलश-युक्त पृथ्वी छाते की तरह शोभायमान है।

पृ० ५०—तुम्हारा शुभ हो, भला हो, दीर्घायु हो, गाय-घोड़ा-हाथी-धन-अन्न की वृद्धि हो, संपत्ति बढ़े, मंगल हो, शत्रु का नाश हो और संतान की बढ़ती के साथ कृष्ण-भक्ति बनी रहे।

पृ० ५१—ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवगण तुम्हारा अभिषिचन करें अर्थात् सुरक्षित रखें। गंधर्व, किन्नर तथा नागगण तुम्हारी सर्वदा रक्षा करें। पितरगण, गुह्यक (कुबेर के कोष के रक्षक), यक्ष (कुबेर के सिपाही), देवियाँ, भूतगण, सातों, माताएँ अर्थात् शक्तियाँ सभी तुम्हारा मार्जन करें तथा तुम्हारी सर्वदा रक्षा करें। शुभ हो और कुशल हो। महालक्ष्मी तुम पर प्रसन्न हों। हे सती, तुम पति-पुत्र के साथ सौ वर्ष तक जीवित रहो।

(जिस प्रकार जल फेंका गया है उसी प्रकार) तुम्हारा जो पाप हो और अमंगल हो वह दूर चला जाय।

जो कुछ मंगल, शुभ, सौभाग्य, धन-धान्य, स्वस्थता तथा संतान-वृद्धि है वह सब भगवान की कृपा तथा ब्राह्मण के आशीर्वाद से तुम्हारा हो।

पृ० ५५—अपनी जाति आप ग्रहण करने वाले, प्रसिद्ध क्रोधी ब्राह्मण, वशिष्ठ के दर्पवान पुत्र-रूपी जंगल के लिए अग्नि रूप, दूसरी सृष्टि बनाने से भयभीत संसार के लिए यम समान और चांडाल त्रिशंकु के पुरोहित मुझ कौशिक को नहीं पहिचानता।

पृ० ५६—अकालादि समय में निकृष्ट वृत्ति धारण करने वाले, राजाओं का दान न लेने वाले, आड़ी (वशिष्ठ) तथा बक (विश्वामित्र) के युद्ध से संसार को कंपित करने वाले और तेज तथा तप के कोष आप को कौन नहीं जानता ?

पृ० ६०—जिसकी कहीं भी गति नहीं है उसकी काशी में गति हो जाती है।

पृ० ६ —जिनका भोजन, वस्त्र और निवास ठीक ठीक नहीं है उनको काशी भी मगध है और गंगा भी तपाने वाली है।

पृ० ७३—हे ब्राह्मण, तुम्हारे इस तप, व्रत, ज्ञान और पठन-पाठन को धिक्कार है कि तुमने हरिश्चंद्र को इस दशा में ला डाला।

पृ० ७६—तपस्वी लोग तो आप ही दास होते हैं।

पृ० १०३—धैर्य, सत्य, दान तथा शक्ति सभी अलौकिक हैं। हे राजा हरिश्चंद्र तुमसे सब से बढ़कर कार्य हुआ है।

पृ० १४२—ब्राह्मण के वाक्य में भगवान हैं। ब्राह्मण मेरे देवता हैं।

पृ० १४३—शाप किए हुए ब्राह्मण का भी कोई तिरस्कार न करे इत्यादि। जिसी किसी उपाय से किसी भी देहधारी को विद्वान संतुष्ट कर दें तो वही भगवान की पूजा है।

जिसको कहीं गति न हो उसकी गति काशी में होती है।

विधवा का बाल काटना प्राण-कष्ट के समान होता है।

यदि मनुष्यों को संतोषदायक हो तो केश-युक्त ही रहने दे।

पृ० ३६२—महाबली वाराह-शरीरधारी स्वयम् विष्णु, जिनके दंष्ट्राग्र पर प्रलय में निमग्ना पृथ्वी ठहरी हुई थी, और इस समय वह म्लेच्छों द्वारा उत्पीड़ित होकर जिस राजमूर्ति के दोनों दृढ़ भुजा पर आश्रित है वह वैभवशाली, बड़े भाई के अनुयायी, राजा चंद्रगुप्त बहुत दिनों तक पृथ्वी की रक्षा करें।

पृ० ३६७—(फारसी)-अमीरी हृदय में है, धन में नहीं है।

पृ० ४१६—हे मूढ़, क्षण भर के लिये जब तक मैं मधु पीती हूँ, गर्ज ले। मुझसे तेरे मारे जाने पर जल्दी देवगण गर्जेंगे।

इन्द्र त्रैलोक्य पावें, देवगण यज्ञ की हवि खाने वाले हों और यदि तुम लोग जीना चाहते हो तो पाताल जाओ।

इस प्रकार जब जब दानवों द्वारा उठाई बाधा पैदा होती है तब तब मैं अवतार लेकर शत्रु का नाश करती हूँ।

यह पूरा श्लोक इस प्रकार है :—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियाः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत् का ते स्तुतिः स्तव्यपरापरोक्तिः॥

हे देवि सभी विद्याएँ तथा संसार में कलायुक्त सभी स्त्रियाँ तुम्हारी ही भेद हैं, तुम्हीं एक माता से यह जगत् पूर्ण है तब स्तुति योग्य परा, पश्यन्ति मध्यमा आदि उक्तियों से तुम्हारी स्तुति क्या हो सकती है।

[दुर्गापाठ]

अंग्रेजी—

'जो चुंबन उसने दिया था वही प्रथम और अंतिम था, वह कटार का चुंबन था, जो उसके हृदय तक तथा उसके पार घुसेड़ दिया गया था। उसके पैरों के नीचे नीव्र रक्त में भरकर वह

लोटने लगा। उसके छाती में कटार, जहाँ स्थित था, वहीं काँपता था और उसके कब्जे की ओर उसकी अँगुलियाँ व्यर्थ ही तथा वेग से बढ़ती थीं, पर उसके बाद निर्जीव हो अकड़ गईं। 'मर' प घातक मर।' उसने शरीफ की तलवार उसके जड़ाऊ म्यान से खींच लिया और मुसलमान सर्दार के गले पर निरर्थक हो चलाया। तारों के प्रकाश के नीचे यह मृतक-दृश्य! देवी काली के समान वह सिर लिए हुए आती है। वह वहाँ आती है, जहाँ उसके भाई लोग मारे गए सर्दार के शव की रक्षा करते हैं। सारा पड़ाव शांत है पर रात्रि भी बहुत कम है। उसी सर्दार के पैरों तले वह उसको फेंक देती है, उस नीच बोझ को फेंक देती है (और कहती है) 'सूरज, मैंने अपना वचन पूरा किया, भाइओ, चिता तैयार करो।'

———

प्रेम-योगिनी के

चौथा गर्भांक के मराठी अंश का हिंदी रूपांतर

महाश—क्या हो बुभुक्षित दीक्षित हैं ?

बुभुक्षित—कौन है ! वाह महाश, क्या तू है ? क्यों बाबा आज कितने ब्राह्मणों को हमारे द्वारा निमंत्रण दोगे। मालिक ने कितने ब्राह्मण कहे हैं ? क्यों रे ठोकया के यहाँ कहाँ के यजमान का सहस्र भोजन चल रहा है !

महाश—दीक्षित जी, आज ब्राह्मणों में ऐसी मार-पीट हुई कि नहीं कह सकता। वह बड़ा पचड़ा है।

बुभु०—क्या सचमुच मार-पीट हुई ! अच्छा, आओ चलो बैठक में। पर यह तो बतलाओ कि आखिर हमारे ब्राह्मणों की क्या व्यवस्था होगी ! तू ब्राह्मणों को लाया या नहीं ? या यों ही हाथ झुलाता चला आया।

महाश०—दीक्षित जी थोड़ा सा जल दीजिए, बड़ी प्यास लगी है।

बुभु०—अच्छा भाई थोड़ा ठहरो इतनी धूप में आए हो। बूटी ही बन रही है। थोड़ी बूटी ही पी लो। अच्छा यह बतलाओ कि कौन कौन से और कितने ब्राह्मण मिले ?

महाश—(हिन्दी)

बू भट्ट—........२५ ब्राह्मण ?

महाश—हाँ गुरु, २५ ब्राह्मण तो केवल सहस्र भोजन के हैं। और आज जो बसंत पूजा होगी, उसके लिए अलग, और जो

सभा होगी, उनके लिए भी मैंने तार लगाया है, लेकिन...।

गोपाल, माधव शास्त्री—क्यों महाश लेकिन क्या ? सभा का काम किसके हाथ में है ? और सभा कब होने वाली है ?

महाश—पर यही है कि यह यजमान पाप नगर में रहता है। इसे एक कन्या है, वह विधवा है पर उसके सिर पर केश हैं। तीर्थ स्थान में आकर क्षौर करना आवश्यक है पर क्षौर करने से कन्या की शोभा चली जायगी इसलिए जो कोई ऐसी शास्त्रोक्त व्यवस्था दे तो उसका एक हजार रुपये की सभा करने का विचार है और यह काम धन-तुंदिल शास्त्री के हाथ में पड़ गया है।

गप्प पं०—उँ (हिन्दी)

माधव शास्त्री—(हिन्दी)

गोपाल०—ठीक ही है, और यदि किसी दुर्घट काम के कारण हम लोक-दृष्टि में निंद्य भी हों तब भी हम वंद्य हैं, क्योंकि श्रीमद्भागवत ही में लिखा है कि 'पाप किए हुए ब्राह्मण को भी कोई हानि न पहुँचावे इत्यादि'......।

गप्प पं०—(हिन्दी)

बुभु०—(हिन्दी)

चंबू भट्ट—(हिन्दी)

महाश—दीक्षित जी, बूटी तैयार हुई—अब जल्दी छने क्योंकि यह जीव बहुत प्यासा हो गया है और अभी बहुत से ब्राह्मणों के यहाँ कहने जाना है।

बुभु०—जरा छानो तो।

माधव शास्त्री—दीक्षित जी, यह मेरा काम नहीं, कारण मैं केवल अपने पीने का मालिक हूँ, मुझे छानना नहीं आता। (हिन्दी)

गोपाल०--अच्छा दीक्षित जी, मैं ही आता हूँ।

चंबू भट्ट—महाश आखिर हमारे दल के सहस्त्र भोजन में कितने ब्राह्मण और वसंत पूजा में कितने ब्राह्मण रहेंगे?

महाश—आज दीक्षित के दल के कुल २५ ब्राह्मण हैं। उनमें से १५ सहस्त्र भोजन में और १० बसंत पूजा में रहेंगे।

माधव शास्त्री—और सभा के?

महाश—सभा के बारे में तो मैंने कह ही दिया कि धनतुंदिल शास्त्री के अधिकार में है और दो तीन दिन में वे उसका भी बंदोबस्त करेंगे।

गप्प पं—(यहाँ से पृष्ठ १६७ में गप्प पंडित तक हिन्दी है)

चंबू भट्ट—हाँ हाँ दीक्षित जी वहीं खतम करिए मैं आज कल नहीं पीता।

गोपाल, माधव—क्यों भट्ट जी, बस रहने दो, ये नखरे कहाँ सीखे? इसे पीओ, व्यर्थ यह ठंढी होती है।

चंबू भट्ट—नहीं भाई मैं सत्य कहता हूँ, मुझको बरदाश्त नहीं होती। तुम लोगों को तो यह नखरा जान पड़ता है पर ये सब प्रायः काशी के ही हैं और आप लोगों के समान परम प्रियतम सफेद करकराता डुपट्टा ओढ़ने वाली अनाथ बाला ने ही सिखलाए होंगे।

महाश—क्यों गुरु दीक्षित जी अब पान जमना चाहिए।

बुभु०—हाँ भाई, वह बँटा है ले आओ और लगाओ तब एक दो चार।

महाश—दीक्षित जी, ठोकया के कमरे में १५ ब्राह्मण भेजिए। दस बजे पत्तल परोसी जायगी और आज रात को बसन्त पूजा में १० ब्राह्मण जल्दी भेज देना, क्योंकि उसके बाद दूसरे दल के ब्राह्मण आवेंगे।

बुभु०—(हिन्दी)

माधव०—(हिन्दी)

गोपाल—(हिन्दी)

बुभु०—भाई बहुरी ओर यदि मैं जाऊँ तो यहाँ का प्रबंध कौन करेगा।

गोपाल—एँ, गुरु केवल १५ ब्राह्मणों के लिए घबड़ाते हो। सर्वभक्त को सहेज दो ब्राह्मणों को भेज देगा। (हिन्दी)

गप्प पं०—(यहाँ से पृ० १७० गोपाल० के कथन तक हिंदी है)

बुभु०—अरे पहिले नए शौकीन के यहाँ चलूँ, वहाँ क्या है यह देख लूँ तब रामचंद की ओर झुकूँ।

माधव शास्त्री—अच्छा वैसा ही हो, आजकल न्यू फांड शास्त्री ने बहुत उदारता धारण की है और बहुत सी चिड़िया भी पाली हैं। वह सब भी देखने में आवेंगी। पर भाई मैं अन्दर नहीं जाऊँगा। क्योंकि मुझे देखकर उन्हें बहुत कष्ट होता है।

गोपाल—अच्छा वहाँ तक तो चलो, आगे देखा जायगा।

सूर-साहित्य की भूमिका

लेखक

रामरतन भटनागर एम० ए०

वाचस्पति त्रिपाठी एम० ए०

इस पुस्तक में सूर-साहित्य सम्बन्धी सम्पूर्ण परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। सूर-साहित्य के कुछ अंगों पर तो पहली बार प्रकाश डाला गया है। अनेक स्थलों पर उसके संबंध में ऐसे सिद्धान्त उपस्थित किये गये हैं जो कम से कम उस रूप में अब तक पाठकों के सामने नहीं आये हैं। सूर-साहित्य पर अब तक के सभी विद्वान् लेखकों और साहित्यकारों द्वारा उपस्थित मतों का निचोड़ प्रस्तुत पुस्तक में भरा हुआ है।

साहित्यिक आलोचना के अतिरिक्त महात्मा सूरदास की जीवनी, उनका दार्शनिक सिद्धान्त, उनका चरित्र, उनकी ईश्वर-भक्ति आदि विषयों पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। यानी महात्मा सूर और उनकी साहित्य सम्बन्धी सभी महत्वपूर्ण विषयों से पुस्तक परिपूर्ण है।

साहित्यानुरागियों और विद्यार्थियों के लिये यह अनिवार्य और संग्रहणीय है। मूल्य २)

मिलने का पता—

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

प्रयाग

लेखनकला

लेखक

पं० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री

मूल्य १॥)

लेखनी बहुत से लोग उठाते हैं, पर लेखक कम ही होते हैं। लेखक होने के लिए किन-किन बातों की जानकारी होनी चाहिये, इन्हीं बातों का विवेचन विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक में की है। इस पुस्तक की उपयोगिता पर कतिपय विद्वानों के विचार पढ़िये—

अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्राण और यू० पी० लेजिस्लेटिव असेम्बली के अध्यक्ष, माननीय बा० श्री पुरुषोत्तमदास टंडन—

"जेल में आपकी भेजी हुई पुस्तक 'लेखनकला' मिली थी। उसे मैंने और मेरे साथी श्री सम्पूर्णानन्द जी ने पढ़ा था। पुस्तक मुझे अच्छी और उपयोगी लगी।"

यू० पी० सरकारके शिक्षा-सचिव विद्वद्वर बा० श्री सम्पूर्णानंद जी—

"मैंने श्री किशोरीदास वाजपेयी की 'लेखनकला' को जेल में देखा था पुस्तक नौनिहालों (नये साहित्यकारों) के लिए लिखी गई है। मैं वैसा 'नौनिहाल' नहीं हूँ और लिखने पढ़ने का काम भी बहुत दिनों से करता आता हूँ। इसलिये वाजपेयी जी की दृष्टि से इस पुस्तक का पढ़ना मेरे लिये जरूरी नहीं। परन्तु मैं इतना कह सकता हूँ कि मुझे इस पुस्तक को पढ़कर बहुत लाभ हुआ है।

एक स्थल पर लेखक ने मेरी एक भूल भी सुझायी है। मेरा विश्वास है कि जो लोग हिन्दी लिखने की इच्छा रखते हैं, उनके लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। इसमें लिखी बातों पर ध्यान देकर वे अपनी रचनाओं को बहुत सी भद्दी भूलों से बचा सकेंगे।"

आगमन शास्त्र

(INDUCTIVE LOGIC)

ले०—श्री० डा० रामशङ्कर शुक्ल, एम० ए० डी० लिट्०

अपने विषय में यह पुस्तक अभी बिलकुल नई ही सी है। इस विषय पर अभी पुस्तकें दो ही एक लिखी गई हैं। इसका प्राक्कथन प्रयाग-विश्वविद्यालय के दर्शन शास्त्र-विभाग के अध्यक्ष श्री० प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी ने लिखा है और इसकी प्रशंसा करते हुए इसे इंटर श्रेणी के विद्यार्थियों तथा अन्य जिज्ञासुओं के लिये बहुत ही उपयुक्त और उपयोगी कहा है।

इससे इस पुस्तक की महत्ता स्पष्टतया सिद्ध हो जाती है। इसके लेखक इस विषय के प्रोफेसर रह चुके हैं और हिन्दी के वे विद्वान् लेखक प्रसिद्ध ही हैं।

पुस्तक में इंटर परीक्षा के पाठ्य-क्रम का भी पूरा ध्यान रक्खा गया है। भाषा स्पष्ट, सरल और सुबोध है, पारिभाषिक शब्दों के लिये कोष्ठकों में अंग्रेजी के भी शब्द सुविधा के विचार से दे दिये गये हैं।

मूल्य २)

मिलने का पता :—

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद